संस्कृत शिक्षण विधि

लेखक
विजय नारायण चौबे

हिंदी ग्रंथ अकादमी प्रभाग
उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान
लखनऊ

संस्कृत-शिक्षण-विधि

हि० ग्र० अ० प्रभाग ग्रन्थांक—271

संस्कृत-शिक्षण-विधि

लेखक

विजय नारायण चौबे

एम० ए०, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति,
तथा संस्कृत, एम० एड०
प्रधानाचार्य
राजकीय इण्टर कालेज,
जक्खिनी, वाराणसी

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
(हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन हिन्दी भवन
महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ-226001

प्रकाशक
हरि माधव शरण
निदेशक,
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ योजना के अन्तर्गत हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग, उ० प्र० हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित ।

© उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

प्रथम संस्करण : 1985
प्रतियाँ : 1100

मूल्य : रु० 24.50

मुद्रक
पर्वतीय मुद्रणालय
18, राय रामचरन दास रोड,
इलाहाबाद–211002

प्रकाशकीय

शिक्षा आयोग (1964-66) की संस्तुतियों के आधार पर भारत सरकार ने 1968 में शिक्षा सम्बन्धी अपनी राष्ट्रीय नीति घोषित की और 18 जनवरी, 1968 को संसद के दोनों सदनों द्वारा इस सम्बन्ध में एक संकल्प पारित किया गया। उक्त संकल्प के अनुपालन में भारत सरकार के शिक्षा एवं युवक सेवा मंत्रालय ने भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षण की व्यवस्था करने के लिए विश्वविद्यालय-स्तरीय पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण का एक व्यवस्थित कार्यक्रम निश्चित किया। उस कार्यक्रम के अन्तर्गत भारत सरकार की शत-प्रतिशत सहायता से प्रत्येक राज्य में एक ग्रन्थ अकादमी की स्थापना की गयी। इस राज्य में भी विश्वविद्यालय-स्तर की प्रामाणिक पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने के लिए हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की स्थापना 7 जनवरी, 1970 को की गयी।

प्रामाणिक ग्रन्थ निर्माण की योजना के अन्तर्गत ग्रन्थ अकादमी विश्व-विद्यालय स्तरीय विदेशी भाषाओं की पाठ्य-पुस्तकों को हिन्दी में अनूदित करा रही है और अनेक विषयों की मौलिक पुस्तकों की भी रचना करा रही है। प्रकाश्य ग्रन्थों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जा रहा है।

उपर्युक्त योजना के अन्तर्गत वे पाण्डुलिपियाँ भी अकादमी द्वारा मुद्रित करायी जा रही हैं, जो भारत सरकार की मानक ग्रन्थ योजना के अन्तर्गत इस राज्य में स्थापित विभिन्न अधिकरणों द्वारा तैयार की गयी थीं।

प्रस्तुत पुस्तक इसी योजना के अन्तर्गत मुद्रित एवं प्रकाशित करायी गयी है। इसके लेखक **विजय नारायण चौबे** हैं। इस बहुमूल्य सहयोग के लिए उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान उनके प्रति आभारी है।

इस पुस्तक के लिखने में जिस सावधानी, जागरूकता तथा संस्कृत शिक्षा एवं प्रसार के प्रति निष्ठा का परिचय दिया गया है, वह प्रशंसनीय है। विद्वान

लेखक ने प्रारम्भ में संस्कृत भाषा तथा उसके शिक्षण का महत्त्व बतलाते हुए, विभिन्न शिक्षण पद्धतियों का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही ध्वनि विज्ञान, शुद्धोचारण-शिक्षण, लिखित तथा मौखिक रचना के विभिन्न स्वरूपों के वैज्ञानिक आकलन द्वारा प्रथम बार संस्कृत के अध्ययन को क्रमबद्ध और उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। गद्य शिक्षण में कथा और नाट्य के स्वरूपों के विवेचन के साथ-साथ काव्य शिक्षण और सर्जक प्रतिभाओं के प्रोत्साहन का भी समुचित समावेश कर प्रबुद्ध विद्वान ने संस्कृत को लोकप्रिय बनाने का जो साधु प्रयत्न किया है, उसके लिए वह समस्त संस्कृत प्रेमियों के बधाई का पात्र है। आशा है, अध्ययन और अध्यवसाय के आधार पर विरचित यह ग्रन्थ संस्कृत प्रशिक्षण का पथ प्रशस्त करने के साथ-साथ नयी पीढ़ी में नई चेतना का भी संचरण कर सकेगा।

शिव मंगल सिंह 'सुमन'

उपाध्यक्ष

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

भूमिका

किसी राष्ट्र या जाति का वास्तविक इतिहास उसका साहित्य है। यही समाज की तत्कालीन धारणाओं, भावनाओं, आचारों, आदर्शों आदि का चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करता है। यह वह दर्पण है जिसमें हम अपने अतीत का प्रतिबिम्ब देखते हैं। प्राचीन भारत के सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक उत्कर्ष का जैसा सजीव प्रतिबिम्ब संस्कृत साहित्य में दिखायी पड़ता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इसका तो समूचा प्राचीन इतिहास ही इसी भाषा में है। यही हमारी सभ्यता और संस्कृति का स्रोत है। इसकी सुरक्षा के लिए संस्कृत भाषा के प्रचार और प्रसार की आवश्यकता है। इसके लिए संस्कृत-शिक्षण की सरलतम एवं सर्वोत्तम पद्धति भी आवश्यक है जिसका अनुसरण कर इसका अध्ययन और अध्यापन सुविधापूर्वक किया जा सके।

उपर्युक्त दृष्टिकोण को अपने समक्ष कर संस्कृत भाषा के प्रत्येक अंग की शिक्षण-पद्धति का इस पुस्तक में सम्यक् विवेचन किया गया है। इसमें इसके प्रत्येक अंग के इतिवृत्त, महत्त्व, उसकी रचना के उद्देश्य, उसकी प्राचीन और नवीन शिक्षण-पद्धतियों का विवेचन तथा उसके शिक्षण की आधुनिकतम प्रणालियों का उल्लेख किया गया है। प्रत्येक पाठ के अन्त में उसका सारांश, उससे सम्बद्ध प्रश्नों, उसकी रचना के आधार-ग्रन्थों तथा एतत्संबन्धी पाठ-सूत्रों का उल्लेख है।

इस पुस्तक की रचना प्रशिक्षण महाविद्यालयों में भाषा अध्यापकों के प्रशिक्षण का प्रभारी होने, पाठ्य-पुस्तक विभाग में साहित्यिक सहायक के पद पर तथा शिक्षा विभाग के अन्य पदों पर कार्य करने के अपने अनुभवों, पुस्तक के अन्त में दिये हुए विभागीय परिपत्र के उत्तर में देश के विभिन्न संस्कृत पाठशालाओं एवं शोध-केन्द्रों में कार्यरत संस्कृत शिक्षकों, निरीक्षकों आदि से प्राप्त सुझावों और विभिन्न शिक्षण गोष्ठियों के निष्कर्षों के आधार पर की गयी है। यदि इस पुस्तक के माध्यम से संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन में लोगों की रुचि बढ़ सकी और प्रशिक्षण महाविद्यालयों के छात्राध्यापक लाभान्वित हो सके तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूँगा।

वसन्त पञ्चमी
संवत् 2031 विक्रमी

विजय नारायण चौबे

समर्पण

देववाणी के अनन्य उपासक पूज्य पितामह
पण्डित रामकनिक जी चौबे के
चरण-कमलों में सादर

समर्पित

विजय नारायण चौबे

अनुक्रमणिका

विषय — पृष्ठ संख्या

अध्याय 1—संस्कृत भाषा का महत्त्व — 1

संस्कृत तथा साहित्य का अर्थ, प्राचीनतम भाषा, मिश्री साहित्य से भी प्राचीन, अविच्छिन्नता, व्यापकता, संस्कृत साहित्य भारतीय समाज का दर्पण, भारतीय संस्कृति का वाहन, हिन्दू संस्कृति से अविच्छेद्य सम्बन्ध, दार्शनिक महत्त्व, सांस्कृतिक महत्त्व, राजनीतिक महत्त्व, राष्ट्रीय एकता सम्बन्धी महत्त्व, भूत-वर्तमान तथा पूर्व-पश्चिम की सम्पर्क कड़ी, सम्पर्क भाषा सम्बन्धी महत्त्व, अन्य भाषाओं से सम्बन्ध, सारांश, प्रश्न, सहायक ग्रन्थ।

अध्याय 2—संस्कृत का पाठ्य-क्रम में स्थान — 23

विज्ञान एवं साहित्यिक ज्ञान एक दूसरे के पूरक, संस्कृत एक मृतभाषा, संस्कृत बोल-चाल की भाषा, आलोचना, पाठ्य-क्रम में संस्कृत वैकल्पिक विषय के रूप में, पाठ्य-क्रम में अनिवार्य स्थान, त्रिभाषा सूत्र, निष्कर्ष, सारांश, प्रश्न, सहायक ग्रन्थ।

अध्याय 3—संस्कृत शिक्षण के उद्देश्य भाग (1) — 44

उद्देश्य, ध्येय और लक्ष्य में अन्तर; ब्रह्म ज्ञान, राष्ट्रीयता एवं सामाजिकता; सुख और आनन्द में अन्तर, आनन्द ही ब्रह्म; राष्ट्रीय भावना एवं एकता का विकास; सामाजिक ढाँचे के अनुकूल शिक्षा; अनुशासन, समानता, विनम्रता आदि की शिक्षा, चरित्र-निर्माण की शिक्षा; आत्म सम्मान की उत्पत्ति; वैयक्तिक एवं सामाजिक शिक्षा का सुन्दर समन्वय, परोद्धार-भावना की प्राप्ति; सारांश; प्रश्न एवं सहायक ग्रन्थ।

अध्याय 4—संस्कृत शिक्षण के उद्देश्य भाग (2) 57

संस्कृत की वर्तमान स्थिति, सामान्य उद्देश्य 1—9; मुख्य उद्देश्य; संस्कृत एवं मातृभाषा शिक्षण के उद्देश्यों में अन्तर; संस्कृत एवं अंग्रेजी शिक्षणोद्देश्यों की तुलना; सारांश; प्रश्न एवं सहायक ग्रन्थ।

अध्याय 5—विभिन्न संस्कृत-शिक्षण विधियां (भाग-1) 74

पाठशाला पद्धति; पारायण पद्धति; वाद-विवाद पद्धति; प्रश्नोत्तर पद्धति; व्याख्या पद्धति; सूत्र पद्धति; कहानी-कथन पद्धति; मानीयेरियल पद्धति; भाषण पद्धति; पाठशाला पद्धति के उद्देश्य; पाठशाला पद्धति के गुण तथा दोष; सारांश; प्रश्न एवं सहायक ग्रन्थ।

अध्याय 6—विभिन्न संस्कृत शिक्षण विधियाँ (भाग-2) 98

व्याकरण-अनुवाद पद्धति; पाठ्य-पुस्तक विधि; डाइरेक्ट मेथड (सुगम पद्धति अथवा निर्बाध विधि); संयुक्त पद्धति; सारांश; प्रश्न एवं सहायक ग्रन्थ।

अध्याय 7—संस्कृत ध्वनि विज्ञान 121

ध्वनि उत्पत्ति का प्रथम सिद्धान्त; द्वितीय सिद्धान्त; तृतीय सिद्धान्त; वर्णोच्चारण की क्रिया—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी; पंच वायु स्थान; वर्णों की संख्या; पाणिनि के चौदह सूत्र; वर्णोद्भव स्थान कोष्ठक; आभ्यन्तर बाह्य प्रयत्न कोष्ठक; देवनागरी लिपि; सारांश; प्रश्न एवं सहायक ग्रन्थ।

अध्याय 8—शुद्धोच्चारण-शिक्षण 138

शुद्धोच्चारण का महत्त्व; अशुद्ध उच्चारण के दुष्परिणाम; वर्णोच्चारण सम्बन्धी पाणिनि के सिद्धान्त; याज्ञवल्क्य के सिद्धान्त; उच्चारण सम्बन्धी दोष; शुद्धोच्चारण कर्त्ता के लक्षण; अधम पाठक; उत्तम पाठक; शुद्धोच्चारण सम्बन्धी आवश्यक बातें; सारांश; प्रश्न एवं सहायक पुस्तकें।

अध्याय 9—लिखित रचना 151

रचना की व्युत्पत्ति एवं उसके भेद; रचना के महत्त्व; रचना का क्षेत्र; लिखित रचना के उद्देश्य; लिखने से सम्बद्ध विशिष्ट बातें; अनुलेख; श्रुतलेख; चित्रों के आधार पर लिखित रचना; लिखित रचना के दूसरे प्रकार के अभ्यास; अशुद्धियों को दूर करने के उपाय, संशोधन; सारांश; प्रश्न एवं सहायक ग्रंथ, अनुलेख-पाठ-योजना; श्रुतलेख-पाठ-योजना; अनुवाद पाठ योजना; चित्र के आधार पर लिखित रचना सम्बन्धी पाठ-योजना; पुरुष वचन एवं लकार परिवर्तन के आधार पर लिखित रचना सम्बन्धी पाठ योजना।

अध्याय 10—मौखिक रचना अथवा मौखिक आत्म-प्रकाशन 182

परिभाषा; महत्त्व; लाभ; उद्देश्य; प्रक्रियाएँ; लिखित एवं कथित वस्तु में अन्तर; भाषा की शुद्धता; शैली; कथन की मधुरता; वार्त्तालाप और भाषण; मौखिक आत्म-प्रकाशन के साधन; अभ्यासों के आधारभूत सिद्धान्त; मौखिक कार्य स्थापन-क्रम; संशोधन; सारांश; प्रश्न एवं सहायक ग्रंथ।

अध्याय 11—रचना-शिक्षण-विधियां 200

देखो और रचो विधि; भाषा-यंत्र विधि; प्रश्नोत्तर विधि; उद्बोधन विधि; सूत्र विधि; प्रबोधन विधि; पथ प्रदर्शन विधि; स्वाध्याय विधि; तर्क विधि; अनुकरण विधि; रूपरेखा विधि; आदर्श विधि; प्रवचन एवं समवाय विधि; सारांश; प्रश्न एवं सहायक ग्रन्थ।

अध्याय 12—पठन (पढ़ना) 209

पठन-शिक्षण का महत्त्व; पठन की परिभाषा; पठनारम्भ का समय; पठन-क्रिया के विभिन्न अंग; सस्वर पठन; मौन पठन के उद्देश्य; मौन एवं सस्वर पठन में अन्तर; मौन पठन के आवश्यक तत्त्व; सारांश; प्रश्न एवं सहायक ग्रंथ।

अध्याय 13—कथा साहित्य का उद्गम, प्रचार-प्रसार तथा इसकी रचना के उद्देश्य। 225

संस्कृत साहित्य भारतीय कथा साहित्य का उद्गम स्थान तथा भारतवर्ष ही इसकी जन्म भूमि; कथा साहित्य अत्यन्त प्राचीन; संस्कृत

कथा साहित्य के प्रमुख अंग; उपयोगिता, मौलिकता एवं मनोरंजकता इसकी प्रशंसा का एक मात्र कारण; संस्कृत कथा साहित्य की विशेषताएँ, उद्देश्य; सारांश; प्रश्न एवं सहायक पुस्तकें ।

अध्याय 14—कहानी-शिक्षण 241

कहानी-कथन के प्रमुख तत्त्व; कहानी का चयन; कहानी-कथन; कहानी-शिक्षण पद्धति; कहानी-सम्बन्धी अभ्यास; शिक्षण-क्रम; सारांश; प्रश्न; पाठ-संकेत (1); पाठ संकेत (2);

अध्याय 15—संस्कृत व्याकरण शिक्षण (भाग–1) 257

व्याकरण शब्द की व्युत्पत्ति एवं महत्त्व; पाणिनि और अष्टाध्यायी; । गण पाठ; पाणिनीय पद्धति; परायण पद्धति; कात्यायन; पंतजलि की शिक्षण पद्धति; अन्वय-व्यतिरेक पद्धति; वाक्य प्रदीप स्फोटवाद; सारांश; प्रश्न एवं सहायक ग्रन्थ ।

अध्याय 16—संस्कृत व्याकरण शिक्षण (भाग–2) 276

सूत्र अथवा परम्परागत प्रणाली; भाषा-संसर्ग विधि अथवा अव्याकृति विधि; आगमन विधि; निगमन विधि; सहयोग अथवा समवाय विधि; पाठ्य-पुस्तक विधि; संस्कृत व्याकरण पाठ्य-सामग्री; निष्कर्ष; व्याकरण-शिक्षण के उद्देश्य; शिक्षण-क्रम; सारांश; प्रश्न एवं सहायक ग्रन्थ; पाठ संकेत ।

अध्याय 17—संस्कृत कविता शिक्षण (भाग–1) 296

कविता की उत्पत्ति; काव्य-स्वरूप; कवि शक्ति; काव्य प्रयोजन अथवा उद्देश्य; उपयुक्त कविताओं का चयन; कविता-पाठ; काव्यानन्द के तत्त्व; रसास्वादन के प्रमुख सिद्धान्त; पद्य शिक्षण एवं गद्य शिक्षण में अन्तर; कविता-शिक्षण के विभिन्न सोपान। सारांश; प्रश्न एवं सहायक ग्रंथ ।

अध्याय 18—संस्कृत कविता शिक्षण (भाग–2) 318

दण्डान्वय प्रणाली; खण्डान्वय पद्धति; अर्थ-बोध प्रणाली; व्यास अथवा भाष्य प्रणाली; तुलना प्रणाली; गीत प्रणाली; अभिनय अथवा

नाट्य-प्रणाली; टीका प्रणाली; व्याख्या प्रणाली; समीक्षा प्रणाली; सारांश; प्रश्न एवं सहायक ग्रन्थ; पाठ मूल संस्कृत कविता ।

अध्याय 19—संस्कृत गद्य शिक्षण 339

संस्कृत गद्य का इतिहास; संस्कृत गद्य-चयन; गद्य शिक्षण के उद्देश्य; पाठ-प्रस्तावना; उद्देश्य कथन; विषय प्रवेश; बोध परीक्षात्मक प्रश्न; व्याख्या; मौन-पठन; आवृत्यात्मक प्रश्न एवं गृह-कार्य; पाठन क्रम; सारांश; प्रश्न एवं सहायक पुस्तकें ।

अध्याय 20—संस्कृत नाट्य-शिक्षण 356

नाटक की परिभाषा; नाटक के उद्देश्य; नाटक शिक्षण के उद्देश्य; नाटक शिक्षण विधियाँ; नाटक शिक्षण क्रम; पाठ-सूत्र; सारांश; प्रश्न एवं सहायक पुस्तकें ।

अध्याय 21—संस्कृत-पाठ्य-पुस्तक 371

पाठ्य-पुस्तकों की उपादेयता; संस्कृत पाठ्य-पुस्तकों की दयनीय दशा; संस्कृत पाठ्य-पुस्तकों की विषय सामग्री; भाषा; पुस्तकों की रचना का आधार कक्षानुकूल शिक्षण-पद्धति; संस्कृत पाठ्य-पुस्तकों के चयन का सिद्धान्त; सारांश; प्रश्न ।

अध्याय 22—मूल्याङ्कन अथवा परीक्षा-प्रणाली 384

आधुनिक मूल्याङ्कन पद्धति के दोष; नवीन मूल्याङ्कन प्रणाली; सारांश प्रश्न ।

परिशिष्ट 396

शिक्षा निदेशक, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद का एक परिपत्र ।

अध्याय 1

संस्कृत भाषा का महत्त्व

संस्कृत तथा साहित्य का अर्थ

संस्कृत शब्द का अर्थ है संस्कार की हुई, परिमार्जित, शुद्ध, परिष्कृत आदि। यह शब्द सम् उपसर्ग, कृ धातु तथा क्त प्रत्यय के योग से बना हुआ है। इस शब्द से आर्यों की साहित्यिक भाषा का बोध होता है। 'साहित्य' शब्द और अर्थ के सामञ्जस्य का प्रतीक है। इसकी व्युत्पत्ति है 'सहितस्य भावः साहित्यम्'। महाकवि भर्तृहरि ने 'साहित्य संगीत कला विहीनः' आदि में साहित्य शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। वस्तुतः साहित्य ही किसी देश की संस्कृति रूपी सोने के परखने की कसौटी है। यही समाज का दर्पण है। संस्कृत साहित्य को यदि हम इस दृष्टि से देखें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि हमारी सभ्यता और संस्कृति का स्रोत कहाँ है। इसकी खोज में बहुतों को इसलिए उलझन मालूम होगी कि इसके लिए उनको उस संस्कृत भाषा की शरण लेनी पड़ेगी जिसको वे पश्चिमी सभ्यता की लहर में बहुत दूर छोड़ चुके हैं और अब भी छोड़ते चले जा रहे हैं; किन्तु संस्कृत भाषा ही हमारी संस्कृति और सभ्यता का आदि स्रोत है जिसका मूल उसके अपार साहित्य में निहित है।

प्राचीनतम भाषा, मिश्री साहित्य से भी प्राचीन

संस्कृत भाषा का महत्त्व एक नहीं अपितु अनेक दृष्टिकोणों से मापा जा सकता है। यह भाषा भारत की ही नहीं अपितु संसार की सबसे पुरानी भाषा है। सभ्यता के आरम्भ में ही इसका जन्म हुआ था। अन्य देशों के लोग जब पशु जीवन व्यतीत कर रहे थे और पशुओं की ही भाँति सांकेतिक भाषा का प्रयोग कर रहे थे, तब भारतीय एक ऐसी भाषा अपनाये हुए थे जिसका साहित्य अद्वितीय था। इतना प्राचीन साहित्य कहीं भी उपलब्ध नहीं है। कुछ विद्वान मिश्र देश के साहित्य को प्राचीनतम मानते हैं जो केवल चार हजार वर्ष पूर्व का ही है। पर यह बात बिलकुल निराधार है। विश्ववन्द्य लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने गणित के अकाट्य प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि ऋग्वेद संसार का आदि म

और प्राचीनतम ग्रन्थ है जिसके अनेक सूक्तों की रचना विक्रम से लगभग छः हजार वर्ष पूर्व अवश्य ही हुई थी। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि संस्कृत भाषा संसार की प्राचीनतम भाषा और इसका साहित्य विश्व का प्राचीनतम साहित्य है।

अविच्छिन्नता

इसी समय से इस साहित्य का जो प्रवाह चल पड़ा था, वह आज भी अबाध गति से चल रहा है। इससे बिलकुल भिन्न दशा दूसरे साहित्यों की है। वे अनुकूल परिस्थितियों में पनपते और विषम परिस्थितियों में मुरझा जाते हैं। संस्कृत साहित्य इस दोष से सर्वथा मुक्त है। वैदिक ऋचाओं की जो रचना आरम्भ हुई वह अविरल चलती रही। वेद अपनी रचना काल से ही मानवीय मनीषा और प्रतिभा के सर्वोच्च शिखर रहे हैं। सम्प्रति संसार के साहित्य में कहीं कुछ भी ऐसा नहीं है जिसकी तुलना मानवीय भावनाओं की गम्भीरता और मानवीय प्रेरणाओं की तीव्रता की दृष्टि से वेदों से की जा सके। इनके पश्चात् इनके व्याख्यात्मक ग्रन्थ ब्राह्मणों की रचना हुई और तदनन्तर आरण्यकों एवं उपनिषदों की। इसके पश्चात् रामायण, महाभारत और पुराणों की बारी आयी। फिर काव्य, नाटक, गद्य, पद्य, कथा, आख्यायिका, स्मृति, तन्त्रादि ग्रन्थों का क्रम आया। इस प्रकार यह साहित्य भारत भूमि में जन्मा, विकसित, पल्लवित और पुष्पित हुआ तथा इसकी गन्ध आज भी विश्व के कोने-कोने में व्याप्त है। इसकी परम्परा जो आठ हजार वर्षों पूर्व आरम्भ हुई, उसका क्रम अविच्छिन्न रहा और आज भी चल रहा है।

व्यापकता, आचार शास्त्र

संस्कृत साहित्य अत्यन्त व्यापक है। इसका क्षेत्र बड़ा ही विस्तृत है। यह सभी अंगों से परिपूर्ण है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चारों पुरुषार्थ मानव जीवन के लिए आवश्यक हैं। संस्कृत साहित्य में इन सबका विशद विवेचन हुआ है। कुछ लोगों की यह धारणा है कि इस साहित्य में केवल धर्म-कर्म की ही विवेचना हुई है। इसे केवल कर्मकाण्ड का ही साहित्य कहा जा सकता है। अतः इसके पढ़ने से कोई लाभ नहीं है। इनकी दृष्टि में संस्कृत साहित्य एकांगी है और इसमें कर्मकाण्ड के अतिरिक्त ज्ञान-विज्ञान नाम के किसी विषय का प्रतिपादन नहीं हुआ है। पर यह केवल इनका कोरा भ्रम है। इन्हें यह ज्ञात होना चाहिए कि आज जब अपने स्वार्थ के लिए मानव दानव बनकर एक दूसरे पर छुरी चलाने को तैयार है, तो मानव जगत् में

"मा हिंस्यात् सर्वभूतानि", "वसुधैव कुटुम्बकम्" आदि के उपदेश वहीं से आरम्भ हुए थे। 'सत्यं वद, धर्मं चर', 'स्वाध्यायान्मा प्रमद' इत्यादि बातें हमें उपनिषदों से ही मिलती हैं। सूत्र और स्मृतियों ने भी इस प्रकार के आचार-व्यवहार की शिक्षा देने का बीड़ा उठाया है। भगवान् याज्ञवल्क्य की निम्न-लिखित बात कितनी सुन्दर और मनुष्य समाज के लिए कितनी उपयोगी है—

अहिंसा सत्यमस्तेयम् शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दया दमः शान्तिः सर्वेषाम् धर्मसाधनम्॥

इस क्षेत्र में हमारे महाकाव्य भी पीछे नहीं हैं। इनका मुख्योद्देश्य ही है चरित्र-शिक्षा। ये सदैव रामादिवत् वर्त्तितव्यम्, न च रावणादिवत् का ही उपदेश देते हैं। महाभारत तो आचार-शास्त्र की खान है। श्री मद्भगवद्गीता में तो 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर भगवान् श्रीकृष्ण ने आचार-संहिता का सर्वोत्कृष्ट मापदण्ड उपस्थित किया है। पुराणों में महर्षि व्यास ने केवल 'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्' कह कर मानव जाति को कितना सुन्दर उपदेश दिया है। संस्कृत कहानियों, आख्यायिकाओं, गाथाओं आदि का उद्देश्य आजकल की कहानियों की तरह केवल मनोविनोद ही न था अपितु चरित्र-शिक्षा के मूल सिद्धान्तों को भी बतलाना था। इनकी रचनाओं का मुख्य उद्देश्य भी यही था। विष्णुशर्मा ऐसे गुरु ने इन ग्रन्थों की रचना कर महिलारोप्य के राजा अमर शक्ति के अयोग्य पुत्रों को थोड़े ही समय में नीतिनिपुण और व्यवहारविद् बनाया था। नीति कथाओं में सदाचार, राजनीति तथा व्यवहार सम्बन्धी विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इनमें उन सभी बातों का समावेश है जिनकी हमें दैनिक जीवन में प्रतिक्षण आवश्यकता पड़ती रहती है। इनमें पशु-पक्षियों की मनोहर कहानियों द्वारा सदाचार और राजनीति के ही गूढ़ से गूढ़ तत्त्वों को हृदयंगम कराया गया है। पशु-पक्षी ही मनुष्यों के समान आचरण कर मानव समाज के लिए प्रेम, कलह, युद्ध अथवा सन्धि का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

महाकाव्य, पुराण, हितोपदेश, पञ्चतन्त्रादि

संस्कृत भाषा का व्याकरण भी सर्वोत्कृष्ट है। पाणिनि विरचित अष्टाध्यायी की रचना इतनी वैज्ञानिक है कि इसका अध्ययन करने वाला प्रत्येक व्यक्ति इसके रचना-सौष्ठव को देखकर इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा किये बिना नहीं रहता है। पाणिनीय सूत्रों की बाल की खाल निकालने में अत्यन्त पटु महर्षि पतञ्जलि

व्याकरण शास्त्र

ने भी लिखा है—'सामर्थ्ययोगान्न[1] हि किञ्चिदस्मिन्, पश्यामि शास्त्रेयदनर्थकं स्यात्।' प्रोफेसर मोनियर विलियम्स के शब्दों में "पाणिनीय व्याकरण मानव मस्तिष्क की प्रतिभा का वह आश्चर्यतम नमूना है जिसे किसी देश ने अब तक सामने नहीं रखा। सर विलियम हण्टर[2] ने तो यहाँ तक कह डाला है कि 'संसार के व्याकरणों में पाणिनि का व्याकरण चोटी का है। इसकी वर्ण शुद्धता, भाषा का धात्वन्वय सिद्धान्त और प्रयोग विधियाँ अद्वितीय एवं अपूर्व हैं..... यह मानव मस्तिष्क का महत्त्वपूर्ण आविष्कार है। प्रोफेसर टी० शेरवात्सकी[3] ने भी इसकी गणना इन्सानी दिमाग की सबसे बड़ी रचनाओं में की है।

राजनीति शास्त्र, काम शास्त्र

संस्कृत साहित्य में राजनीति एवं समाजशास्त्र के भी उच्चकोटि के ग्रन्थ विद्यमान हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लिखित बातों का अध्ययन कर विदेशी भी दाँतों तले उँगली दबाते हैं। इस एक ही ग्रन्थ के अध्ययन से हम अर्थशास्त्र में पारंगत हो सकते हैं। चाणक्य नीति तो जगत् प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त शुक्रनीति, भर्तृहरिनीतिशतकम्, विदुर नीति आदि अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थ हैं जिनका अध्ययन करने से मनुष्य एक कुशल राजनीतिज्ञ बन सकता है। काम शास्त्र भी उपेक्षा का विषय न था। वात्स्यायन मुनि ने 'कामसूत्र' में गार्हस्थ्य जीवन को अत्यधिक उपयुक्त बनाने के लिए उससे सम्बद्ध उपदेश साधनों का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया है। इसी सूत्र के आधार पर आगे चल कर अनेक ग्रन्थों की रचना की गयी।

समाज शास्त्र

भारतीय समाज के आन्तरिक ढाँचे के सम्यक् ज्ञान के लिए मनुस्मृति मानव समाज के लिए एक अनुपम देन है जिसमें इसकी बाकी झाँकी मिलती है। इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में और भी स्मृतियाँ यथा पराशर स्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि विद्यमान हैं जिनमें भारतीय समाज के ढाँचे का विस्तृत वर्णन है। माता-पिता, पिता-पुत्र, स्त्री-पुरुष, भाई-भाई, गुरु-शिष्य आदि के परस्पर कर्त्तव्यों का इनमें सुन्दर विवेचन हुआ है। मनु के इस वाक्य को कि "यत्र

---

1. महाभाष्य 6।1।77।
2. महान भारत में पृष्ठ 149, 150 पर उद्धृत।
3. पण्डित जवाहर लाल नेहरू द्वारा लिखित "हिन्दुस्तान की कहानी" पृष्ठ 131।

नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:" को हम कभी भी भूल नहीं सकते। इन्हीं कारणों से हिन्दू धर्म तथा हिन्दू संयुक्त परिवार के सम्बन्ध में गहन अध्ययन के निमित्त विदेशों में एक नयी लहर उत्पन्न हो गयी है।

नाट्यशास्त्र

संस्कृत साहित्य का एक गौरवपूर्ण अंग है नाटक। भारतीय आलोचकों ने तो इन्हें काव्यों में सबसे श्रेष्ठ माना है। इनमें भी अभिज्ञान शाकुन्तल[1] का स्थान सर्वोपरि है। प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे इसके अनुवाद को पढ़ कर फड़क उठा और कह उठा—

Wouldst thou the young year's blossoms,
and the fruits of its decline,
And all by which the soul is charmed,
enraptured, feated, fed,
Wouldst thou the earth and heaven itself.
in one sole name combine,
I name thee, O Shakuntla, and all,
at once is said.

महा महोपाध्याय वासुदेव विष्णु मिराशी ने इसका संस्कृत में अनुवाद किया है जिसका हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार है—

"यदि यौवन-वसन्त का पुष्प-सौरभ और प्रौढ़त्व, ग्रीष्म का मधुर फल-परिपाक एकत्र देखना चाहते हो, अथवा अन्तःकरण को अमृत के समान संतृप्त एवं मुग्ध करने वाली वस्तु का अवलोकन करना चाहते हो, तो एक बार अभिज्ञान शाकुन्तल का अनुशीलन करो।" महाकवि गेटे का यह पद्य आनन्द की अत्युक्ति ही भर नहीं है, अपितु एक रसज्ञ का विचार है जो दीपशिखा की भाँति सारे शाकुन्तल को क्षण भर में उद्भासित कर देता है।

गद्य साहित्य

संस्कृत भाषा के गद्य साहित्य की तो विशिष्टता ही निराली है। इसी विशिष्टता के कारण इसे कवियों की कसौटी (गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति) की संज्ञा दी गयी है। गद्य के सुप्रसिद्ध लेखक बाण के सम्बन्ध में तो यहाँ तक कह डाला गया है कि 'बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्'। 'कादम्बरी इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। बाण की वाणी की सरसता का वर्णन करते हुए 'विदग्धमुख मण्डन' के

---

1. 'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला'।

रचयिता धर्मदास जी कहते हैं कि 'रुचिर[1] स्वर, वर्ण तथा पदों से विभूषित और रस तथा भावों से अलंकृत वह संसार के चित्त को आकृष्ट कर रही है। क्या तुम किसी तरुणी की बात कर रहे हो ? नहीं, नहीं, मैं तो वाण की सरस मधुर वाणी के सम्बन्ध में चर्चा कर रहा हूँ।'

चिकित्सा शास्त्र

जहाँ पर प्राचीन मनीषियों ने संस्कृत साहित्य के उपरिलिखित क्षेत्रों में उसकी उत्कृष्टता का परिचय दिया है, वहीं पर उन्होंने इसे चिकित्सा-क्षेत्र में भी अनुपम देन दी है। आयुर्वेद शरीर विज्ञान का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसकी रचना का उद्देश्य ही है अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष आदि चतुर्वर्ग की फल-प्राप्ति। धनसंग्रह के लिए इसका प्रयोग कभी भी नहीं किया गया। इसमें तो 'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्' के ही सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। यह चिकित्सा प्रणाली भारतीय परिस्थितियों के सर्वथा अनुकूल है। सुश्रुत चिकित्सा शास्त्र के आदि आचार्य थे। इनकी शल्य क्रिया की आज भी सराहना की जाती है। कहते हैं कि उस समय इस क्रिया से सम्बद्ध सवा नौ सौ औज़ार काम में लाये जाते थे और इनमें से कुछ औज़ार तो इतने तेज़ थे कि उनसे बाल को भी दो भागों में चीरा जा सकता था।

पशु-चिकित्सा विज्ञान, भौतिक विज्ञान

हमारे महर्षि पशु-चिकित्सा विज्ञान में भी पीछे न थे। 'शालिहोत्र' इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। वे पशुओं की बीमारियों का विधिवत् निदान एवं उपचार करते थे। कुछ लोगों की तो यह धारणा है कि अरबी पशु-चिकित्सा-विज्ञान भी इसी से प्रभावित हुआ है। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में भी हमारे महर्षि आगे थे। कणाद का अणुवाद, उदयनाचार्य के प्रकाश एवं उष्णता के सिद्धान्त तथा वाचस्पति मिश्र के परमाणु निर्मित प्रकाश के सिद्धान्त किसको चकित नहीं कर देते हैं। इन महर्षियों ने लौहनिर्मित एक ऐसे दिग्दर्शक यंत्र का निर्माण किया था जो सदैव उत्तर दिशा का ज्ञान कराता था तथा जिसे तेल में रखा जाता था। महाकवि कालिदास ने अपने साहित्य में सशरीर दूसरे लोकों में जाने का वर्णन किया है। लौटते समय पृथ्वी के आकार तथा

---

1. **रुचिर स्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति।**
सा किं तरुणी ? नहि, नहि वाणी वाणस्य मधुरशीलस्य॥
[धर्मदास—विदग्ध मुखमण्डन]

स्वरूप का जो वर्णन उन्होंने किया है और पिछले वर्षों में अन्तरिक्ष की सफल यात्रा करने वाले अन्तरिक्ष यात्रियों ने पृथ्वी तथा आकाश के जिस स्वरूप का दर्शन किया है, उनमें अनेक आश्चर्यजनक समानता है। यही नहीं कुछ वर्ष पूर्व बम्बई के चौपाटी मैदान में संस्कृत ग्रन्थों में वर्णित सूत्रों के अनुसार विमान उड़ाने का सफल प्रयोग भी किया जा चुका है।

खगोल, भूगोल एवं गणित

भूगोल एवं खगोल के क्षेत्र में तो आर्यभट्ट सर्व विदित हैं ही। आर्यभटीयम् नामक अपने ग्रन्थ के गोलपाद में इन्होंने ही सर्व प्रथम यह सिद्ध किया था कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है जिससे दिन और रात होते हैं, पर आज इसका श्रेय कापर निकस और गैलीलियो को दिया जा रहा है जो सर्वथा अनुचित है। आर्यभट्ट द्वारा विरचित आर्यसिद्धान्त तथा भाष्कराचार्य द्वारा लिखित सिद्धान्त शिरोमणि नामक ग्रन्थ इस क्षेत्र के अनुपम ग्रन्थ हैं। गणित के क्षेत्र में भी भारत अगुआ रहा है। अंग्रेजी के जिन अंकों को पश्चिम ने अरब देश से सीखा, उन्हें अरब निवासियों ने भारत से ही सीखा था और अरब में आज भी इन अंकों को हिन्दसा (अर्थात् हिन्दुओं द्वारा खोजा गया) कहा जाता है। दशमलव पद्धति की भी खोज आर्यभट्ट ने पाँचवीं शती में ही कर ली थी।

प्रेयः शास्त्र एवं श्रेय शास्त्र

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत साहित्य में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बद्ध उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना हुई थी जिसकी हमारे जीवन पर अमिट छाप पड़ी हुई है। वास्तविकता तो यह है कि यहाँ पर प्रेयः शास्त्र एवं श्रेयः शास्त्र दोनों की रचना हुई। प्रथम के कारण संसार को सुखी बनाने वाली विद्याओं का और दूसरे के कारण मोक्षोपयोगी मार्गों का प्रादुर्भाव हुआ। मिश्री साहित्य में यह सब बातें कहाँ ? उसमें जीवन को सुखमय बनाने वाली विद्याओं की तो अधिकता है, परन्तु हृदय को विकसित करनेवाली आध्यात्मिकता की तो लेश मात्र भी चर्चा नहीं है। ऐसी दशा में उस देश के साहित्य में सर्वाङ्गीणता कहाँ से आ सकती है।

संस्कृत साहित्य

साहित्य, सामाजिक भावनाओं एवं विचारों को अभिव्यक्त करने के कारण यदि समाज का दर्पण है, तो सांस्कृतिक आचार-विचार के प्रचार-प्रसार का निमित्त होने के नाते तथा संस्कृति के सन्देश को जनता के हृदय तक पहुँचाने के नाते उसका वाहन भी है।

भारतीय समाज का दर्पण

संस्कृत साहित्य के इतिहास पर एक विहंगम दृष्टिपात करने से यह बात अक्षरशः सत्य सिद्ध हो जाती है कि यह साहित्य वस्तुतः भारतीय समाज का दर्पण है। यह तो सर्वविदित है कि भारतीय समाज जीवन-संघर्ष से अपने को दूर रख कर आनन्द की अनुभूति को, वास्तविक शाश्वत आनन्द की उपलब्धि को अपना परम लक्ष्य मानता है। इसीलिए संस्कृत-काव्य जीवन की विषमताओं में भी परमानन्द की खोज में सदैव रत रहा है। उसकी आत्मा तो रस है और इसी रस का आस्वादन कराना ही उसका परम लक्ष्य है। संस्कृत आलोचना शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ही है रस विवेचन।

संस्कृत साहित्य भारतीय सस्कृति का वाहन

गृहस्थाश्रम भारतीय समाज का मेरुदण्ड है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास उसी पर आश्रित हैं। यही कारण है कि भारत में गृहस्थाश्रम का बड़ा महत्त्व है और इसीलिए संस्कृत साहित्य में इसका सांगोपांग वर्णन किया गया है। आदि काव्य वाल्मीकीय रामायण में वर्णित दशरथ का आदर्श पितृत्व, कौशल्या का आदर्श मातृत्व, सीता का आदर्श सतीत्व, भरत का आदर्श भ्रातृत्व, सुग्रीव का आदर्श बन्धुत्व और सबसे अधिक रामचन्द्र का आदर्श पुत्रत्व भारतीय समाज की ही तो इकाइयाँ हैं। इसका अध्ययन करने से यह सिद्ध हो जाता है कि संस्कृत साहित्य वस्तुतः भारतीय समाज का दर्पण और भारतीयता का वाहन है।

संस्कृत साहित्य का हिन्दू-संस्कृति से अविच्छेद्य सम्बन्ध

संस्कृत साहित्य का हिन्दू संस्कृति से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। इस संस्कृति के मूलाधार हैं वेद, पुराण, शास्त्रादि सद्ग्रन्थ जिनकी रचना आर्यों की आदि भाषा संस्कृत में हुई है। बड़े-बड़े परिवर्तन हुए पर हमारी संस्कृति ज्यों की त्यों बनी रही। इसका एक मात्र श्रेय संस्कृत भाषा को ही है। "हम तो नयी रोशनी वाली कान्त-कामिनियों की तरह नित्य नूतन तरुणी-सभ्यताओं के फेर में पड़कर अपनी बूढ़ी माँ को सर्वथा भूले बैठे थे; फिर भी वह वात्सल्य की प्रतिमूर्ति, कसक और वेदना की घड़ियों मे दिन काटती, सदियों से सोये हुए अपने प्यारे लाड़लों के सिरहाने बैठी सिर सहलाती चली आ रही है। यही कारण है कि बड़े-बड़े परिवर्तनों के बावजूद भी हमारी संस्कृति अक्षुण्ण रही और इसमें किसी प्रकार का भी परिवर्तन न हुआ।

साहित्य और धर्म

भारतवर्ष धर्म प्राण देश है और भारतीयता धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत है। आस्तिकता, ईश्वर की सार्वभौमिकता तथा उसकी जागरुकता में अटूट विश्वास ही इन भावनाओं की आधार शिला है। भारतीय भगवान् के चरण कमलों में अपने आपको अर्पित कर देने में ही अपने जीवन को सार्थक मानते हैं। उनका यह विश्वास है कि जब तक मनुष्य भगवद्भक्त नहीं बन जाता, तब तक वह सांसारिक बन्धनों से मुक्त नहीं हो सकता, उसी समय तक काम, क्रोध, मद, लोभादि मनोविकार चोर सदृश कष्टदायक, गृह कारागार सदृश सन्तापदायक और मोह पैरों की शृंखला के सदृश यातनाप्रद है। भगवद्भक्त होते ही उसे इनसे छुटकारा मिल जाता है और वह ज्ञान का रसास्वादन करने लगता है।[1] भगवान के प्रति इसी भक्ति भावना ने स्तोत्र-साहित्य को जन्म दिया जिसमें भक्तों के हृदय की दीनता, उनका आत्म निवेदन, उनकी अपराध स्वीकारोक्ति आदि भावों की अनोखी अभिव्यक्ति हुई। इस दृष्टि से यह साहित्य विश्व साहित्य में अपना एक अद्वितीय स्थान रखता है। संस्कृत भाषा में उल्लिखित ये स्तोत्र कोमल भावों की अभिव्यक्ति में अपने ढंग के निराले हैं। इस भाषा की मधुरता और गेयता इन्हें और भी मधुर तथा गेय बना देती है। यही कारण है कि ऋग्वेद के आरम्भ से अब तक इन कोमल-कान्त पदावली-स्तोत्रों का यह प्रवाह अविरल रूप से प्रवाहित होता आ रहा है।

दार्शनिक महत्त्व

कोई भी जाति अपने दर्शन के अनुसार लौकिक, पारलौकिक सत्यासत्य विवेचन द्वारा परमसुख, शान्ति, मोक्ष, आत्मा, ब्रह्म या स्वर्ग का जो स्वरूप निर्णय करती है, उसकी प्राप्ति में सहायक धर्मशास्त्र प्रतिपादित समस्त चेष्टाएँ उस जाति की संस्कृति कहलाती हैं। इसलिए किसी जाति की संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता और उसकी समस्त विशेषताओं का मूल उस जाति का दर्शन होता है। वैदिक दर्शन शास्त्र भारतीय संस्कृति की समस्त विशेषताओं के मूल में स्थित है। संस्कृत साहित्य के रूप, निर्माण तथा विकास ने भारतीय दर्शन को अत्यधिक प्रभावित किया है। यह दर्शन सदैव से आशावादी रहा है।

---

1. तावद रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥
[भागवत 10।14।36॥]

निराशान्धकार दर्शन-गगन को कुछ क्षणों के लिए भले ही आच्छादित कर ले किन्तु आशा-चन्द्र उसे सदैव प्रकाशित और ज्योतिमय बनाये रहता है। भारतीय दर्शन के अनुसार निराशा से आशा, विपत्ति से सम्पत्ति और दुःख से सुख की उत्पत्ति अवश्य ही होती है। वह संघर्ष में ही शान्ति और संग्राम में ही विजय के चिह्नों को देखता है। वह तो सांसारिक प्रपंच को ही निष्प्रपंच ब्रह्म की उत्पत्ति का कारण मानता है। "यहि आश अट्क्यो रह्यो, अलि गुलाब के मूल। अइहैं फेरि वसन्त ऋतु, इन डारन वे फूल" की उक्ति इसी सिद्धान्त की प्रतीक है। यही कारण है कि जीवन-संघर्ष का प्रदर्शन करने पर भी संस्कृत नाटकों का अन्त सुखदायी ही होता है। उनके दुःखान्त न होने का यही रहस्य है।

सांस्कृतिक महत्त्व

भारतीय समाज एक ऐसा समाज है जो धर्म और दर्शन के बिना कुछ भी नहीं करता। यहाँ का प्रत्येक आचार धर्म पर आधारित होता है और दार्शनिक तथ्य रखता है। आज भी हमारे यहाँ सोलहों संस्कार संस्कृत भाषा में कराये जाते हैं। संस्कारों से आत्मा तथा अन्तःकरण की शुद्धि होती है। जिस प्रकार खान से निकले हुए सोने को अग्नि द्वारा शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार सांसारिक प्रपंचों में लिप्त अन्तःकरण को संस्कारों द्वारा शुद्ध किया जाता है और यह कार्य संस्कृत भाषा के ही माध्यम से सम्पन्न होता है। अभिवादन, आशीर्वाद, अंकमाल, आसन, वार्तालाप, अतिथि-सत्कारादि जितने शिष्टाचार हैं, उन सबमें भारतीयता निहित है और जिनका एक मात्र आधार संस्कृत भाषा है। जब हम किसी को प्रणाम करते हैं तो हमारा यह साष्टांग प्रणाम इस बात का परिचायक होता है कि हमने उस व्यक्ति की महानता हर तरह से स्वीकार कर ली है। हमारे आशीर्वाद भी सार्थक होते हैं। चिरंजीव, आयुष्मान् भव, आयुष्मती भव आदि इसी सार्थकता के द्योतक हैं। संस्कृत पाठशालाओं में शिष्य आज भी गुरु को साष्टांग प्रणाम करता है और उसकी आज्ञा का पालन करने के लिए सदैव तत्पर रहता है। इसके विपरीत आज जब हमारे स्कूलों में अनुशासन की समस्या दिन प्रति दिन जटिल होती जा रही है और जो अधिकारियों की शिरोवेदना का कारण बनती जा रही है, हमारी संस्कृत पाठशालाओं में इसका कोई प्रश्न ही नहीं है। आखिर यह क्यों? यह सब उसी संस्कृत भाषा के कारण है जिसमें हमारी सभ्यता निहित है। हमने उसे तिरस्कृत किया है और ऐसी भाषा को अपनाया है जिसका दर्शन ही कुछ दूसरे ढंग का है तथा जिसमें साधारण शिष्टाचार के नाम पर 'गुड

मार्निंग, गुड नून आदि कह कर हम अपने कर्त्तव्य की इति श्री समझ लेते हैं। इसमें तो उभय पक्ष के व्यक्ति समान व्यवहार करते दृष्टिगोचर होते हैं और शुभ होने की तो कोई बात ही नहीं करते हैं। जहाँ तक अतिथि सत्कार का प्रश्न है, हमारे यहाँ तो अतिथि को ईश्वर तुल्य माना गया है। 'अतिथि देवो भव' का उपदेश इसी का परिचायक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय समाज में जीवन का प्रत्येक भाग शास्त्रीय आदेशों से नियंत्रित है और वे आदेश हैं संस्कृत भाषा में। अतः संस्कृत भाषा को भूल जाना अपनी संस्कृति को भूल जाना है।

राजनीतिक महत्त्व

राजनीतिक दृष्टिकोण से भी संस्कृत भाषा का अपना एक विशिष्ट स्थान है। हमारे यहाँ जितने भी नीति सम्बन्धी ग्रन्थ हैं वे सब के सब संस्कृत भाषा में हैं। गीता ऐसी पुस्तक जिसे संसार आदर की दृष्टि से देखता है, इसी भाषा में है। महात्मा गाँधी को इसी गीता ने महात्मा गाँधी बनाया था। उनकी नीति, उनका शिष्टाचार, उनकी अहिंसा, उनकी कार्य-निष्ठा आदि सभी बातें इसी से प्रभावित हुई थीं और यही कारण था कि वे गीता को प्राणों से भी प्रिय समझते थे। गीता की प्रत्येक बात अमूल्य है। कितना सुन्दर उपदेश है कि कर्म करते हुए भी फल की इच्छा न रखने से कर्म का बन्धन नहीं होता। भगवान् श्री कृष्ण के "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन", 'अहंकार विमूढ़ात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते' आदि कितने सुन्दर वाक्य हैं। इन पर आचरण करने से कल्याण-प्राप्ति का मार्ग खुल जाता है। गीता के अतिरिक्त नीतिशास्त्र के और भी अनेक ग्रन्थों की रचना हुई है जिनका पीछे वर्णन किया जा चुका है। ऐसी दशा में संस्कृत भाषा का तिरस्कार करना अपने को उस चिरसंचित अलभ्य निधि से वंचित करना है जो संस्कृत भाषा के इन ग्रन्थों में निहित है।

राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से संस्कृत भाषा का महत्व

आज राष्ट्र के समक्ष राष्ट्रीय एकता का एक अत्यन्त जटिल प्रश्न उठ खड़ा हुआ है। देश में नक्सलपंथियों जैसे विघटनकारी तत्त्वों की वृद्धि हो रही है। राष्ट्रभाषा के नाम पर भी अनेक विवाद उठ खड़े हुए हैं। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि भारत को राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बाँधने का श्रेय अंग्रेजी भाषा को ही है। पर इनको यह ज्ञात होना चाहिए कि अंग्रेजी ही राष्ट्र को टुकड़े-टुकड़े करने में लगी

दृष्टि से संस्कृत भाषा का महत्त्व - हुई है। उसी ने एक ऐसे वर्ग को जन्म दिया है जो कि जन्म से तो भारतीय है किन्तु आचार-विचार, रहन-सहन आदि की दृष्टि से विदेशी है और जो देश के शेष वर्गों से अपने को पृथक् मानता है। अंग्रेजी शिक्षा को लागू करते समय मेकाले के निम्नलिखित वाक्य इस तथ्य के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं—

"हम लोगों (अंग्रेजों) को यथाशक्ति एक ऐसे वर्ग के निर्माण करने का प्रयत्न करना चाहिए जो हमारे तथा हमारे द्वारा शासित लाखों व्यक्तियों के बीच दुभाषिये का कार्य करे और जो रक्त एवं रंग में भारतीय, किन्तु रुचि, सम्मति, नैतिकता और बुद्धि में विशुद्ध अंग्रेज हों।"

अरे परभाषा प्रेमियों ! क्या अंग्रेजी का इतना ज्ञान रखने पर भी मेकाले के ये शब्द तुम्हारे ज्ञान-चक्षु को नहीं खोलते ? क्या तुम यह भी नहीं सोच पाते हो कि भारत के लिए अंग्रेजी जैसी विघटनकारी भाषा कोई है ही नहीं ? तुम्हें यदि राष्ट्रीय एकता बनाये रखने वाली किसी भाषा की चर्चा करनी हैं तो महत्त्व समझो संस्कृत भाषा का जिसके कारण यह आज भी अक्षुण्ण बनी हुई है। विषम ऐतिहासिक परिस्थितियों के होते हुए भी भारत की संस्कृति एक है और वह है केवल संस्कृत भाषा के कारण जिसके माध्यम से हमारे प्रत्येक सांस्कृतिक कार्य सम्पन्न होते हैं। इसी के फलस्वरूप आज भी यदि तुम देश के एक कोने से दूसरे कोने में चले जाओ तो तुम्हें सर्वत्र एक सी ही संस्कृति दिखाई देगी। साधारण से साधारण भारतीय भी प्रतिदिन स्नान करते समय निम्नलिखित श्लोकों का पाठ करता हुआ मिलेगा जिसमें देश के प्रमुख तीर्थ स्थानों और पवित्र नदियों का उल्लेख है—

अयोध्या-मथुरा-माया काशी कांची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती ज्ञेया सप्तैते मोक्ष दायिकाः ॥ 1 ॥
गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥ 2 ॥

इसी अवसर पर ही नहीं अपितु तिलक, विवाहादि मांगलिक अवसरों पर भी इसी तरह के श्लोकों का पाठ कर पुरोहित यजमान की मंगल कामना करते हैं। वासिष्ठी से उद्धृत व्यास-विरचित निम्नलिखित श्लोक इसी के परिचायक हैं—

गंगा च क्षिप्रा यमुना सरस्वती गोदावरी वेत्रवती च नर्मदा।
सा चन्द्रभागा वरुणा त्वसी नदी कुर्वन्तु वः पूर्णमनोरथं सदा ॥

इसमें उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम के भेद-भाव का लेश मात्र भी आभास नहीं है। देश की प्रमुख नदियों के प्रति श्रद्धा व्यक्त की गई है और उनसे प्रार्थना की गई है कि वे यजमान के सम्पूर्ण मनोरथ को पूर्ण करें। पण्डित वायुनन्दन मिश्र द्वारा प्रणीत विवाह-पद्धति में इन नदियों के अतिरिक्त सई, शशिप्रभा, गण्डकी, गोमती, ककुद्मती आदि नदियों का भी उल्लेख कर यह प्रार्थना की गई है कि वे प्रतिदिन, प्रतिक्षण तुम्हारे (यजमान के) मंगल[1] के लिए हों। इसमें हिमालय, महेन्द्राचल, विन्ध्याचल, ऋष्यमूक, मन्दराचल, सुवेल, गन्धमादन आदि का भी उल्लेख किया गया है।

पुराणों में राष्ट्रीय एकता की भावना

वायुपुराण के निम्नलिखित श्लोक में भारतवर्ष का जो भौगोलिक चित्र खींचा गया है, वह भी हमारी राष्ट्रीय एकता का प्रतीक है।

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र संततिः॥

अर्थात् जिसके उत्तर में हिमालय तथा दक्षिण में समुद्र है और जहाँ की संतति भारती है, वह भारतवर्ष है। भारतवर्ष की अखण्डता तथा देश-प्रेम की भावना विष्णु-पुराण[2] और भागवत् पुराण में भी बड़ी सुन्दरता के साथ व्यक्त की गई है। प्रथम के अनुसार देवता लोग भारतवासियों की धन्यता के गीत गाते हैं क्योंकि यह भारत देश स्वर्ग तथा मोक्ष पाने का सुखद मार्ग है और देवता होने के बाद भी यहाँ जन्म लेकर मानव अपने परम कल्याण का सम्पादन करता है। भागवत् पुराण[3] के अनुसार

---

1. वियद्गंदी सरस्वती कालिन्दनन्दिनी सई शशिप्रभा च गण्डकी च गोमती ककुद्मती।
असी च वामती हि नर्मदा च सप्तसागराः दिने दिने प्रतिक्षणं भवन्तु मंगलाय वः॥
हिमालयः सुरालयस्तथा च शंकरालयो महेन्द्र-विन्ध्य-ऋष्यमूक-कूटमन्दरादयः।
सुवेल गन्धमादनोदयाद्रि भूधराश्च ये दिने दिने प्रतिक्षणं भवन्तु मंगलाय वः॥
2. गायन्ति देवाः खलु गीतकानि, धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते, भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥
3. कल्पायुषां स्थानजयात् पुनर्भवात्, क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः, संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः॥

तो स्वर्गलोक में कल्प की आयु पाने की अपेक्षा भारतवर्ष में क्षण भर की आयु पाना श्रेयस्कर है क्योंकि इस कर्म भूमि के ऊपर क्षण भर में किये गये कर्मों को त्याग कर मनुष्य ईश्वर के परम पद को तुरन्त प्राप्त कर लेता है। भारतवर्ष में जन्म लेना देवताओं की भी ईर्ष्या का विषय है। वे यहाँ जन्म लेने के लिए तरसा करते हैं। उनकी दृष्टि में भारत में जन्म लेना मुकुन्द की सेवा का मुख्य उपाय है जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसीलिए वे यहाँ जन्म लेने की इच्छा करते हैं।

संकल्प में राष्ट्रीय एकता की भावना

पूजा, अनुष्ठान, धार्मिक कृत्यों आदि के समय उपासक द्वारा लिये गये संकल्पों में अखण्ड भारत का भौगोलिक चित्र प्रस्तुत किया जाता है। वह इसमें देश, काल, कर्त्ता तथा कर्म इन चारों बातों की अभिव्यक्ति कर अपने आपको वृहत्तर भारत का एक प्राणी बतला कर बड़े गर्व का अनुभव करता है। वह इस तथ्य से भलीभाँति परिचित है कि जिस अविमुक्त क्षेत्र वाराणसी में गंगा में स्नान कर रहा है, वह जम्बूद्वीप के भरतखण्ड तथा भारतवर्ष के कुमारिका खण्ड के अन्तर्गत एक विशिष्ट तीर्थ स्थान है। भारतवर्ष को ही गुप्त काल में "कुमार द्वीप" के नाम से इंगित किया गया था क्योंकि इसकी लम्बाई दक्षिण में कन्याकुमारी[1] से लेकर उत्तर में गंगा के उद्गम स्थान तक मानी जाती थी।

स्वदेशी वस्त्र का प्रचलन

पूजा के समय धारण किये जाने वाले वस्त्र के सम्बन्ध में शास्त्रोक्त[2] बातों से भी स्पष्ट है कि भारत में खद्दर का प्रचलन प्राचीन काल से ही था। इनके अनुसार यह वस्त्र न तो जला हुआ हो, न तो उसे चूहे ने काटा हो, न तो वह सिला हुआ हो, न तो वह पुराना हो और न तो विदेशी हो। वह तो अपने ही देश का बना हुआ होना चाहिए। उस समय भारत में बाहर से वस्त्रों का आना भले ही सिद्ध हो, पर यह बात तो निर्विवाद है कि धार्मिक अवसरों पर स्वदेशी एवं स्वकीय वस्त्र ही धारण किये जाते थे।

---

1. आयामस्तु कुमारीतो गंगायाः प्रवहावधिः [मत्स्य 114।10]
2. न स्तूयेन न दग्धेन पारक्येण विशेषतः।
   मूषकोत्कीर्णजीर्णेन कर्म कुर्याद् विचक्षणः॥

कवि कुल गुरु कालिदास के ग्रन्थों में भी राष्ट्रीय भावना की बाकी झाँकी देखने को मिलती है। उनके ग्रन्थों में शंकर की अष्टमूर्तियों का अनेक बार उल्लेख हुआ है। अभिज्ञान शाकुन्तल तथा मालविकाग्नि-मित्र की नान्दी इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। कुमारसम्भव में भी इनका उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि कालिदास ने शिव की अष्ट मूर्तियों की उपासना के प्रति अपना विशेष आग्रह दिखलाया है। आखिर यह क्यों ? सूर्य, चन्द्र, यजमान, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, तथा आकाश की गणना अष्ट मूर्तियों में गई है। इन मूर्तियों के प्रतीक शिवलिङ्गों की स्थापना का प्रमाण भारत के एक कोने से लेकर दूसरे कोने में उपलब्ध है। इनमें यजमान की मूर्ति के प्रतीक स्वरूप पशुपति नाथ नेपाल में, आकाश की मूर्ति के प्रतिनिधि स्वरूप शिवलिङ्ग चिदम्बरम् में तथा चन्द्र मूर्ति के जीते-जागते स्वरूप सोमनाथ के शिवलिङ्ग गुजरात में और चन्द्र-नाथ के शिवलिङ्ग चिटागाँव में विद्यमान हैं। इसी प्रकार अन्य मूर्तियों के स्वरूप शिवलिङ्गों की प्रतिमाएँ भारत के दूसरे स्थानों में पाई जाती हैं। इस प्रकार ये मूर्तियाँ उत्तर में नेपाल से लेकर दक्षिण में चिदम्बरम् तक तथा पूरब में चिटागाँव से लेकर पश्चिम में गुजरात तक स्थापित हैं। कालिदास द्वारा की गई उनकी स्तुति कवि हृदय में व्याप्त अखण्ड भारत की भावना का द्योतक है।

कालिदास के ग्रन्थों में राष्ट्रीय-भावना

शुक्ल[1] यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्र में भी राष्ट्र के विभिन्न अंगों की उन्नति के लिए प्रार्थना की गई है और ईश्वर से यह निवेदन किया गया है कि हे ईश्वर ! हमारे राष्ट्र के ब्राह्मण तेजस्वी हों, क्षत्रिय शूरवीर, वाण चलाने में निपुण, शत्रु संहारक तथा महा-रथी हों, गायें दूध देने वाली हों, बैल बोझा ढोने वाले हों, घोड़े द्रुतगामी हों, स्त्रियाँ सुन्दर शरीर वाली एवं गुणवती हों, रथारूढ़ हो युद्ध में भाग लेने वाले योद्धा विजयी हों, युवक सभा में बैठने की क्षमता रखने वाले हों, आवश्यकतानुसार जलवृष्टि हो, औषधियाँ

शुक्ल यजुर्वेद में राष्ट्रीय-भावना

---

1. आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्, आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वान्, आशुः सप्तिः, पुरन्धिर्योषा, जिष्णू रथेष्ठा, सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो न ओषधयः पच्यताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्।

फलयुक्त हों तथा समय पर पकें और अलभ्य वस्तुएँ सुलभ हों एवं उनकी समुचित वृद्धि हो।

इसमें जो आदर्श उपस्थित किया गया है, वह बड़ा ही सराहनीय है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, विभिन्न पशुओं तथा लाभदायक वस्तुओं की अभिवृद्धि की कामना की गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत साहित्य में राष्ट्रीयता का अपूर्व सन्देश व्यक्त है। इसी आधार पर भूतपूर्व प्रधानमंत्री पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने आज़ाद-स्मारक भाषण के अवसर पर कहा था कि "यह संस्कृत केवल सर्वोत्कृष्ट विचार और सुन्दरतम् साहित्य का माध्यम ही नहीं रही अपितु इसमें भारत को एक सूत्र में बाँधने का तत्त्व भी है।" साम्यवादी नेता प्रोफेसर हीरेन मुखर्जी का कथन है कि "भारत को गौरवपूर्ण उत्तराधिकार के रूप में संस्कृत प्राप्त हुई है। इसने राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँधा है और इस भाषा के द्वारा जो संस्कृति प्रवाहित हुई है, उसने सम्पूर्ण मानव सभ्यता के क्षेत्र में चमत्कारपूर्ण योगदान दिया है।" अखिल भारतीय संगठन कांग्रेस के अध्यक्ष श्री निजलिंगप्पा का भी यही मत है कि "इस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता राष्ट्रीय एकता है.....संस्कृत ने देश को एक सूत्र में बाँधा है और भविष्य में भी बाँधती रहेगी।"

संस्कृत भूत-वर्तमान और पूर्व-पश्चिम की सम्पर्क कड़ी

26 मार्च सन् 1972 को दिल्ली में विश्व-संस्कृत सम्मेलन का शुभारम्भ करते हुए भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति श्री वाराह वेंकट गिरि ने ठीक ही कहा था कि संस्कृत भाषा भूत-वर्तमान और पूर्व-पश्चिम की सम्पर्क कड़ी है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय गौरव का जैसा दर्शन हमें इसके विशाल वाङ्मय में होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। पराधीनता काल में भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रति पश्चिमी विजेताओं को इसी कारण नतमस्तक होना पड़ा है। सच्ची बात तो यह है कि संस्कृत भाषा तथा साहित्य में किसी प्रकार की संकीर्णता है ही नहीं। इसमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का जैसा आदर्श प्रतिपादित हुआ है, वह उसका सार्वभौम स्वरूप है। इसीलिए संस्कृत भाषा को विश्व-भाषा तथा उसके साहित्य के रूप में भी समादृत किया जाता है। राष्ट्रपति ने इसे इसीलिए पूर्व और पश्चिम के सम्पर्क-सूत्र की संज्ञा दी है और इसे भूतकाल और वर्तमान की कड़ी कहा है। इसी अवसर पर रूस के प्रमुख भारतीय पुरातत्त्वविद् श्री चेलिशेष ने भी कहा कि "प्राचीन भारतीय वाङ्मय में मानवतावाद और विश्वबन्धुत्व की स्पष्ट विचारधारा देखी जा

सकती है। इन विचारों का आधुनिक विश्व के सन्दर्भ में बड़ा महत्त्व है।" पेरिस के प्रोफेसर जे० फिलियोजात ने भी कहा कि "यदि हम एक ओर हिन्द-चीन और इण्डोनेशिया में तथा दूसरी ओर सम्पूर्ण मध्य एशिया, चीन, कोरिया तथा जापान में संस्कृत भाषा के प्रयोग पर विचार करें तो पता चलेगा कि यह पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया की बौद्ध या ब्राह्मधर्मी जनता को जोड़नेवाली प्रमुख शृंखला रही है। यह इन देशों में भारतीय संस्कृति का मुख्य माध्यम भी थी।" इण्डोनेशिया की संस्कृत विदुषी डाक्टर हर्याति स्वेवादियों ने इसी अवसर पर इस तथ्य को स्वीकार किया और कहा कि "पश्चिमी देशों में संस्कृत का अध्ययन मुख्यतः प्राचीन भारतीय संस्कृति और परम्परा को समझने के लिए किया जाता है किन्तु दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों में संस्कृत स्वयं अपनी सभ्यताओं के समझने का प्रमुख माध्यम है। अपनी भाषा के विकास के लिए हमने संस्कृत से अनेकानेक शब्द उधार लिये और अब भी हम ऐसा कर रहे हैं।"

सम्पर्क भाषा के रूप में संस्कृत भाषा का महत्त्व

सम्पर्क भाषा के रूप में भी संस्कृत भाषा का कम महत्त्व नहीं है। संस्कृतज्ञों के बीच आज भी वह इसी रूप में व्यवहृत हो रही है। पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ये लोग अपने भावों को व्यक्त कर रहे हैं। इसी के फलस्वरूप आज देश में लगभग 43 पत्र-पत्रिकाएँ संस्कृत में प्रकाशित हो रही हैं और देश को एक सूत्र में बाँधने का यत्न कर रही हैं। अयोध्या से प्रकाशित 'संस्कृतम्', नागपुर से प्रकाशित 'भक्तिव्यम्', दिल्ली से प्रकाशित 'संस्कृत रत्नाकर' एवं 'संस्कृत प्रतिमा', जयपुर से प्रकाशित 'भारती', पण्डरपुर से प्रकाशित 'संस्कृति' आदि इस प्रकार के प्रमुख पत्र हैं जो देशव्यापी हैं और भारतीय एकता के प्रतीक हैं। वाराणसी से प्रकाशित 'गाण्डीवम्' भी इसी लड़ी की एक कड़ी है जो सम्पर्क-कड़ी के रूप में देश का बड़ा उपकार कर रहा है।

संस्कृत भारत की अधिकांश भाषाओं की जननी है। हिन्दी, मराठी, पंजाबी, गुजराती, बंगला, असमी, उड़िया आदि भाषाएँ इसी से निकली हैं। संस्कृत आयोग का मत है कि "सभी[1] आधुनिक आर्य भाषाएँ

---

1. The modern Aryan Languages were all born in the lap of Sanskrit and as far as the Dravidian Languages are concerned, ever since their earliest literary use they have been nutured by Sanskrit. Report of Sanskrit commission Page 85.

संस्कृत का अन्य भाषाओं से संबंध संस्कृत की ही गोद में जन्मी हैं। जहाँ तक द्रविड़ भाषाओं का प्रश्न है, उनके साहित्यिक प्रयोग के आदि काल से ही उनको भी संस्कृत ने ही पाला-पोषा है। यह तो निर्विवाद है कि हिन्दी को पनपाने का एक मात्र श्रेय इसी भाषा को है। 'आत्मवत् जायते सन्ततिः' के अनुसार हिन्दी साहित्य का प्रत्येक अंग संस्कृत साहित्य से प्रभावित है। व्याकरण, अलंकार, शब्दकोष, आलोचना सिद्धान्त, नाटक की विशेषताएँ आदि बातों पर इस भाषा की गहरी छाप है। दूसरे शब्दों में हिन्दी साहित्य ही किसी न किसी रूप में संस्कृत का रूपान्तर मात्र है। भारतीय संविधान में जब हिन्दी को राजभाषा के रूप में स्वीकार किया गया तो उस समय यह स्पष्ट कर दिया गया था कि आवश्यकतानुसार हिन्दी भाषा की शब्दावली संस्कृत से ही ली जायगी। संस्कृत का शब्द भाण्डार इतना विस्तृत है कि उससे गणित, विज्ञान, भूगोल, इतिहास, दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र, विधि आदि प्रत्येक विषय के शब्द उपलब्ध हो सकते हैं। संस्कृत में विरचित स्मृति ग्रन्थ, रामायण, महाभारत, कौटिल्य अर्थशास्त्र, शुक्र नीति, विदुर नीति आदि में सामाजिक विज्ञान से सम्बद्ध पर्याप्त शब्द विद्यमान हैं। सचमुच शब्द-रचना की दृष्टि से संस्कृत का भाण्डार अक्षय है।

बंगला और संस्कृत जैसा कि ऊपर कहा गया है कि संस्कृत का भारत की अन्य भाषाओं से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। बँगला के 96 प्रतिशत शब्द तो संस्कृत के ही हैं। उदाहरणार्थ बंकिम के 'वन्देमातरम्' तथा रवीन्द्र के 'जन मन गण अधिनायक जय हे' जैसे राष्ट्रिय गीत के अधिकांश शब्द संस्कृत के हैं। इसीलिए बंगला न जानने वाले भी इन्हें अच्छी तरह समझ लेते हैं। गीताञ्जलि के निम्नलिखित गीत को ही लीजिए जिसमें संस्कृत के ही शब्दों की भरमार है। "आमार सकल अंगे तोमार परश, लग्न हये रहियादे रजनी दिवस"—इसके सकल, अंग, परश, लग्न, रजनी, दिवस आदि शब्द संस्कृत के ही हैं। इसी प्रकार मराठी के भी अधिकांश शब्द संस्कृत के ही हैं; यथा,

मराठी और संस्कृत
पवित्र तें कुल पावन तो देश,
तेज हरिचे दस जन्म घेंटी।
कर्म-धर्म व्यांचे जाला नारायण,
त्याचोनि पावन निन्हीं लोक।

इसमें पवित्र, कुल, पावन, देश, जन्म, कर्म, धर्म, नारायण, लोक आदि संस्कृत शब्द हैं। असमिया में भी संस्कृत शब्दों की बहुलता है। यथा, "शत निराशार

भरा हृदय आशार प्रतिमा, प्रिया चारु मोर अकालत काढ़ि निला दया मय।
करिला ये म क छलना थोर" वाले असमिया पद में शत,

असमिया और संस्कृत निराशा, हृदय, आशा, प्रतिमा, प्रिया, चारु, अकाल,

उड़िया और संस्कृत दयामय, छल आदि शब्द संस्कृत के हैं। उड़िया ने भी 95 प्रतिशत शब्द संस्कृत के हैं, यथा गोपबन्धुदास के निम्नलिखित पद को ले लीजिए।

धन्य का, जोरी ते तीर नालिये परिचिल,
देखि के ऊँ मूढ़ मानस न हुअई अपवित्र।

इसमें धन्य, परिचिल, मूढ़, मानस, अपवित्र आदि शब्द तो संस्कृत के ही हैं। गुजराती भी संस्कृत के अति निकट है और इसके भी 93 प्रतिशत शब्द संस्कृत के हैं। बापू के प्रिय गुजराती भजन को ही

गुजराती और संस्कृत लीजिए—वैष्णव जन ते तेने कहीये जे पीड़ पराई जाणे रे, परदुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे। इसमें वैष्णव, जन, पर, दुःख, उपकार, मन, अभिमान आदि शब्द संस्कृत के हैं तथा कहिये, पराई, करे आदि शब्द तद्भव हैं जिनका प्रयोग हिन्दी में होता है। पंजाबी, कश्मीरी, मलयालम, तेलुगु, कन्नड़, तमिल आदि भाषाओं के भी अधिकांश शब्द संस्कृत के हैं। इस प्रकार भारतीय भाषाओं का संस्कृत से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन भाषाओं में ध्वनि शब्द, अर्थ, वाक्य मुहाविरे, विचारधारायें आदि भी संस्कृत से ही आयी हैं। इनके कवि और लेखक संस्कृत कविओं की ही कल्पनाओं को आधार मान कर अपने साहित्य की रचना करते हैं।

संस्कृत ने केवल भारतीय भाषाओं को ही नहीं अपितु विश्व की दूसरी भाषाओं को भी प्रभावित किया है। इसके दो प्रमुख कारण हैं—सर्वप्रथम यह संसार की प्राचीनतम भाषा है और दूसरे भारत जैसे समृद्धशाली एवं वैभवशाली देश की भाषा है। तीसरे ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि भारतीय अन्य देशों में अपनी प्रभुता, सभ्यता एवं संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए सदैव प्रयनशील रहे हैं। फलतः इन्होंने एशिया के दक्षिण-पूर्वी द्वीपों में अपना उपनिवेश स्थापित किया। 'इण्डोचाइना' अथवा हिन्द चीन का आधा भाग चीन का है किन्तु तेरहवीं शती पूर्व इसमें

दक्षिण-पूर्वी देशों की भाषाएँ और संस्कृत चीन का कुछ भी अंश न था। यह बिलकुल हिन्द ही था। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'इण्डोनेशिया' शब्द भारत द्वीप का समानार्थी है। यहाँ के निवासी मुसलमान होते

हुए भी रामायण और महाभारत से प्रभावित हैं। इन लोगों ने इन महाकाव्यों की कथाओं को राष्ट्रीय कथाओं के रूप में स्वीकार किया है। कम्बोडिया कम्बोज का ही विकृत रूप है। यहाँ पर मनु की धार्मिक व्यवस्था के अनुसार शासन प्रबन्ध किया जाता था। संस्कृत वर्णमाला और वाङ्मय के सम्पर्क में आने के कारण यहाँ की स्थानीय बोल-चाल की भाषा ने लिखित भाषा का रूप धारण कर लिया। फलतः इसमें उच्चकोटि के साहित्य का सृजन होने लगा। इस प्रकार कम्बोज की 'रूमेर' भाषा, चम्पा की 'चम्म' भाषा तथा जावा की कवि भाषा भारतीय वर्णमाला में लिखी गई जिनमें आवश्यकतानुसार संस्कृत साहित्य से बहुत सी बातों को लेकर अच्छे साहित्य की रचना की गई। जावा की 'कवि' भाषा में रामायण और महाभारत के कथानक मिलते हैं। 'बाली' द्वीप का नाम सम्भवतः 'बलि' के नाम पर पड़ा हो। यहाँ की सभ्यता तथा धर्म पूर्णरूपेण भारतीय हैं। इस द्वीप का धर्म तन्त्र प्रधान है। उनके मंत्र तथा प्रार्थनाएँ संस्कृत में ही हैं। सन्ध्यावन्दन का विकृत रूप आज भी वहाँ विद्यमान है। यहाँ की भाषा में संस्कृत के अनेक शब्द प्रचलित हैं। मंगोलिया की मरुभूमि को भी संस्कृत साहित्य ने अछूता न छोड़ा था। वहाँ पर अनेक भारतीय ग्रन्थ मिले हैं। वहाँ की भाषा में भी महाभारत से सम्बद्ध नाटक हैं जिनमें हिडिम्बा-वध विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

पूर्व में ही नहीं अपितु पश्चिम के भी समस्त उन्नतिशील और सभ्य देशों में इसके प्रति गहरी रुचि है। विश्व के कुछ विश्वविद्यालयों में संस्कृत की शिक्षा अनिवार्य है। अफगानिस्तान में स्नातकीय उपाधि के लिए संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य रहा है। जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि देशों में भी संस्कृत अध्ययन-मनन पर विशेष बल दिया जाता रहा है।

पश्चिमी देश और संस्कृत

जर्मनी तो संस्कृत के अध्ययन और इसके ग्रन्थों के संरक्षण का केन्द्र ही रहा है। मार्च सन् 1972 में आयोजित विश्व संस्कृत सम्मेलन में भाग लेने के लिए भारत आये हुए पूर्वी जर्मनी के विद्वान् प्रोफेसर भार्गनरथ ने कहा था कि "महान साहित्य कभी पुराना नहीं होता। मानव चरित्र की मौलिक विशेषताओं से सम्बद्ध विषय प्रत्येक युग और समाज के महान साहित्य में समान रूप से पाये जाते हैं और उस युग एवं समाज के सर्वाधिक प्रभावी निदर्शक होते हैं। यद्यपि भारत में आज संस्कृत प्रचलित भाषा के रूप नहीं हैं किन्तु इससे उसके अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप का महत्त्व किसी भी तरह कम नहीं है। पश्चिम में प्राच्य संस्कृति के वास्तविक और सही अवबोध के लिए संस्कृत अत्यन्त प्रभावी माध्यम है।"

इस प्रकार प्राचीनता, अविच्छिन्नता, पूर्णता, व्यापकता, धार्मिकता, उपादेयता आदि की दृष्टि से संस्कृत साहित्य का विवेचन करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत साहित्य अत्यन्त समृद्धशाली है, भारतीय संस्कृति वस्तुतः इसी के कारण सुरक्षित है और संस्कृत भाषा के ही माध्यम से हम भारतीयता की रक्षा कर सकते हैं क्योंकि संस्कृत हमारा कार्य-क्षेत्र ही नहीं अपितु जीवन भी है। संस्कृत ही एक ऐसा माध्यम है जो एक भाषा को दूसरी भाषा के सम्पर्क में ला सकता है। जब किसी दूसरी भाषा वाले प्रदेश में वहाँ की भाषाएँ समझ में नहीं आती हैं तथा अंग्रेजी भी विचाराभिव्यक्ति में असफल हो जाती है तब संस्कृत का ही कोई शब्द व्यवहार को सुगम बनाने में समर्थ सिद्ध होता है। यह सभी बातें तभी सम्भव हो सकती हैं जबकि हम प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों प्रकार की विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित करें और दोनों के मध्य का मार्ग अपना कर देश को एक नवीन विचारधारा प्रदान करें जो विशुद्ध भारतीय हो। इस तरह हम विचारों के क्षेत्र में भी स्वतंत्र रह सकेंगे और अपने देश को प्रगति के पथ पर आगे बढ़ा सकेंगे।

निष्कर्ष

सारांश

संस्कृत भाषा संसार की प्राचीनतम भाषा है। इसका साहित्य मिश्र देश के इतिहास से भी पुराना है। इसकी जो धारा प्राचीन काल में निकल पड़ी थी वह आज भी अविरल गति से प्रवाहित हो रही है। इसका साहित्य अत्यन्त व्यापक है। इसमें आचार शास्त्र, व्याकरण शास्त्र, राजनीति शास्त्र, काम शास्त्र, समाज-शास्त्र, नाट्य शास्त्र, गद्य, पद्य, चिकित्सा शास्त्र, आलोचना शास्त्र, आदि का अक्षय भाण्डार भरा पड़ा है।

संस्कृत साहित्य भारतीय समाज का दर्पण और भारतीय संस्कृति का वाहन भी है। इसका हिन्दू संस्कृति से अविच्छेद्य सम्बन्ध है क्योंकि भारतवर्ष एक धर्म-प्राण देश है और भारतीयता धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत है। इन्हीं भावनाओं ने स्तोत्र साहित्य को जन्म दिया जिसका विश्व साहित्य में एक अद्वितीय स्थान है।

संस्कृत साहित्य का दार्शनिक एवं साहित्यिक महत्त्व भी सर्वोपरि है। राजनीतिक दृष्टिकोण से तो इसका अपना एक विशिष्ट स्थान है। राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने में इसका अनोखा योगदान है। स्नान, मांगलिक कार्यों, पूजा, अनुष्ठान, धार्मिक कृत्यों आदि के समय अखण्ड भारत का भौगोलिक

चित्र प्रस्तुत किया जाता है। कविकुल गुरु कलिदास के ग्रन्थों में भी राष्ट्रीय भावना की बाँकी, झाँकी देखने को मिलती है।

सम्पर्क भाषा के रूप में संस्कृत भाषा का कम महत्त्व नहीं है। यह भारत की अधिकांश भाषाओं की जननी है। हिन्दी को पनपाने का एक मात्र श्रेय इसी भाषा को है। संस्कृत ने विश्व की भाषाओं को भी प्रभावित किया है। यथा कम्बोज की रुमेर भाषा, चम्पा की चम्म भाषा आदि को।

प्रश्न

1. सिद्ध कीजिए कि संस्कृत साहित्य सर्वथा पूर्ण और अत्यन्त प्राचीन साहित्य है।
2. संस्कृत भाषा के साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं भाषा विषयक महत्त्व का विशद विवेचन कीजिए।
3. सिद्ध कीजिए कि संस्कृत साहित्य भारतीय समाज का दर्पण और भारतीय संस्कृति का वाहन है।
4. संस्कृत साहित्य के धार्मिक, दार्शनिक एवं राष्ट्रीय एकता स्थापन के महत्त्व का विशद विवेचन कीजिए।
5. "संस्कृत भारत की अधिकांश भाषाओं की जननी तथा विश्व की अन्य भाषाओं का भी पालन-पोषण करने वाली है"—इस कथन की सार्थकता को सिद्ध कीजिए।

सहायक ग्रन्थ

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास—आचार्य बलदेव उपाध्याय।
2. महाभाष्य।
3. महान भारत।
4. हिन्दुस्तान की कहानी—पं० जवाहर लाल नेहरू।
5. भागवत।
6. वासिष्ठी।
7. वायु पुराण, विष्णु पुराण, मत्स्य पुराण,
8. अभिज्ञान शाकुन्तल तथा मालविकाग्नि मित्र।
9. शुल्क यजुर्वेद।
10. 26 मार्च 1972 का 'आज'।
11. संस्कृत आयोग की रिपोर्ट।
12. आज [साप्ताहिक विशेषांक, रविवार 13 जनवरी 1974]।

अध्याय 2

संस्कृत का पाठ्य-क्रम में स्थान

सभी विचारधाराओं के शिक्षाविद् इस बात पर सहमत हैं कि बालक को अनुकूल और लाभकारी ज्ञान प्राप्त हो। पर इस प्रकार का ज्ञान किन सिद्धान्तों पर आश्रित हो, यह एक विचारणीय प्रश्न है। प्रकृतिवादी बालक की रुचि, उसके कार्य तथा अनुभव को ही स्कूल की सभी बातों का आधार मानते हैं। उनके अनुसार बालक को किसी प्रौढ़ के हस्तक्षेप, संकेत तथा निरीक्षण के बिना ही स्वयं ज्ञान प्राप्त करने का अवसर देना चाहिए। प्रैगमैटिस्टिक इसके अतिरिक्त उपयोगिता को भी पाठ्य-क्रम का आधार मानते हैं। शिक्षा बोर्ड के एक प्रवक्ता का कथन है कि पाठ्य-क्रम बालक के निजी विकास तथा अच्छाई के लिए हो जिससे उन लोगों की भी उन्नति होती रहे जिनके बीच वह रह रहा हो।

प्रकृतिवादी दृष्टिकोण

प्रैगमैटिस्टिक दृष्टिकोण

डिवी बालक की रुचि पर विशेष ध्यान देते हैं। उनके अनुसार पाठ्य-क्रम चार भागों में विभक्त होना चाहिए—भावों का प्रदर्शन अथवा प्रकाशन, वस्तुओं का अन्वेषण, वस्तुओं का निर्माण तथा कलात्मक प्रदर्शन। उनके अनुसार बालक को इन समस्त क्षेत्रों में कार्य करने का अवसर देना चाहिए जिससे वह स्वयं इन बातों को सीख सके। भाववादी भावों को ही प्रधानता देते हैं। इनके अनुसार पाठ्य-क्रम दो भागों में विभक्त होना चाहिए—विज्ञान और मानवीय ज्ञान। वैज्ञानिक ज्ञान अन्ध विश्वास का नाश करता है और स्वतंत्र रूप से सोचने की शक्ति की वृद्धि करता है। सच्ची विवेचना की शक्ति तभी आती है जब आदमी किसी बात को लेकर उससे सिद्धान्त निरूपण करने तथा अनुभव और प्रत्यक्ष निरीक्षण द्वारा उस सिद्धान्त की सच्चाई सिद्ध करने की टेव डालता है। इसी के आधार पर वह यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के योग्य होता है। विज्ञान शास्त्र के अभ्यास से इस

डिवी का दृष्टिकोण

भाववादी दृष्टिकोण

प्रकार की आदत अवश्य पड़ जाती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। वैज्ञानिक शिक्षा से मनुष्य के भाव परिष्कृत अवश्य होते हैं, उसकी बुद्धि भी विकसित होती है, पर उसकी पाशविक प्रवृत्तियाँ ज्यों की त्यों बनी रहती हैं जिसके परिणाम स्वरूप संसार के बड़े-से-बड़े विध्वंसकारी युद्ध हुए हैं। इस पाशविकता को रोकने के लिए साहित्य और इतिहास की आवश्यकता पड़ती है। वस्तुतः वैज्ञानिक ज्ञान और साहित्यिक ज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं दोनों की समाज में आवश्यकता है और दोनों सामाजिक सन्तुलन के दो बराबर पलड़े हैं। इनमें से किसी एक के भी अभाव के कारण पूरे समाज की हानि हो सकती है। अतः पाठ्य-क्रम में दोनों का समावेश होना चाहिए।

विज्ञान एवं साहित्यिक ज्ञान एक दूसरे के पूरक

हमारा संस्कृत साहित्य हमें पाशविकता की ओर ले जाने से रोकता है। इससे हमें वह शिक्षा मिलती है जिसके आधार पर चलने से हम अपने को मनुष्य कहने के अधिकारी हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह हमें उस ज्ञान-राशि की ओर ले जाता है जिससे हम अपना भविष्य उज्ज्वल कर सकते हैं। संस्कृत साहित्य की इतनी उपादेयता होने पर भी इसको पाठ्य-क्रम में सम्मिलित करने के सम्बन्ध में शिक्षाविदों में मतैक्य नहीं है। कुछ लोग इसकी शिक्षा को अनावश्यक और हानिकारक मानते हैं। उनकी दृष्टि से संस्कृत पढ़ाना विद्यार्थियों का समय नष्ट करना है। वे संस्कृत को एक मृत भाषा मानते हैं और कहते हैं कि इसका अध्ययन न करने से किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती है, किन्तु ऐसी विचारधारा केवल उन्हीं लोगों की है जो संस्कृत के नाम पर उसका एक अक्षर भी नहीं जानते हैं।

प्रथम मत-संस्कृत एक मृत भाषा

मृत एवं जीवित का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। साधारणतया लोग उसी भाषा को मृतभाषा कहने लगते हैं जो बोल-चाल की भाषा नहीं रह जाती है। जहाँ तक ग्रीक और लैटिन भाषाओं का प्रश्न है, यह बात सत्य हो सकती है; पर इस आधार पर संस्कृत को मृतभाषा कहना सर्वथा अनुचित है। महर्षि यास्क द्वारा विरचित निरुक्त नामक ग्रन्थ इसे बोल-चाल की भाषा सिद्ध करने का एक प्रामाणिक साधन है। इन्होंने वैदिक संस्कृत से भिन्न साधारण जनता में बोली जाने वाली भाषा को 'भाषा' कहा है। इन्होंने इसमें विभिन्न प्रान्तों में व्यवहृत शब्दों के रूपान्तरित प्रयोगों का उल्लेख किया है,

संस्कृत बोल-चाल की भाषा-यास्क

जैसे कम्बोज में 'शवति' क्रिया पद का प्रयोग 'जाने' के अर्थ में होता था; पर आर्य लोग इसका प्रयोग संज्ञा पद के रूप में भिन्न अर्थ में करते थे। पूर्वी प्रान्तों में 'दाति' क्रिया पद का प्रयोग काटने के अर्थ में तथा इसी से बने हुए 'दात्र' संज्ञा शब्द का प्रयोग हँसिया के अर्थ में होता था। इससे यह सिद्ध होता है कि यास्क के समय में अर्थात् विक्रम से लगभग सात सौ वर्ष पूर्व संस्कृत साधारण बोल-चाल की भाषा थी।

संस्कृत बोल-चाल की भाषा-पाणिनि

पाणिनि के समय में भी संस्कृत का यही रूप प्रचलित था। वह भी इसे 'भाषा' के नाम से पुकारते थे। दूर से पुकारने, प्रणाम करने तथा आशीर्वाद देने के अवसर पर इन्होंने प्लुत स्वर के प्रयोग का प्राविधान किया है, जैसे, आगच्छ देवदत्त३, आचार्य३। देवदत्तोऽहं त्वामभिवादये, चिरंजीव देवदत३ आदि में देवदत्त और आचार्य शब्द के अन्त में 'अकार' प्लुत स्वर में प्रयुक्त हैं। इस नियम का प्रयोग साधारण बोल-चाल की ही भाषा में होता है। पाणिनि ने बोल-चाल के मुहावरों का भी उल्लेख किया है, जैसे दण्डा-दण्डि (डण्डा--डण्डी), केशा-केशि (नोचा-नोची), हस्ताहस्ति (हाथा-पाई) आदि। इन्होंने स्वर विधान की भी विस्तृत चर्चा की है। इन सब तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय की भाषा साधारण बोल-चाल की भाषा थी।

संस्कृत बोल-चाल की भाषा कात्यायन और पतंजलि

कात्यायन और पतंजलि के समय में बोल-चाल की भाषा के रूप में संस्कृत का प्रयोग और भी बढ़ने लगा। नित्य नये-नये शब्दों और मुहावरों का प्रयोग होने लगा। कात्यायन ने वार्तिक में इनकी व्युत्पत्ति का उल्लेख किया है। पतंजलि ने भी महाभाष्य में नये प्रयोगों की चर्चा की है। इसमें प्राजिता शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में एक वैयाकरण तथा एक सारथि के बीच हुए वाद-विवाद[1] का उल्लेख है जो इस प्रकार है—

वैयाकरण—इस रथ का 'प्रवेता' कौन है ?

सारथि—आयुष्मन् ! मैं इस रथ का प्राजिता (चलाने वाला) हूँ।

वैयाकरण—'प्राजिता' शब्द अशुद्ध है। सारथि—महोदय, आप केवल प्राप्तिज्ञ हैं, इष्टिज्ञ नहीं। वैयाकरण—

---

1. 2/4/56 सूत्र पर भाष्य।

अरे ! यह दुष्ट सूत (दुरुत) हमें कष्ट पहुँचा रहा है। सारथि—आप का 'दुरुत' प्रयोग ठीक नहीं है। 'सूत' शब्द 'सू' धातु से बना है, 'वेंञ्' धातु से नहीं। अतः यदि आप निन्दा करना चाहते हैं तो 'दुःसूत' शब्द का प्रयोग करें। इस संवाद से यह निष्कर्ष निकलता है कि सूत का कहना यथार्थ है। वैयाकरण तो केवल सूत्रों का ज्ञाता है उसे प्रयुक्त शब्दों का ज्ञान नहीं है।

संस्कृत और उज्जयिनी नरेश

भारत के अनेक राजाओं के अन्तःपुर में संस्कृत का ही प्रयोग होता था। उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य उनमें से एक थे। धारानरेश राजा भोज के समय में भी संस्कृत बोलचाल की भाषा के रूप में प्रचलित थी। उनके यह पूछे जाने पर कि क्या तुम कविता करना जानते हो, एक जुलाहा कहता है कि –

'काव्यं करोमि नहि चारुतरं करोमि,
यत्नात् करोमि यदि चारुतरं करोमि।
भूपाल मौलिमणि मण्डित पाद पीठ,
हे साहसाङ्क ! कवयामि, वयामि, यामि॥

इससे यह स्पष्ट है कि जिस भाषा को रथ हाँकने वाले तथा जुलाहे समझें और बोलें तथा उसमें कविता करें वह बोल-चाल की भाषा न हो और उसे मृत-भाषा कहा जाय, यह एक महान् भूल होगी।

संस्कृत और पुष्यमित्र शुङ्ग भारशिव, वाकाटक तथा गुप्त वंशीय राजा

शुङ्ग वंश के राजाओं ने भी संस्कृत को अपने शासकीय व्यवहार तथा धार्मिक प्रचार का माध्यम बनाया था। पुष्यमित्र शुङ्ग के समय का अयोध्या में प्राप्त शिलालेख इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है जिसमें उसके द्वारा दो अश्वमेध यज्ञ किये जाने का उल्लेख है। भारशिवों और वाकाटकों ने भी इसे इस पद पर प्रतिष्ठित किया था। इनके समय के उत्कीर्ण लेख ललित और काव्यमय संस्कृत में लिखे गये हैं। सिक्कों[1] तक के ऊपर संस्कृत के छन्दोबद्ध लेख अंकित हैं। समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भ अभिलेख, मेहरौली लौह स्तम्भ लेख, प्रभावती गुप्त का पूना ताम्रपट्ट अभिलेख, बन्धुवर्मन का मन्दसोर अभिलेख, स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ तथा भीतरी अभिलेख आदि संस्कृत में ही उल्लिखित हैं। मन्दसोर में प्राप्त अभिलेख में

---

1. **गुप्त वंशीय राजाओं के सिक्कों पर ललित संस्कृत के छन्दों में राजाओं की कीर्ति और विरुद का उल्लेख है, यथा,**

में तत्कालीन रेशमी वस्त्र-व्यवसाय और उसके विज्ञापन का सुन्दर उदाहरण मिलता है। इसमें दशपुर के बने हुए रेशमी वस्त्रों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "यौवन और कान्ति से युक्त तथा सोने के हार, ताम्बूल, पुष्पादि से विभूषित होने पर भी स्त्रियाँ एकान्त में अपने प्रिय जन के पास नहीं जाती जब तक कि दशपुर बने हुए रेशम के दो वस्त्र (साड़ी और चादर) नहीं धारण कर लेतीं। स्पर्श करने में कोमल, अनेक रंगों की भंगियों से चित्रित, नयनाभिराम दशपुर के रेशमी वस्त्रों से सम्पूर्ण पृथ्वी तल अलंकृत[1] है।

संस्कृत और वर्धन राज्य

वर्धन राजाओं ने भी संस्कृत को अपने शासकीय व्यवहार तथा धार्मिक प्रचार का माध्यम बनाया था। हर्ष के समय प्राचीन साहित्य और शास्त्रों का अध्ययन प्रचलित था और इस काल में काव्य, नाटक, आख्यायिका, कथा, दर्शन, धर्म-विज्ञान, गणित, ज्योतिष आदि पर संस्कृत में कई ग्रन्थ लिखे गये। हर्ष वर्धन स्वयं एक अच्छा लेखक और संस्कृत विद्वानों का आश्रय दाता था। उसके लिखे हुए ग्रन्थों में रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द नामक ग्रन्थ अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। इसकी सभा में बाण के अतिरिक्त मयूर, हरिदत्त, जयसेन, मातंग, दिवाकर आदि प्रसिद्ध कवि और लेखक रहते थे। हर्ष के पार्श्ववर्त्ती युग में भारवि, कुमार दास, रविकीर्ति, भूषण, कुमारिल, वामन

समुद्रगुप्त के सिक्कों पर—

पराक्रमः कृतान्त परशुर्जयत्यजितराजजेताजितः।
अप्रतिरथो विजित्य क्षितिं सुचरितैः दिवं जयति॥

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सिक्कों पर—

क्षितिमवजित्य सुचरितैः दिवं जयति विक्रमादित्यः।
नरेन्द्रचन्द्रः प्रथितदिवं जयत्यजेयोभुवि सिंहविक्रमः॥

1. तारुण्य-कान्त्युपचितोऽपि सुवर्णहार—
ताम्बूल-पुष्प-विधिना समलंकृतोऽपि,
नारीजनः प्रियमुपैति न तावदश्यां,
यावन्न पट्टमय-वस्त्रयुगानि धत्ते॥
स्पर्शवता वर्णान्तर-विभाग चित्रेण नेत्रसुभगेन।
यैस्सकलमिदं क्षितितलमलकृतं पट्टवस्त्रेण॥ (मन्दसोर अभिलेख)

आदि अनेक प्रसिद्ध विद्वान और लेखक थे। नालन्दा महाविहार संस्कृत शिक्षा के केन्द्रों में सबसे अधिक प्रसिद्ध था।

वर्धन साम्राज्य के पतन के पश्चात् जब इसका विकेन्द्रीयकरण हुआ और जब इसके स्थान पर छोटे-छोटे राज्यों का जन्म हुआ तब भी इन नये राज्यों ने संस्कृत को अपनाया। हिन्दू शाही राजवंश के सिक्कों पर 'श्री सामन्तदेवः' अंकित है। इसी वंश के राजा भीम के देवाई प्रस्तर अभिलेख में "महाराजाधिराज परमेश्वर शाही श्री भीम देवः" उत्कीर्ण है। 'राज-तरंगिणी' की रचना इसी समय में हुई थी। मौखरी वंश के सुप्रसिद्ध राजा यशोवर्मन के समय में उत्तररामचरित, महावीरचरित, मालतीमाधव, गौडवहो आदि सुप्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थों की रचना हुई थी। इसके अतिरिक्त राजोर (अलवर) अभिलेख, ग्वालियर की भोज प्रशस्ति, राजस्थान के प्रतीहार वंशी बाडक का जोधपुर शिलालेख, जूनागढ़ अभिलेख, विल्हारी अभिलेख, खजुराहो अभिलेख, विजोलिया अभिलेख, रीवाँ शिलालेख, महोबा शिलालेख, जबलपुर अभिलेख, हरसोल अभिलेख, उदयपुर प्रशस्ति, बेखाल शिलालेख, देवपारा अभिलेख आदि संस्कृत भाषा में ही उत्कीर्ण हैं। दक्षिण भारत के पल्लव राजाओं की अधिकांश प्रशस्तियाँ और राजकीय आलेख संस्कृत में ही पाये जाते हैं। इनके समय में संस्कृत भाषा और साहित्य को राज्य का प्राश्रय प्राप्त था। प्रथम महेन्द्र वर्मन ने 'मत्त-विलास-प्रहसन' नाम का अच्छा नाटक लिखा था। कुछ विद्वानों का कथन है भास और शूद्रक के नाटकों के संक्षिप्त संस्करण अभिनय के लिए पल्लव राजाओं की सभा में तैयार हुए थे। भारवि और दण्डिन् जैसे संस्कृत कवि पल्लवों की राज सभा में रहते थे।

संस्कृत और हिन्दी शाही, मौखरी तथा प्रतीहार वंशी राजा

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण पूर्व मध्य काल में संस्कृत भारत की संस्कृति और राजनीति की भाषा थी। प्रायः सभी विषयों पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ संस्कृत में ही लिखे गये। राजकीय कागज-पत्र, प्रशस्ति, दान-पत्र आदि संस्कृत में ही लिखे जाते थे। संस्कृत साहित्य, शास्त्र तथा विद्या की जो धारा गुप्त काल में प्रवाहित हुई थी, उसका वेग इस काल में भी अक्षुण्ण बना रहा। इसी काल मे भवभूति, वाक्पतिराज, राजशेखर, क्षेमेन्द्र, विल्हण, कल्हण, जयदेव, कृष्णमिश्र, भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि अच्छे कवि, कथा लेखक और नाटककार हुए जिनकी रचनाएँ संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि

संस्कृत और पूर्व मध्य काल

हैं। इस युग में मुक्तक काव्यों की भी रचना हुई थी। इनके प्रणेताओं में वाक्कूट, लाढचन्द्र तथा शीलाभहारिका के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कोश, व्याकरण तथा काव्यशास्त्र भी इसी युग की देन हैं। इनसे सम्बद्ध धन्वन्तरि निघण्टु, अभिधान रत्नमाला, तंत्रप्रदीप, धातु प्रदीप, शाकटायन का शब्दानुशासन, उद्भट का अलंकार-सार संग्रह, रुद्रट का काव्यालंकार, वामन की काव्यालंकार वृत्ति, आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक, राजशेखर का काव्य-मीमांसा आदि उच्चकोटि के ग्रन्थ हैं। नाट्यशास्त्र पर सागरनन्दिन् के नाटक रत्नकोश और धनंजय के दशरूपक का उल्लेख किया जा सकता है। दर्शन में शंकराचार्य के ग्रन्थ तो जगत् प्रसिद्ध हैं। इनके बाद इस युग के सबसे प्रसिद्ध दार्शनिक लेखक वाचस्पति मिश्र थे, जो सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र तथा सर्वदर्शन वल्लभ की उपाधियों से विभूषित थे। ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य पर उनकी भामती टीका सर्व प्रसिद्ध है। भोज ने योग के ऊपर राजमार्तण्ड नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। विज्ञान भिक्षु ने योग्यवार्तिक और योग सार संग्रह का प्रणयन किया। उदयन ने न्यायवैशेषिक पर तत्त्वशुद्धि, आत्मतत्त्वविवेक, बौद्धधिक्कार आदि कई ग्रन्थों की रचना की। प्रायः सभी दार्शनिक और धार्मिक सम्प्रदायों ने अपने-अपने साहित्य का भाण्डार भरा।

हिन्द चीन और पूर्वी द्वीपों में भी संस्कृत भाषा का प्रचुर मात्रा में प्रसार और प्रचार था। कम्बोडिया के राजा रुद्रवर्मन का एक अभिलेख संस्कृत में प्राप्त हुआ है। इसका शासन काल 514 ईस्वी के आस-पास था। इस राज्य के प्रथम और द्वितीय जयवर्मन, यशोवर्मन और द्वितीय सूर्यवर्मन के शासन काल के कई सौ संस्कृत में उत्कीर्ण लेख मिले हैं। सुमात्रा के लिगोर नामक नगर में प्राप्त एक संस्कृत अभिलेख में वहीं के श्री विजय[1] नामक राज्य के एक राजा की शक्ति का वर्णन है।

मुस्लिम काल में मुसलमान शासकों ने संस्कृत भाषा को प्रश्रय प्रदान किया था जिसके फलस्वरूप इसकी धारा-निर्बाध गति से प्रवाहित होती रही। महमूद[2] गजनवी ने अपने सिक्कों पर 'कलमा' का वास्तविक अनुवाद संस्कृत भाषा तथा नागरी लिपि में उत्कीर्ण करवाया था जो काफिरों की भाषा और

---

1. श्री विजय को 'सिब्रुज' कहते हैं।
2. 12 अक्तूबर 1973 के 'दैनिक आज' से उद्धृत (पृष्ठ सं 6) तथा उसी के साप्ताहिक विशेषांक के आधार पर।

लिपि थी। कलकत्ते के आशुतोष संग्रहालयों में सुरक्षित शेरशाह सूरी के सिक्कों पर संस्कृत लेख तथा लक्ष्मी एवं सरस्वती के चित्र अंकित हैं। मुगलों के समय में यद्यपि फारसी शाही दरबार की भाषा थी फिर भी संस्कृत को एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था और न्यायालयों में फारसी के साथ ही साथ उसका भी प्रयोग किया जाता था। 'वृहत् बाँगरे इतिहास' के लेखक डाक्टर दिनेशचन्द्र सेन के कथनानुसार औरंगजेब के समय में भी न्यायालयों में संस्कृत का प्रयोग किया जाता था। स्वतंत्र भारत की संविधान सभा के अधिवेशन में एक बंगाली मुस्लिम सदस्य ने हिन्दी के स्थान पर संस्कृत को भारत की राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने का प्रस्ताव किया था। बँगला देश में अनेक संस्कृत विद्वान हुए हैं जिनमें सर्व प्रसिद्ध डाक्टर मुहम्मद शहीदुल्ला हैं। कुछ मुसलमान शासकों ने संस्कृत के विद्वानों को प्रश्रय देकर संस्कृत को संरक्षण प्रदान किया। दाराशिकोह की भाँति बहुत से मुसलमान बादशाहों ने संस्कृत साहित्य का अध्ययन कर उसके विकास में योग दान दिया। दाराशिकोह वेदान्त का प्रकाण्ड विद्वान था। उसने अथर्ववेद, गीता, योगवाशिष्ट, उपनिषद् आदि ग्रन्थों का अनुवाद किया था। शाहजहाँ ने अब्दुल्ला फीरोज जंग को सलोतरी का अनुवाद करने के लिए प्रोत्साहित किया था जिसमें 16000 श्लोक हैं। शाहजहाँ का साला शाइस्ता खाँ संस्कृत का उद्भट विद्वान था। वह संस्कृत के श्लोक लिखा करता था जिनमें से कुछ चतुर्भज के रसकल्प द्रुम में उद्धृत हैं।

मुस्लिम काल और संस्कृत

बादशाह अकबर ने बदायूनी नकीब खाँ से वाल्मीकि रामायण का फारसी में अनुवाद कराया था। फैज ने भास्कराचार्य के गणित के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ लीलावती का फारसी में अनुवाद किया था। इसी समय संस्कृत के एक मुसलमान विद्वान् ने नलोपाख्यान का भी फारसी में अनुवाद किया था और इसका शीर्षक 'नलवदम्न' रखा था। शाह मुहम्मद शहाबदी में कल्हण विरचित राजतरंगिणी का भी अनुवाद किया था। प्रथम फारसी संस्कृत शब्दकोश अकबर के ही शासन काल में तैयार हुआ था। सुप्रसिद्ध संस्कृत कवि गोविन्दभट्ट अकबर के ही दरबारी कवि थे।

उत्तरी बंगाल के सुल्तान नसरत शाह भी संस्कृत प्रेमी थे। इन्हीं की संरक्षता में दासकृत महाभारत का बंगाली में अनुवाद हुआ था। बंगाल के सुल्तान जलालुद्दीन भी संस्कृत के अनुरागी थे। इन्होंने रामायण के बंगाली अनुवादक कृतवास को आश्रय

बंगाल के मुस्लिम

शासकों का संस्कृत प्रेम

प्रदान किया था। सुल्तान अलाउद्दीन हुसैन शाह के एक सेनानायक की प्रेरणा से कवीन्द्र परमेश्वर ने शासक हुसैन शाह के कहने से मालावार वसु ने भागवत् पुराण का अनुवाद किया था। इन्हें सुल्तान की ओर से गुणराज खाँ की उपाधि मिली हुई थी।

इस प्रकार मुसलमानों द्वारा संस्कृत को प्रश्रय देने का कार्य खलीफाओं के समय से ही आरम्भ हुआ था। बगदाद के खलीफाओं की प्रेरणा से गणित, खगोलशास्त्र, ज्योतिष, संगीत, खनिज विज्ञान, कृषि तथा चिकित्सा शास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थों का अनुवाद कराया गया था। ये अनुवादक इन्हीं खलीफाओं के दरबार में रहते थे। हाल में ही मध्य एशिया में रूसी पुरातत्त्ववेत्ताओं द्वारा की गई कुछ मुस्लिम मकबरों की खुदाई से देवनागरी लिपि में लिखे हुए संस्कृत के कुछ शिलालेख प्राप्त हुए हैं जिनसे सिद्ध होता है कि किसी समय संस्कृत मध्य एशिया में भी उच्चवर्गीय मुसलमानों की भाषा थी।

अंग्रेजी शासन काल में यद्यपि संस्कृत की दशा दयनीय थी और मेकाले की बाबू पैदा करनेवाली नीति से इसके विकास को गहरी ठेस लगी, फिर भी इसके अध्ययन-अध्यापन का कार्य पाठशाला पद्धति के अन्तर्गत विधिपूर्वक सम्पन्न होता रहा और इसकी रक्षा होती रही। इस काल में विदेशी विद्वानों में संस्कृत पठन-पाठन की प्रवृत्ति की वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप अनेक संस्कृत ग्रन्थों का विदेशी भाषाओं में अनुवाद किया गया और विदेशों में इसका खूब प्रचार हुआ। इसकी चर्चा पिछले अध्याय में की जा चुकी है।

संस्कृत की वर्तमान स्थिति

आज भी भारत के विभिन्न प्रदेशों के पण्डित परस्पर संस्कृत में बोलते, पुस्तकों की रचना करते एवं पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन करते हैं। इस सम्बन्ध में पिछले अध्याय में विस्तृत रूप से चर्चा की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त बहुत से छात्र अब भी भारतवर्ष के विभिन्न विद्यालयों, पाठशालाओं, स्कूलों, कालेजों, गुरुकुलों, विश्वविद्यालयों में आदि में संस्कृत का अध्ययन कर रहे हैं। उन्हें राज्य एवं पण्डित समुदाय की ओर से शास्त्री, आचार्य आदि की उपाधियाँ प्रदान की जा रही हैं। उत्तर प्रदेश शासन ने काशी में डा० सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना की है। केरल के एक सुप्रसिद्ध संस्कृत महाविद्यालय की स्थापना एवं उसके संचालन का श्रेय एक ईसाई परिवार को है। तिरुपति एवं दरभंगा के विश्वविद्यालय अपने ढंग के निराले हैं ही।

आजकल तो नित्य संस्कृत में आकाशवाणी के माध्यम से समाचार प्रसारण भी हो रहा है।

ऐसी परिस्थिति में संस्कृत भाषा को मृतभाषा कहा जाय, कहाँ तक उचित होगा ? यदि यह कहा जाय कि इसका क्षेत्र सीमित है और थोड़े ही लोग इसका प्रयोग कर सकते हैं, तो क्या अंग्रेजी के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता ? भारतवर्ष की साक्षरता की वर्तमान स्थिति में अंग्रेजी जानने वालों की संख्या कितनी होगी, एक विचारणीय प्रश्न है। क्या कुछ लोगों के अतिरिक्त शेष जनता अंग्रेजी को व्यवहार में लाती है ? ऐसी दशा में संस्कृत के प्रति उक्त दृष्टिकोण अपनाने वाले के लिए क्या अंग्रेजी एक मृत भाषा है ? क्या अंग्रेजी जानने वाले भारतीय अंग्रेजों की भाँति साधारण बोल-चाल की अंग्रेजी बोल सकते हैं ? वे तो केवल साहित्यिक अंग्रेजी लिख तथा बोल पाते हैं। इसके अतिरिक्त यदि इसकी उपयोगिता और इसके पढ़ने में व्यय एवं समय पर ध्यान दिया जाय तो लाभ नहीं के बराबर है। पर इसके अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व पर किसी को भी किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। संस्कृत अंग्रेजी की भाँति न तो एक विदेशी भाषा है और न तो ग्रीक तथा लैटिन के समान एक मृत भाषा है। भारत की अधिकांश भाषाएँ या तो संस्कृत से निकली हैं अथवा उससे प्रभावित हैं। अतः अंग्रेजी की अपेक्षा एक भारतीय इसे अत्यधिक सुविधा से पढ़ सकता है क्योंकि इन भाषाओं के अधिकांश शब्द या तो संस्कृत के तत्सम शब्द हैं अथवा तद्भव और इनका ढाँचा भी बहुधा संस्कृत पर आश्रित है। इसके अतिरिक्त अपनी वर्तमान आवश्यकताओं के अनुसार हम लोग नित्य प्रति संस्कृत के तत्सम एवं प्राविधिक शब्दों से अपनी मातृभाषा के शब्द-भाण्डार की अभिवृद्धि करते जा रहे हैं जिससे उनका इनमें प्रचार हो रहा है। ऐसी परिस्थिति में, चाहे वह केवल कुछ ही शब्दों के लिए क्यों न हो, क्या हम संस्कृत को एक जीवित भाषा के रूप में नहीं व्यवहृत कर रहे हैं ? यदि कोई व्यक्ति भारत की वर्तमान भाषाओं का गहन अध्ययन करे तो वह उनके संस्कृत मय होने के लक्षणों को देखे बिना नहीं रहेगा। जब अपनी मातृभाषा की अभिवृद्धि एवं संस्कृत की सुरक्षा की दृष्टि से संस्कृत के अक्षय भाण्डार को इतना महत्त्व प्रदान किया जा रहा है तो ऐसे लोग जो इसके पक्षपाती हैं इसके अध्ययन-अध्यापन के बिना नहीं रह सकते। यद्यपि ऐसा करने में कठिनाइयाँ अवश्य हैं किन्तु इनकी शिक्षण-पद्धति में सुधार कर इन्हें दूर किया जा सकता है। इस प्रकार संस्कृत का अध्ययन मातृभाषा का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने में सहायक

आलोचना

ही नहीं अपितु वाणी की शुद्ध एवं शिष्ट अभिव्यक्ति के लिए अपरिहार्य भी है।

संस्कृत के सम्बन्ध में भारतीय नेताओं के मत

भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में "संस्कृत" अनेक भारतीय भाषाओं की जन्मदात्री है। द्रविड़ भाषाओं पर भी इसका प्रभाव है। यह आज भी इस देश के विभिन्न क्षेत्रों के पण्डितों के मध्य एक सामान्य भाषा के रूप में कार्य कर रही है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि यह एक जीवित भाषा नहीं है। संस्कृत साहित्य का अत्यधिक प्रभाव केवल हमारे ही देश पर नहीं अपितु एशिया के दूसरे भागों पर भी है। संस्कृत ने हम लोगों के मस्तिष्क को इस सीमा तक प्रभावित किया है कि इसका हमें ज्ञान ही नहीं है। एक अर्थ में संस्कृत साहित्य राष्ट्रीय है किन्तु इसका उद्देश्य विश्वव्यापी है। यही कारण था कि इसने उन लोगों के ध्यान को भी आकर्षित किया जो एक संस्कृति विशेष के अनुयायी न थे।"

भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने संस्कृत विश्व परिषद् के वाराणसी अधिवेशन के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि "भौतिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा में समन्वय आवश्यक है और यह समन्वय संस्कृत के अध्ययन के अतिरिक्त किसी अन्य कार्य से अधिक नहीं हो सकता है।" श्री प्रकाशवीर शास्त्री के मतानुसार जो लोग यह कहते हैं कि संस्कृत कभी भी जनता की बोल-चाल की भाषा नहीं थी, वे लोग इतिहास नहीं जानते। इन प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि संस्कृत केवल ग्रन्थों में ही प्रयुक्त होने वाली साहित्यिक भाषा न थी अपितु वह लोक भाषा भी थी। वह एक मृत-भाषा नहीं है। वह तो एक जीवित भाषा है और उसे पाठ्य-क्रम में स्थान मिलना चाहिए।

द्वितीय मत (।) पाठ्य-क्रम में संस्कृत वैकल्पिक विषय के रूप में

पाठ्य-क्रम में संस्कृत के स्थान-निर्धारण के सम्बन्ध में कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इसके अध्ययन को अनावश्यक तो नहीं समझते किन्तु वे इसके प्रचार-प्रसार पर बल न देकर आधुनिक विषयों पर अधिक बल देते हैं। उनके विचार से संस्कृत पाठ्यक्रम में रहे और जो लोग इसे पढ़ना चाहें पढ़ें। वे लोग पाठ्यक्रम में इसे एक वैकल्पिक विषय के रूप में रखना चाहते हैं। इस विचारधारा को यदि अपनाया जाय तो संस्कृत का प्रचार एवं प्रसार सीमित हो जायगा और इसके अध्ययन

के सम्बन्ध में व्यापक जागरुकता का अभाव बना ही रहेगा जिसके परिणाम-स्वरूप अधिकांश लोग इसके अध्ययन से लाभ न उठा सकेंगे। पर देश की वर्तमान परिस्थिति में संस्कृत के पुनरुद्धार एवं प्रसार की अत्यन्त आवश्यकता है। स्वामी विवेकानन्द ने एक नहीं अनेक बार संकेत किया है कि संस्कृत की शिक्षा नितान्त आवश्यक है। यही एक मात्र ऐसा साधन है जिसके द्वारा हिन्दू समाज एकता के सूत्र में बाँधा जा सकता है। भारतवर्ष में तो संस्कृति संस्कृत की अनुगामिनी है। संस्कृत ने अपने सौन्दर्य, साहित्य आदि के लिए विदेशी विद्वानों को भी अपनी ओर आकर्षित किया है; फिर भारत में तो इसकी स्थिति ही निराली है। यह हमारी सभ्यता के मूल में स्थित है। इसलिए इसे हमारे पाठ्य-क्रम में अनिवार्य रूप से स्थान मिलना चाहिए।

कोमकोटि पीठ के शंकराचार्य का मत

कोमकोटि पीठ के शंकराचार्य ने भी इसी आशय का मत व्यक्त किया है। उनका कथन है कि हमारी संस्कृति की मूलभाषा संस्कृत है। इसी के उपकार स्वरूप लोक में दूसरी भाषाएँ सुशोभित हैं। वर्तमान जीव लोक के लिए संस्कृत भाषा में प्रकाशित आर्ष-शास्त्रों एवं कालिदास आदि महाकवियों के साहित्य के अध्ययन, बोध, आचरण-प्रचारण के द्वारा ही उनका पालन करना ही हमारे भारत देश की उन्नति का कारण है। संस्कृत भाषा के अतिरिक्त न तो कोई भाषा समृद्ध ही है और न तो इसके बिना जीवित ही रह सकती है। संस्कृत के बिना कोई भी भारतीय यथार्थतः भारतीय भी नहीं है। यह भाषा तो भारतीयों की जीवन भाषा है।

द्वितीय मत (2) संस्कृत अनूदित ग्रन्थों से इसकी कमी की पूर्ति

संस्कृत को पाठ्य-क्रम में वैकल्पिक विषय के रूप में रखने वाले लोगों का यह भी मत है कि केवल मातृभाषा के पढ़ने से ही संस्कृत न पढ़ने की क्षति की पूर्ति की जा सकती है। आधुनिक भाषाओं में संस्कृत भाषा के अनूदित ग्रन्थों से ही हम इस कमी को पूरा कर सकते हैं। पर यह उनका कोरा भ्रम है। अनुवाद अनुवाद ही है। अनुवाद में मौलिक ग्रन्थों की सरसता कहाँ ? वे इनकी कोटि में कदापि नहीं आ सकते हैं। एक साहित्यिक ग्रन्थ को भाषा का तो अनुवाद हो सकता है किन्तु उसके लेखक की शैली का अनुवाद नहीं किया जा सकता है। अनुवाद किये हुए ग्रन्थों के अध्ययन में वह आनन्द कहाँ जो मौलिक ग्रन्थों के अध्ययन में मिलता है। वास्तविक आनन्द की प्राप्ति तो मौलिक ग्रन्थों के अध्ययन से मिलती है।

अनुवाद तो एक धाई के सदृश और मौलिक ग्रन्थ एक माता के सदृश है। दोनों में समानता का प्रश्न ही नहीं उठता। धाई धाई ही है और माता माता ही। जान पड़ता है ऐसी विचारधारा वाले लोगों को 'धाई' से ही पाला पड़ा है। वह माता के स्नेह से उत्पन्न आनन्द का आस्वादन नहीं कर पाये हैं। इसी प्रसंग में श्री अनन्तशयनम् आयंगर तो यहाँ तक कहते हैं कि जो संस्कृत नहीं जानता वह 'संस्कृत' नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्राचीन काल से ही हमारी जीवन पद्धति एवं परम्पराएँ केवल संस्कृत में ही व्यक्त हुई हैं। गीता, उपनिषद् आदि को कुछ लोग अंग्रेजी के माध्यम से पढ़ते हैं, कितनी हास्यास्पद बात है। क्या कोई अंग्रेज शेक्सपीयर, मिल्टन आदि को किसी अन्य भाषा के माध्यम से पढ़ता है ?.....यदि आज इस वर्तमान परिस्थिति में भी हम उन्नति करना चाहते हैं तो हमें संस्कृत को अपने जीवन के आधार के रूप में पुनः स्वीकार करना पड़ेगा। बिना इसके हमारे सारे प्रयत्न निष्फल रहेंगे।

इसी विचारधारा के लोगों का यह भी कथन है कि केवल मातृभाषा के लेखकों के गहन अध्ययन से ही एक व्यक्ति इसमें दक्षता प्राप्त कर सकता है।

द्वितीय मत (3) मातृभाषा का शब्द व्युत्पत्ति विषयक अध्ययन पर्याप्त

मातृभाषा के शब्द व्युत्पत्ति विषयक अध्ययन को ऐसा रूप दे दिया जाय कि जिससे संस्कृत के विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता ही न हो। संस्कृतज्ञ इस तर्क का खण्डन करते हुए कहते हैं कि कम से कम हाई स्कूल स्तर तक संस्कृत का ज्ञान आवश्यक है क्योंकि इसके बिना प्राकृत, हिन्दी, बंगाली आदि भाषाओं का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना कठिन है। यह सबकी सब किसी न किसी रूप में अपने शब्द भाण्डार अथवा ढाँचे के लिए संस्कृत पर आश्रित हैं। संस्कृत के स्थान पर मातृभाषा का अध्ययन करने और उसे मातृभाषा से अलग करने अथवा स्कूल स्तर पर दोनों को एक विषय के रूप में मिला देने की नीति बड़ी ही घातक होगी जो संस्कृत के ही साथ अन्याय नहीं करेगी अपितु मातृभाषा के ज्ञान को भी अनियमित कर देगी। इन तथ्यों के आधार पर यह बात निःसन्देह कही जा सकती है कि संस्कृत का कम से कम हाई स्कूल स्तर का ज्ञान परमावश्यक है। संस्कृत के इतने ज्ञान के बिना छात्रों के लिए मातृभाषा का शब्द व्युत्पत्ति विषयक अध्ययन रुचिकर नहीं हो सकता है। दूसरे शब्दों में एतद्विषयक अंग के अध्ययन की रीति विश्लेषणात्मक है जो शब्दों के प्रकृति और प्रत्यय को

अलग-अलग कर देती है। सम्भवतः यह पद्धति छात्रों को हतोत्साहित करे जिनका भाषा विषयक अध्ययन सर्वप्रथम संश्लेषणात्मक रहा हो और फिर विश्लेषणात्मक। अतः आरम्भ में कुछ वर्षों तक शब्दों के बने बनाये रूपों को जो भाषा में व्यवहृत होते हैं, स्वतंत्र शब्दों की तरह व्यवहार करना चाहिए और जैसे-जैसे छात्रों के भाषा विषयक ज्ञान की वृद्धि होती जाय, उन्हें विशिष्ट शब्दों का संश्लेषणात्मक ज्ञान कराया जाय।

इस विचारधारा के लोग वैज्ञानिक विषयों पर अधिक बल देते हैं और संस्कृत को एक प्राचीन भाषा कह कर उसे गौण स्थान देने के पक्ष में हैं। ये लोग भूल जाते हैं कि भूत, भविष्य और वर्तमान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वर्तमान का पूर्ण ज्ञान भूत एवं भविष्य के ज्ञान के बिना अधूरा है। प्राचीन एवं आधुनिक वैज्ञानिक विषयों में किसी प्रकार का विरोध नहीं होना चाहिए क्योंकि विज्ञान के अन्तर्गत स्वास्थ्य विज्ञान, रसायन विज्ञान, भौतिक विज्ञान, गणित, व्याकरण, राजनीति आदि विषयों का समावेश है। यद्यपि आधुनिक वैज्ञानिक विषय स्वयं सर्वाङ्गपूर्ण हैं फिर भी इन्हें प्राचीन वैज्ञानिक विषयों से सम्बन्ध विच्छेद नहीं करना चाहिए।

द्वितीय मत (4) प्राचीन भाषा अतः वैज्ञानिक विषयों पर बल

आधुनिक मनोवृत्ति के पोषकों को यह जानना चाहिए कि अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, राजनीति-शास्त्र, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र आदि की बहुत सी सुन्दर बातें संस्कृत ग्रन्थों में भरी पड़ी हैं। इन विषयों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए इन ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक है। श्री मोरार जी देसाई इसी सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए कहते हैं कि यद्यपि विज्ञान एवं प्राविधिक विज्ञान ने आशातीत उन्नति की है और मानवीय ज्ञान का अत्यधिक विस्तार किया है, पर तथ्य तो यह है कि मनुष्य विवेक के बिना इनका उचित ढंग से प्रयोग करने के योग्य न होगा। प्रत्येक देश के विवेक का अपना अलग-अलग स्रोत है। हम भारतीय अपने प्राचीन साहित्य में इसकी ऐसी बहुमूल्य निधि रखते हैं कि हमें इसके सार को ग्रहण किये बिना अपने व्यक्तित्व को पूर्णत्व प्रदान करने में कठिनाई होगी। चूँकि यह सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य संस्कृत में है। अतः इस भाषा का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है।

इस मत के लोगों का यह भी कथन है कि संस्कृत तो केवल कर्म-काण्ड की भाषा है। इसमें धर्म-कर्म के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। इसीलिए वे पाठ्य-क्रम में इसे और भी गौण स्थान देने के पक्ष में हैं। पर पिछले अध्याय

में हमने इनके इस भ्रम को दूर करने का यत्न किया है और यह सिद्ध कर दिया है कि संस्कृत भाषा एक सर्वाङ्गपूर्ण भाषा है और इसमें आधुनिकतम विषयों के भी स्रोत पाये जाते हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। डा० हरे कृष्ण मेहताब ने इन लोगों का मुँहतोड़ उत्तर देते हुए कहा है कि उनका यह कहना कि संस्कृत केवल धर्म और दर्शन की ही भाषा है, अनुचित है। इसके पास राज्य-शासन, कला, समाज शास्त्र तथा दूसरे बहुत से आधुनिक विषयों का साहित्य है। इसी प्रकार रामायण, महाभारत आदि को केवल धार्मिक ग्रन्थ ही मानना गलत है। उनमें तो धार्मिक बातों के अतिरिक्त राजनीति की अधिक चर्चा है। अतः पाठ्य-क्रम में संस्कृत को गौण स्थान न देकर प्रधान स्थान देना चाहिए। एक बात और, "संस्कृत की सत्ता एवं महत्ता को परखने वाले व्यक्ति ही भारत के नेता बने हैं। स्वराज्य का पाठ पढ़ाने वाले लोकमान्य तिलक, भारतीय सभ्यता को प्रतिष्ठापित करने वाले महामना मालवीय, वेदान्त के व्याख्याता और स्वतंत्र भारत के प्रथम भारतीय गवर्नर जनरल श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य आदि संस्कृत के ही अनुरागी और प्रेमी तो हैं। भारत के नये संविधान में भी संस्कृत को समुचित स्थान दिया गया है। संक्षेपतः भारत की आत्मा संस्कृत में है। उसे ढूँढ़ने के लिए हमें संस्कृत की ही शरण में जाना होगा।

द्वितीय मत (5) कर्मकाण्ड की भाषा अतः पाठ्य-क्रम में गौणातिगौण स्थान

संस्कृत की वर्तमान परिस्थिति एवं उसके महत्त्व को देखते हुए कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि इसे माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्य-क्रम में अनिवार्य स्थान मिलना चाहिए। इनका यह मत है कि संस्कृत अब केवल प्राचीन युग की ही भाषा नहीं है, अपितु वर्तमान युग की और एक स्वतंत्र राष्ट्र की भाषा है जिसकी संस्कृति उसके विपुल साहित्य में निहित है। आज देश के कोने-कोने में अनेक छात्र संस्कृत पढ़ते, उसी में अपने भावों को व्यक्त करते तथा अन्त में उसी के फलस्वरूप अनेक उपाधियों से विभूषित हो अपनी जीवन-नौका को यत्र-तत्र खेते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इसी भाषा के प्रचार एवं प्रसार के लिए स्थान-स्थान पर संस्कृत पाठशालाओं, विश्वविद्यालयों आदि की स्थापना हो रही है। संस्कृत विश्व परिषद् की स्थापना का श्रेय इसी विचारधारा को है। संस्कृत पढ़ने वाले छात्रों को प्रोत्साहन देने के लिए केन्द्रीय और प्रदेशीय सरकारें तरह-तरह की छात्र वृत्तियाँ भी प्रदान कर रही हैं।

तृतीय मत, पाठ्य-क्रम में अनिवार्य स्थान

संस्कृत आयोग

संस्कृत के अध्ययन एवं अध्यापन के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए भारत सरकार ने एक आयोग की स्थापना की थी और डा० सुनीति कुमार चटर्जी को इसका अध्यक्ष बनाया था। इस आयोग ने इसके सम्बन्ध में सभी दृष्टिकोणों से अध्ययन कर केन्द्रीय सरकार के समक्ष अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा था कि संस्कृत के महत्त्व को देखते हुए इसे माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्य-क्रम में अनिवार्य स्थान मिलना चाहिए जिससे भारत का बच्चा-बच्चा संस्कृत के अध्ययन से लाभान्वित हो सके। इसने मातृभाषा, अंग्रेजी, राष्ट्र भाषा हिन्दी या अन्य भारतीय भाषा तथा संस्कृत को अनिवार्य करने के निमित्त अपनी संस्तुति की है। इसने इसे कार्यान्वित करने के लिए चार योजनाएँ भी प्रस्तुत की हैं जो इस प्रकार हैं—

प्रथम योजना—(1) मातृभाषा (या क्षेत्रीय भाषा) (2) अंग्रेजी (या हिन्दी या हिन्दी-भाषी प्रदेशों के लिए अन्य आधुनिक भाषा) और (3) संस्कृत (या कोई अन्य प्राचीन भाषा)

द्वितीय योजना—(1) मातृभाषा (या क्षेत्रीय भाषा), (2) अंग्रेजी (3) हिन्दी या अन्य भारतीय भाषा (4) संस्कृत।

तृतीय योजना—यह योजना द्वितीय योजना की तरह है किन्तु इसके अन्तर्गत न तो संस्कृत की परीक्षा हो और न यह परीक्षा-फल को प्रभावित करे। इसके अतिरिक्त यह विशेष योग्यता एवं छात्र-वृत्ति के लिए मापदण्ड हो। परीक्षा का विषय न होने के कारण इसकी उपेक्षा हो जाने की सम्भावना से आयोग द्वारा इसकी संस्तुति नहीं की गई।

चतुर्थ योजना—इसमें द्वितीय योजना में दी हुई प्रथम तीन भाषाएँ हैं। इसके अन्तर्गत मातृभाषा या हिन्दी अथवा इन दोनों के साथ संस्कृत अनिवार्य रूप से पढ़ायी जाय और इस तरह जो पाठ्य-क्रम तैयार किया जाय वह कम से कम पाँच वर्ष का हो। इसके पश्चात् संस्कृत पर अधिक ध्यान दिया जाय और इसकी परीक्षा में उत्तीर्ण होना अनिवार्य कर दिया जाय।

संस्कृत को पाठ्य-क्रम में अनिवार्य रूप से स्थान दिलाने के सम्बन्ध में आयोग के सुझाव इस प्रकार हैं—

'स्कूलों और कालेजों की सामान्य शिक्षा-योजना के अन्तर्गत संस्कृत के अध्ययन के लिए समुचित व्यवस्था करने की आवश्यकता की ओर शासन का

ध्यान आकर्षित करते हुए आयोग कहता है कि यदि ऐसा न किया गया तो वर्तमान युग में संस्कृत शिक्षा की जो प्रगति हुई है, उसे ऐसा धक्का लगेगा जो अवाञ्छनीय होगा। उसके विचार से यह व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि किसी न किसी तरह से, समस्त आवश्यक अपवादों के होते हुए भी भारतीय छात्र स्वतः संस्कृत का अध्ययन करने लगें। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए संस्कृत पढ़ने वाले छात्रों की संख्या अथवा धन के आधार पर दिये गये तर्कों से प्रभावित हुए बिना ही देश के विद्यालयों में संस्कृत अध्यापन की अनिवार्य व्यवस्था होनी चाहिए। इसीलिए विषयों का भी वर्गीकरण इस तरह किया जाना चाहिए जिससे वे छात्र जो संस्कृत पढ़ना चाहते हों, इससे वंचित न रह जायें।

आयोग के सुझाव

उपर्युक्त आयोग के अतिरिक्त भारत के अन्य विद्वानों ने भी संस्कृत को अनिवार्य रूप से पढ़ाये जाने के सम्बन्ध में समय-समय पर अपना मत व्यक्त किया है। इनमें से कुछ के मत इस प्रकार हैं—

श्री सुब्रह्मण्यदेशिकाचार्य के मतानुसार 'संस्कृत भाषा उत्तर भारत में हिन्दी में तथा दक्षिण भारत में द्राविड भाषा में व्यवहार में लाये जाने वाले शब्दों की जननी है। द्राविड-कुल में उत्पन्न आन्ध्रादि के बहुत से शब्द संस्कृत मिश्रित दिखायी देते हैं। इसलिए संस्कृत का अध्ययन भारत देश में चारों ओर पहले ही से अभ्यास की जाने वाली मातृभाषा एवं राष्ट्र भाषा के लिए बड़ा ही उपकारी सिद्ध होगा। यह लेश मात्र भी बाधक न होगा। इसलिए पाँचवीं कक्षा से आरम्भ कर आठवीं कक्षा तक संस्कृत नियमित रूप से पढ़नी चाहिए।

अन्य विद्वानों का मत

डा० हरेकृष्ण मेहताब इससे सहमत हैं। उनका कथन है कि "मैं इस विचारधारा से पूर्ण रूप से सहमत हूँ कि स्कूलों और कालेजों में संस्कृत अनिवार्य हो। यह मेरा विश्वास है कि जब तक कि कोई व्यक्ति संस्कृत अच्छी तरह नहीं जान लेता है तब तक वह अपनी क्षेत्रीय भाषा में भी दक्ष नहीं हो सकता है। यह संस्कृत भाषा ही है, जो युगों से सांस्कृतिक दृष्टि से भारत को एकता के सूत्र में बाँधने में सक्षम रही है।"

संस्कृत को अनिवार्य बनाने के लिए अन्य विद्वानों के मत

श्री राम प्रसाद मुखर्जी, भूतपूर्व न्यायाधीश, कलकत्ता हाई कोर्ट ने भी यही मत व्यक्त किया है। उनका विचार है कि "भारत में केवल तीस या चालीस वर्ष पूर्व संस्कृत अनिवार्य थी और अब हमें देखना है कि हमारे प्रयत्नों से यह पुनः

अनिवार्य कर दी जाय। इतना ही नहीं अपितु इसकी स्थिति पहले से दृढ़ हो क्योंकि अब हम स्वतंत्र हो चुके हैं और हमें अपने देश का पुनर्निर्माण करना है।

आयोग की उपर्युक्त संस्कृति तथा विद्वानों के स्पष्ट मतों की अभ्युक्ति के होते हुए माध्यमिक शिक्षा परिषद ने संस्कृत को अनिवार्य करने में अपनी सहमति नहीं व्यक्त की। भारत द्वारा स्वीकृत त्रिभाषा-सूत्र में भी संस्कृत को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया गया। इसमें तो केवल अंग्रेजी, हिन्दी तथा मातृभाषा अथवा किसी अन्य आधुनिक भाषा को ही वरीयता दी गयी। कोठारी[1] आयोग ने तो संस्कृत की एकदम अवहेलना की है। यह इस प्रस्ताव से भी सहमत नहीं है कि संस्कृत या अन्य किसी भाषा को त्रिभाषा सूत्र में स्थान दिया जाय। इसने यह मत व्यक्त किया है कि संस्कृत, अरबी जैसी प्राचीन भाषाएँ आठवें दर्जे से केवल वैकल्पिक रूप में पढ़ाई जायँ और कुछ चुने हुए विश्व-विद्यालयों में इनके अध्ययन केन्द्र खोल दिये जायें।

माध्यमिक शिक्षा-परिषद् की असहमति

माध्यमिक शिक्षा परिषद की उपर्युक्त असहमति पर अपना मत व्यक्त करते हुए डा० कन्हैया लाल माणिक्य लाल मुंशी ने कहा है कि संस्कृत आयोग की इस संस्तुति को कि शिक्षा के माध्यमिक स्तर पर संस्कृत को एक अनिवार्य के रूप में स्वीकार कर लिया जाय, अस्वीकार करते हुए माध्यमिक शिक्षा परिषद ने जो मत व्यक्त किया है, वह अत्यन्त खेद जनक है। संस्कृत को हिन्दी अथवा किसी अन्य क्षेत्रीय भाषा के विकल्प के रूप में रखना अत्यन्त अनुचित है। यह संस्कृत को समाप्त कर देने तथा दूसरी भाषा को पंगु बना देने का सुनिश्चित मार्ग है।

डा० के० एम० मुंशी का मत

त्रिभाषा सूत्र के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए भूतपूर्व शिक्षा मंत्री श्री छागला ने कहा था कि संस्कृत को इसका अभिन्न अंग बनाया जाय। यदि इसमें संस्कृत को स्थान नहीं दिया गया तो यह एक बहुत बड़ी भूल होगी। इसके सम्बन्ध में आन्ध्र प्रदेश के राज्यपाल, श्री पट्टम थानु पिल्लई ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि यदि त्रिभाषा-सूत्र संस्कृत के विकास में गतिरोध उत्पन्न करता है तो यह एक अत्यन्त दुःखद बात है। इस सूत्र को तो इतना शिथिल कर देना चाहिए कि इसके पर्त में संस्कृत समा जाय।

त्रिभाषा सूत्र पर अन्य विद्वानों का मत

---

1. 'भारतीय शिक्षा का इतिहास'—डा० प्यारे लाल रावत।

उपरिलिखित तथ्यों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्य-क्रम में संस्कृत का स्थान अनिवार्य और वैकल्पिक दोनों प्रकार से होना चाहिए। अनिवार्य स्वरूप वर्तमान पाठ्य-क्रम में संस्कृत को प्राप्त स्थान की भाँति होना चाहिए। इसमें साहित्य पर बल न दे कर केवल भाषा पर बल दिया जाय जिससे छात्रों को संस्कृत का इतना ज्ञान हो जाय कि वे इसके आधार पर मातृभाषा के शब्द भाण्डार की वृद्धि कर सकें। इस प्रकार की संस्कृत का पाठ्य-क्रम मातृ-भाषा के पाठ्य-क्रम से सम्बद्ध हो और परीक्षा में उसका एक प्रश्न-पत्र अलग हो और उसमें उत्तीर्ण होना अनिवार्य हो। उत्तर प्रदेश में यद्यपि संस्कृत को हिन्दी के साथ सम्बद्ध कर अनिवार्य कर दिया गया है, पर इसके लिए अलग से कोई निर्धारित प्रश्न-पत्र नहीं होता जिसके कारण यह उपेक्षित सी रहती है और जिस ध्येय से इसे पाठ्य-क्रम में स्थान दिया गया है, उस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाती है। अतः इसके लिए एक पृथक् प्रश्न-पत्र की व्यवस्था की जाय जिसमें उत्तीर्ण होना प्रत्येक छात्र के लिए अनिवार्य कर दिया जाय।

निष्कर्ष

पाठ्य-क्रम में संस्कृत के इसी स्वरूप से सन्तुष्ट न होकर इसे वैकल्पिक रूप में भी स्थान दिया जाय जिससे मेधावी छात्र इसका गहन अध्ययन कर सकें। यह विकल्प इस तरह का हो कि सभी वर्गों के छात्रों को इसके पढ़ने की सुविधा हो। यह सुविधा उनको प्रत्येक विद्यालय में मिले जिससे वे संस्कृत साहित्य का गहन अध्ययन कर उसके मर्म को समझ सकें।

सारांश

शिक्षा-सिद्धान्त के अनुसार पाठ्य-क्रम दो भागों में विभक्त होना चाहिए : विज्ञान एवं मानवीय ज्ञान। ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और दोनों समाज के लिए आवश्यक हैं। मानवीय ज्ञान का एक मात्र स्रोत साहित्य है जिसका अक्षय भाण्डार संस्कृत भाषा में निहित है। अतः पाठ्य-क्रम में संस्कृत को उचित स्थान मिलना चाहिए।

कुछ लोगों का यह मत है कि संस्कृत एक मूल भाषा है। अतः इसके अध्ययन न करने से किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती है। पर उन लोगों का यह कोरा भ्रम है। संस्कृत प्राचीन काल से ही एक जीवित और जन साधारण की बोल-चाल की भाषा रही है। महर्षि यास्क द्वारा विरचित निरुक्त, पाणिनि द्वारा विरचित अष्टाध्यायी, कात्यायन के वार्तिक और पतंजलि के महाभाष्य इसके प्रत्यक्ष

प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त आज भी संस्कृतज्ञ संस्कृत की पुस्तकों की रचना करते, संस्कृत में बात-चीत करते, उसका अध्ययन-अध्यापन करते तथा पत्र-पत्रिकाओं का संचालन करते हैं। काशी, केरल, तिरुपति, दरभंगा आदि में संस्कृत विश्वविद्यालय भी हैं जहाँ पर संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन होता है। यह भाषा न तो अंग्रेजी की भाँति एक विदेशी भाषा है और न तो ग्रीक और लैटिन के समान एक मृत भाषा है। यह तो अधिकांश भारतीय भाषाओं की जननी है। इनके अधिकांश शब्द या तो संस्कृत के तत्सम शब्द हैं अथवा तद्भव और इनका ढाँचा बहुधा संस्कृत पर आश्रित है। इस प्रकार संस्कृत का अध्ययन मातृभाषा का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने में सहायक ही नहीं अपितु वाणी की शुद्ध एवं शिष्ट अभिव्यक्ति के लिए अपरिहार्य भी है।

कुछ लोग संस्कृत को पाठ्य-क्रम में वैकल्पिक रूप में रखने में बल देते हैं। इन लोगों का यह भी मत है कि मातृभाषा के पढ़ने से ही संस्कृत न पढ़ने की क्षति की पूर्ति हो सकती है। इस कमी की पूर्ति आधुनिक भाषाओं में संस्कृत के अनुदित ग्रन्थों के अध्ययन से की जा सकती है। किन्तु यह उनका भ्रम है। अनुवाद अनुवाद ही है, मौलिक ग्रन्थ नहीं। यही लोग मातृभाषा के शब्द व्युत्पत्ति विषयक अध्ययन पर भी विशेष बल देते हैं। पर ऐसा करना अनुचित है। संस्कृत को मातृभाषा से अलग करने की नीति बड़ी ही घातक हो सकती है। यह लोग वैज्ञानिक विषयों के अध्ययन-अध्यापन पर विशेष बल देते हैं। पर उन्हें यह ज्ञात होना चाहिए कि संस्कृत तो इन विषयों की खान है और इसके अध्ययन से ये विषय और भी विकसित, पल्लवित और फलित हो सकते हैं।

कुछ लोगों का यह मत है कि संस्कृत को माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्य-क्रम में अनिवार्य स्थान मिलना चाहिए। केन्द्रीय एवं प्रदेशीय सरकारें छात्रों को प्रोत्साहन देने के लिए तरह-तरह की छात्रवृत्तियाँ भी प्रदान कर रही हैं। संस्कृत आयोग ने भी संस्कृत को पाठ्य-क्रम में अनिवार्य रूप से स्थान देने के लिए अपनी संस्तुति की है। इसने इसके कार्यान्वयन के निमित्त चार योजनाएँ भी प्रस्तुत की हैं। यह सब होते हुए भी माध्यमिक शिक्षा परिषद् ने इसे अनिवार्य करने में अपनी सहमति नहीं व्यक्त की। इसका डा० के० एम० मुंशी, श्री पिल्लाई प्रभृति प्रमुख विद्वानों ने घोर विरोध किया और संस्कृत की अनिवार्यता का समर्थन किया।

उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि संस्कृत का पाठ्य-क्रम में अनिवार्य और वैकल्पिक दोनों स्थान होना चाहिए। परीक्षा में इसमें उत्तीर्ण होना अनिवार्य हो।

प्रश्न

1. संस्कृत के एक मृत अथवा जीवित भाषा होने के सम्बन्ध में एक विस्तृत लेख लिखिए।
2. संस्कृत को पाठ्य-क्रम में स्थान देने के सम्बन्ध में प्रतिपादित द्वितीय मत का उल्लेख कर उसकी विस्तृत विवेचना कीजिए।
3. संस्कृत को पाठ्य-क्रम में स्थान देने के सम्बन्ध में व्यक्त तृतीय मत की विस्तृत आलोचना कीजिए।
4. स्कूल पाठ्य-क्रम में संस्कृत की स्थिति के सम्बन्ध में व्यक्त मतों की चर्चा करते हुए इसको इसमें स्थान दिये जाने के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त कीजिए।

सहायक ग्रन्थ

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास—आचार्य बलदेव उपाध्याय।
2. महाभाष्य—पतञ्जलि।
3. संस्कृत आयोग की रिपोर्ट।
4. कोठारी आयोग की रिपोर्ट।
5. भारतीय शिक्षा का इतिहास—डा० प्यारेलाल रावत।
6. आज—साप्ताहिक विशेषांक, रविवार 13 जनवरी 1974।
7. गुप्त साम्राज्य का इतिहास—डा० वासुदेव उपाध्याय।
8. आज 12 अक्टूबर 1973 पृष्ठ सं० 6।
9. निरुक्त—यास्क।
10. वर्धन साम्राज्य का इतिहास।
11. अष्टाध्यायी—पाणिनि।

अध्याय 3

संस्कृत शिक्षण के उद्देश्य (भाग 1)

शिक्षा-जगत् में पूछे जाने वाले प्रश्नों में सबसे अधिक कठिन होते हैं, शैक्षिक उद्देश्य के प्रश्न। जटिल होने के साथ ही साथ ये बड़े ही व्यापक और भेदक भी होते हैं। इनका सम्बन्ध देश-काल के सम्पूर्ण आयाम से होता है। 'चौथाई शताब्दी आगे के जीवन के लिए तैयार करने हेतु शिक्षक विरासती कंगूरों पर खड़ा हो अज्ञात भविष्य में लम्बी छलांग मारता है। भावी जीवन की आवश्यकताओं को जानने के लिए वह भूत-काल में दूर प्रत्यंचा खींच कर अन्धकारमय भविष्य को भेदता हुआ बाण चलाता है। उसका कार्य उस अन्तरिक्ष यात्री से, जो अपरिचित अनन्त स्थल में कूदता है, कहीं अधिक दुष्कर होता है। यात्री तो केवल अन्वेषण करके लौट आता है किन्तु शिक्षक को अन्वेषण कर लेने पर सृजन भी करना पड़ता है। अतः शिक्षक का कार्य अत्यन्त जटिल है और इससे भी जटिल है शैक्षिक उद्देश्यों का निर्धारण। इन्हीं उद्देश्यों पर बड़ी सीमा तक मानव की उन्नति निर्भर करती है।

शैक्षिक उद्देश्य की जटिलता

उद्देश्य ऐसे कार्यों या बातों का बोध कराते हैं जिन्हें हम शिक्षात्मक प्रयत्नों द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं। 'उद्देश्य' शब्द 'उद्' उपसर्ग, 'दिश्' धातु तथा 'ण्यत्' प्रत्यय से बना हुआ है जिसका अर्थ है किसी कार्य को दिशा या निर्देश देना। किसी कार्य की पृष्ठभूमि में कोई ऐसा परिणाम निहित रहता है जिसे हम उसके द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं। फल-प्राप्ति की इसी इच्छा, भावना या विचार को उद्देश्य कहते हैं। शिक्षा-क्षेत्र में शिक्षण कार्य करते समय हमारी जो मूल धारणाएँ, प्रवृत्तियाँ अथवा प्रेरक तत्त्व होते हैं, वही शैक्षिक उद्देश्य हैं क्योंकि इन्हीं के माध्यम से शैक्षिक कार्यों की प्रगति होती हैं, उन्हें दिशा मिलती है।

उद्देश्य शब्द की व्युत्पत्ति

इस क्षेत्र में ध्येय और लक्ष्य शब्द का भी प्रयोग होता है, किन्तु इनके अर्थ उद्देश्य-अर्थ से भिन्न हैं। ध्यान की जाने वाली अथवा ध्यान में रखी जाने वाली वस्तु अथवा भाव को ध्येय कहते हैं। इसमें हमारे भाव गौण तथा वस्तु, कार्य आदि से सम्बद्ध भाव प्रधान होते हैं। इसी पर हमारा मन केन्द्रित रहता है। लक्ष्य का शाब्दिक अर्थ है चिह्न या निशान। इसका प्रयोग आखेट के क्षेत्र में अधिक होता है। इसमें हमारी दृष्टि निशान पर ही स्थिर होती है। इस प्रकार लक्ष्य दृष्टि-प्रधान और ध्येय ध्यान-प्रधान है। ध्येय की अपेक्षा लक्ष्य में अधिक मनोनिवेश होता है। उद्देश्य अन्तिम और चरम सीमा का द्योतक है तो ध्येय और लक्ष्य उस तक पहुँचने के बीच के विराम-स्थल हैं जिन्हें प्राप्त कर हम गन्तव्य की ओर बढ़ते हैं। एम (Aim), आब्जेक्टिव तथा टार्जेट क्रमशः उद्देश्य, ध्येय और लक्ष्य के पर्यायवाची हैं।

ध्येय, लक्ष्य और उद्देश्य में अन्तर

शैक्षिक उद्देश्य की उपरिलिखित पृष्ठभूमि में शिक्षक के कार्य की जटिलता की दृष्टि से प्राचीन काल में शिक्षा के क्या उद्देश्य थे, एक विचारणीय प्रश्न है। यह बात तो सर्वमान्य है कि उस समय की सम्पूर्ण शिक्षा का माध्यम संस्कृत भाषा ही थी। सभी लोग इसी के माध्यम से शिक्षा ग्रहण करते थे। अतः उस समय के संस्कृत शिक्षण के उद्देश्यों की चर्चा करना अत्यन्त आवश्यक है। प्राचीन काल के शैक्षिक उद्देश्यों एवं संस्कृत शिक्षण के उद्देश्यों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इस सन्दर्भ में यदि हम प्राचीन काल के संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस प्रकार की शिक्षा के तीन उद्देश्य थे। प्रथम तो इसके माध्यम से ब्रह्म-ज्ञान की प्रेरणा मिलती थी, दूसरे राष्ट्रीय भावना का विकास होता था और तीसरे सामाजिकता को प्रोत्साहन मिलता था। उपनिषद् का कथन है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—अर्थात् शिक्षा द्वारा सत्यरूपी ज्ञान का साक्षात्कार तथा अनन्त ब्रह्म की उपलब्धि होनी चाहिए। ब्रह्म[1] का ज्ञान हो जाने के पश्चात् मनुष्य सभी सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है। विद्या द्वारा जीव न केवल ब्रह्म को ही जान पाता है, अपितु वह सदा के लिए अपने को ही ब्रह्म में विलीन कर लेता है। फलतः उसका पुनर्जन्म नहीं होता है और वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। 'विद्यय-

ब्रह्म ज्ञान, राष्ट्रीयता एवं सामाजिकता

---

1. ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्म मृत्यु प्रहाणिः—
[श्वेताश्वतरोपनिषद् 1-11]

'अमृतमश्नुते'—अर्थात् विद्या से अमरत्व मिलता है। सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त होने के पश्चात् ही अमरत्व की प्राप्ति सम्भव है। अस्तु, सच्ची शिक्षा मनुष्य को हर प्रकार के बन्धनों से मुक्त करने में सक्षम होनी चाहिए। इसीलिए कहा भी गया है कि सा विद्या या विमुक्तये।

ब्रह्म ही आनन्द और आनन्द ही आत्मा का चिरन्तन स्वरूप

"वाणी एवं मन से अगम्य जो उस ब्रह्मानन्द को जान लेता है, उसे किसी प्रकार का भय नहीं रहता है। उसे सत्कार्य करने तथा पाप कर्म को टालने वाले विचार पीड़ित नहीं करते। जो आनन्द को जान लेता है वह पाप-पुण्य दोनों से ऊपर उठ जाता है। यही आनन्द आत्मा का चिरन्तन स्वरूप है जो उससे अविच्छिन्न है। यह कोई बाह्य वस्तु नहीं है; यह तो प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर्निहित है। हमारा समग्र जीवन इसी से परिपूर्ण है। यदि ऐसा न होता तो जीवन दूभर हो जाता। आखिर हम जीना क्यों चाहते हैं? हमें अपना घर-बार, धन-दौलत, इष्ट मित्र क्यों अच्छे लगते हैं? क्योंकि इनमें हम अपनी आत्मा में निहित आनन्द की झलक पाते हैं।

सुख और आनन्द में अन्तर

वस्तुतः यदि आनन्द आत्मा का सहज लक्षण है तो हम उसे क्यों नहीं प्राप्त कर पाते? इसका एक मात्र कारण है, हमारी अज्ञता। हम उस आनन्द की खोज कभी इन्द्रिय-जन्य सुखों में करना चाहते हैं तो कभी भौतिक जगत् के पदार्थों में। हम यह नहीं जानते कि इस आनन्द का सम्बन्ध भौतिक सुख में नहीं है। सुख और आनन्द में अन्तर है। सुख के साथ दुःख जुड़ा हुआ है। यह क्षणिक और इन्द्रिय-जन्य होता है जबकि आनन्द आत्मिक अनुभूति होती है जो सम्पूर्ण जीवन को उससे ओत-प्रोत कर देती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी आत्मा जो आनन्दमय है वह अनेक आवरणों से आच्छादित है जिनके ओट से आनन्द की हल्की झलक तो मिल पाती है किन्तु वास्तविक आनन्द की अनुभूति नहीं हो पाती। आत्मा के इन विभिन्न आवरणों को हटाने में ही संस्कृत शिक्षण के तात्कालिक मूल्य निहित हैं। इनके रहते आनन्द की कल्पना करना कोरी कल्पना है।

अन्नोत्पादन शिक्षा का प्रथम लक्ष्य

तैत्तिरीय उपनिषद् में आनन्द-प्राप्ति के विभिन्न साधनों का उल्लेख भृगु-वरुण की आख्यायिका में मिलता है। भृगु ने अपने पिता से पूछा कि ब्रह्म क्या है? उन्होंने उन्हें स्वयं साधना द्वारा पता लगाने का आदेश दिया। साधना और खोज के पश्चात् भृगु इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अन्न ही ब्रह्म है।

अन्न (भौतिक तत्त्व) से ही सब जीव जन्म लेते हैं, जीवित रहते हैं और अन्त में इसी में विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार भौतिक तत्त्व की जानकारी, उसके उपयोग एवं अन्न-उत्पादन की क्रिया-प्रक्रिया और उदर-पूर्ति के उपाय के ज्ञान की प्राप्ति शिक्षा का प्रथम लक्ष्य हुआ। वरुण ने भृगु को पुनः साधना करने का आदेश दिया। भृगु ने इसका पालन किया और उन्हें ज्ञात हुआ कि 'प्राण ही ब्रह्म है।' प्राण वह शक्ति है जिसके द्वारा वनस्पति तथा प्राणि-जगत् श्वास लेता है, रक्त-संचार होता है, अस्थि-निर्माण होता है।

शारीरिक स्वास्थ्य की प्राप्ति दूसरा लक्ष्य

स्नायु-संस्थान अपना कार्य करता है और इन्द्रियाँ अपने विषय की ओर प्रवृत्त होती हैं। जब तक शरीर स्वस्थ नहीं, अस्थियाँ सुदृढ़ नहीं, रक्त-संचार ठीक नहीं, श्वास-प्रक्रिया ठीक नहीं, तब तक आनन्द कहाँ ? इस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य शिक्षा का दूसरा लक्ष्य हुआ।

वरुण इस निष्कर्ष से भी सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने भृगु को पुनः साधना करने का आदेश दिया। अबकी बार उन्हें यह आभास हुआ कि 'मन ही ब्रह्म' है। एकाग्र एवं स्वस्थ मन के ही द्वारा इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान का विश्लेषण, संचयन एवं वर्गीकरण किया जाता है। अतः मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति शिक्षा का तीसरा लक्ष्य हुआ। पिता-पुत्र को इससे भी सन्तुष्टि नहीं हुई।

मन की एकाग्रता तीसरा लक्ष्य

अतः भृगु ने पुनः साधना की। इस बार वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'विज्ञान ही ब्रह्म' है। बुद्धि-जन्य-ज्ञान से आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। सृष्टि सम्बन्धी इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान को विकसित, परिष्कृत तथा विवेकयुक्त बनाने के लिए बुद्धि की आवश्यकता होती है। इस प्रकार प्रखर बुद्धि की प्राप्ति शिक्षा का चतुर्थ लक्ष्य हुआ।

भृगु के पिता वरुण को यह भी अपूर्ण जान पड़ा क्योंकि बुद्धि-जन्य आनन्द में भी अपूर्णता बनी रहती है तथा ज्ञान, ज्ञेय एवं ज्ञाता के बीच अन्तर बना रहता है। अतः उन्होंने भृगु को पुनः साधना करने का आदेश दिया। इस बार की साधना के फलस्वरूप भृगु इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आनन्द ही ब्रह्म है। इसी से सभी प्राणी जन्म लेते, जीवित रहते तथा अन्त में उसी में विलीन हो जाते हैं। आनन्द की इस स्थिति में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के बीच के सारे भेद मिट जाते हैं। इस अवस्था में सभी शंकाओं एवं भ्रान्तियों का अन्त हो जाता है।

आनन्द ही ब्रह्म

मनुष्य का विवेक इस प्रकार जागरित हो उठता है कि वह प्रेयस् और श्रेयस् के बीच भेद करने लगता है। वह भोजन करता है, परन्तु स्वाद के लिए नहीं अपितु आत्मोन्नति के लिए, वह शरीर को पुष्ट एवं स्वस्थ बनाता है किन्तु किसी को पीड़ा पहुँचाने के लिए नहीं अपितु अपना काम अधिक अच्छी तरह करने के लिए, वह मनोगम्य ज्ञान प्राप्त करता है, किन्तु समाज के शोषण अथवा वासना-तृप्ति के निमित्त नहीं, अपितु एक आदर्श नागरिक का जीवन बिताने के लिए; वह तार्किक बुद्धि से ज्ञान का संचय करता है, परन्तु विवाद के लिए नहीं, अपितु आत्मा एवं जगत् की वास्तविक स्थिति जानने के लिए। इस प्रकार आनन्दमय स्थिति पर पहुँच जाने पर अन्य मूल्य तिरोहित नहीं हो जाते, अपितु उनका अध्यात्मीकरण हो जाता है।

वैदिक एवं उपनिषद् काल में भौतिक उपलब्धियों का कोई विशेष महत्त्व नहीं था। ये नगण्य समझी जाती थीं। कठोपनिषद् में वर्णित यम-नचिकेता-संवाद इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। यमराज ने नचिकेता से कहा कि "हे नचिकेता! मर्त्यलोक में जो-जो पदार्थ दुर्लभ हैं, उन्हें स्वेच्छानुसार तुम मुझसे माँग लो। मेरे पास रथ एवं बाजों से युक्त सुन्दर-सुन्दर रमणियाँ हैं जो मनुष्यों लिए अप्राप्य हैं। तुम इनसे अपनी सेवा कराओ परन्तु मुझसे आत्म-विज्ञान सम्बन्धी प्रश्न मत पूछो।" किन्तु नचिकेता को उनके ये सब प्रलोभन डिगा न सके और वह आत्मविज्ञान के विषय में जानकारी प्राप्त करने के अपने पथ से विचलित न हुआ। उसके इस निश्चल भाव को देख कर यमराज उससे बहुत ही प्रसन्न हुए और उन्होंने उससे कहा कि "हे नचिकेता! अब मैं तुमको अपना विद्यार्थी बनाता हूँ क्योंकि तुमको भौतिक उपभोगों ने आकृष्ट नहीं किया।" "उपनिषद् काल में भौतिक वस्तुओं का कम महत्त्व होने के कारण ही उनसे सम्बद्ध ज्ञान को 'ज्ञान' और अध्यात्मिक ज्ञान को 'विज्ञान' कहा जाता था। "ज्ञानस्य ह्येषा पराकाष्ठा यदात्मैकत्वं विज्ञानम्।" यही 'विज्ञान' उस युग में शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य था जिसके फलस्वरूप भारतीय संस्कृति उत्कर्ष के इतने उच्च शिखर पर पहुँची थी कि उसके सम्बन्ध में मैक्समूलर कह उठे कि "भारत के ऋषि सत्य के निर्भय और साहसी जिज्ञासु थे। वे ऐसी चोटी पर चढ़ गये थे, जहाँ केवल वे ही साँस ले सकते थे, किन्तु दूसरों के फेफड़े फट सकते थे।" निश्चय ही शैक्षिक उद्देश्य के रूप में इसी अध्यात्मिकता के कारण भारतीय संस्कृति अक्षुण्ण बनी रही जिसे संस्कृत भाषा आज भी अपने आँचल में सँजोए हुए है।

राष्ट्रीय भावना एवं एकता का विकास

संस्कृत-ग्रन्थों के अध्ययन से राष्ट्रीय भावना का भी विकास होता है। ऋग्वेद के संज्ञान सूक्त के मन्त्र इस सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट हैं। इसका एक मंत्र तो ऐसा है जिसमें कहा गया है कि "स्तोताओ[1] तुम मिल कर रहो। एक साथ स्तोत्र का पाठ करो। तुम सबका मन एक सा हो। जैसे प्राचीन देव एक मत होकर अपना दृष्टिमार्ग ग्रहण करते हैं वैसे ही तुम सब एकमत होकर धन का संग्रह करो।" यह मन्त्र एकत्व की शिक्षा का एक अपूर्व उदाहरण है। एकता ही शक्ति है और शक्ति-सम्पन्नता ही राष्ट्र जीवन है। अथर्ववेदीय संज्ञान सूक्तों में भी एकता और संगठन पर विशेष बल दिया गया है। इनमें एक स्थान पर शिक्षक शिक्षार्थियों को सम्बोधित करते हुए कहता है कि "तुम सबके बीच का द्वेष हटाकर मैं सहृदयता और समानता का प्रसार कर रहा हूँ। जिस प्रकार गाय अपने बछड़े से प्रेम करती है, उसी प्रकार तुम लोग आपस में एक दूसरे से प्रेम करो।" तुम सबको समान मन वाला बनाता हूँ जिससे तुम सब प्रेम से एक समान रहकर एक ही नेता का अनुगमन करो। जैसे देवता समान रूप से अमृत की रक्षा करते हैं, वैसे ही तुम लोग भी सन्ध्या और प्रातः एक संगठन[2] से रहो।" संस्कृत ग्रन्थों में एकता बनाये रखने के इस तरह के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं जिनकी चर्चा 'संस्कृत-भाषा के महत्त्व' नामक पाठ में कर दी गई है। इन सबको दृष्टि में रख कर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि संस्कृत-शिक्षण एकता और संगठन का प्रतीक है तथा यह उसके शिक्षण के उद्देश्यों में से एक है।

---

1. संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते व॥

[ऋग्वेद संज्ञान सूक्त]

2. सहृदयं सांमनस्यम् विद्वेषं कृणोमिव।
अन्योऽन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥
सध्रीचीनान् वः समन सः
कृणोम्येकश्नुष्टीन संवनेन सहृदः।
देवा इवेदममृत रक्षमाणाः
सायं प्रातः सुसमितिर्वो अस्तु॥

[अथर्ववेद संज्ञान सूक्त]

इसके अतिरिक्त मातृभूमि के प्रति अगाध प्रेम उत्पन्न करना भी संस्कृत-शिक्षण का एक और मुख्य उद्देश्य है। इस सम्बन्ध में अथर्ववेद का भूमि-सूक्त द्रष्टव्य है। इसमें एक स्थान पर कहा गया है कि "माता भूमिः पुत्रो अहम् पृथिव्याः"—अर्थात् "यह भूमि मेरी माँ है और मैं इसका पुत्र हूँ।" इस सूक्त में 63 मन्त्र हैं और सभी मातृभूमि के प्रति अनन्य भक्ति से परिपूर्ण हैं।

संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन से सामाजिकता को भी प्रोत्साहन मिलता है। प्राचीन काल में शिक्षा का सारा ढाँचा समाज को ही दृष्टि में रखकर तैयार किया गया था और छात्रों को उन्हीं बातों की शिक्षा दी जाती थी जिनका समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध होता था। सम्पूर्ण समाज चार वर्गों में विभक्त था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र और इन सबके लिए तदनुकूल शिक्षा की व्यवस्था की गई थी। ब्राह्मण-पुत्रों को ब्रह्म-विद्या एवं अध्यात्मविद्या, क्षत्रिय-पुत्रों को राजधर्म तथा धनुर्विद्या और वैश्य-पुत्रों को वाणिज्य, कृषि-कर्म, विविध उद्योग-धन्धों, शिल्पों आदि की शिक्षा प्रमुख रूप से दी जाती थी। शूद्रों को सबकी सेवा करने का विधान था। इस प्रकार सभी वर्गों के छात्रों को उनके वर्णानुसार शिक्षा देकर उन्हें अपने-अपने समाज के उत्थान एवं विकास के लिए तैयार किया जाता था। ऐसे सुयोग्य छात्रों को पाकर समाज भी अपने को कृतकृत्य समझता था।

सामाजिक ढाँचे के अनुकूल शिक्षा

जिस प्रकार समाज चार वर्गों में विभक्त था, उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवन भी चार आश्रमों में विभक्त था—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। प्रथम आश्रम में ब्रह्मचारी 6 वर्ष की आयु से लेकर 25 वर्ष की आयु तक सभी प्रकार के भौतिक आकर्षणों से दूर रह कर शेष आश्रमों के योग्य बनने के लिए गुरुकुलों में रह कर शिक्षा ग्रहण किया करते थे। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य सूक्त में ब्रह्मचारी के चार गुणों का उल्लेख है जो इस प्रकार हैं—समिधा, मेखला, श्रम और तप। ब्रह्मचारी समिधा है। जिस प्रकार समिधा अग्नि में पड़कर तद्वत् हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मचारी भी अपने आपको आचार्याग्नि में खो देता है और वैसा ही प्रदीप्त हो जाता है। प्रकाश देना तथा ऊपर उठना क्रमशः अग्नि का धर्म एवं कर्म है। इनके अनुसार अग्नि रूपी आचार्य अपने शिष्य के गुणों को प्रकाशित कर उनमें उदात्त भावों का संवर्धन करता है। आचार्य मृत्यु है। इसी की कृपा से छात्र दूसरा जन्म

ब्रह्मचारी के चार गुण-समिधा, मेखला, श्रम, तप

प्राप्त करता है। उसके समक्ष पूर्णरूप से आत्मसमर्पण और अपनी सभी इच्छाओं का सर्वथा त्याग ही शिष्य का मरण है। मरणोपरान्त ही प्राणी नवीन जन्म धारण करता है। इस तरह ब्रह्मचारी जब तक अपने-

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः

आप को मिटाकर आचार्य के समक्ष नहीं उपस्थित होता तब तक आचार्य उसे द्विजत्व नहीं प्रदान करता है। आचार्य वरुण भी है। जिस प्रकार जल वस्त्र के सम्पूर्ण मैल को धो कर उसे स्वच्छ और निर्मल बना देता है, उसी प्रकार आचार्य ब्रह्मचारी के समस्त पापों, बुराइयों आदि को दूर कर उसे श्रेष्ठत्व प्रदान करता है। आचार्य सोम भी है। जिस प्रकार चन्द्रमा शान्ति और आनन्द प्रदान करता है, उसी प्रकार आचार्य भी ब्रह्मचारी के अन्तःकरण में शान्ति एवं आनन्द उत्पन्न करता है। आचार्य ओषधि भी है। वह ब्रह्मचारी की सभी कठिनाइयों को दूर करने में ओषधि का कार्य करता है। वह पय भी है। जिस प्रकार माता का दूध बालक को पुष्ट बनाता है, उसी प्रकार आचार्य भी शिष्य के आत्मिक बल को परिपुष्ट करता है।

ब्रह्मचारी के प्रमुख गुणों में 'मेखला' का प्रमुख स्थान है। मेखला कटि प्रदेश में बाँधी जाती है जिसमें कौपीन लगाया जाता है। जिस प्रकार समिधा ज्ञान-दीप्ति का प्रतीक है, उसी प्रकार मेखला कटिबद्धता की द्योतिका है। ब्रह्मचारी का तीसरा गुण है श्रम। "न श्रान्तस्य सख्याय देवाः" की वेदोक्ति के अनुसार जो श्रम नहीं करता है, उससे देवता भी मित्रता नहीं करते हैं। वस्तुतः श्रम से ही सब कुछ मिलता है। ब्रह्मचारी में पाई जाने वाली चौथी विशेषता 'तप' है जिसका तात्पर्य है द्वन्द्व-सहन। दुःख-सुख, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, हानि-लाभ आदि स्थितियों में समान अवस्था में बने रहने को तप अथवा द्वन्द्व-सहन कहते हैं।

ब्रह्मचारी आचार्य कुलवासी होता था। उसे 'अन्तेवासी' शब्द से भी जाना जाता था। वह आचार्य के आश्रम में उसके परिवार के सदस्य के रूप में रह कर शिक्षा ग्रहण किया करता था, जहाँ पर,

पढ़ते सहस्रों शिष्य हैं पर फीस ली जाती नहीं।
वह उच्च शिक्षा तुच्छ धन पर बेच दी जाती नहीं॥
दे वस्त्र भोजन भी स्वयं कुलपति पढ़ा लेते हैं उन्हें।
बस भक्ति से सन्तुष्ट हो दिन-दिन बढ़ाते हैं उन्हें॥

यहाँ पर शिक्षा के साथ भिक्षा-वृत्ति का विधान कर अनुशासन, समानता, विनम्रता आदि उदात्त भावों के विकास का अवसर प्रदान किया जाता था। ब्रह्मचारी के हृदय से दर्प, ईर्ष्या आदि दोषों को दूर करने का विधान था। भिक्षाटन के अवसर पर उनकी दृष्टि भिक्षा देने के लिए उत्सुक दाता के चरणों पर लगी रहती थी। यह दृश्य इन गुणों का साकार रूप होता था। राष्ट्र कवि ने लिखा भी है कि—

अनुशासन, समानता विनम्रता आदि की शिक्षा

वे ब्रह्मचारी जिस समय गुरुदेव के आदेश से।
पहुँचे नहीं भिक्षार्थ पुर में बाल रूप महेश से॥
ले सात्त्विकी भिक्षा प्रथम ही गृहिणियाँ हर्षित खड़ी।
करने लगीं उनकी प्रतीक्षा द्वार पर होकर खड़ी॥

गुरुकुल की यह शिक्षा उच्च शिक्षा का द्वार थी। शिक्षा उद्देश्य-पूर्ति की यह अपने ढंग की अनोखी संस्था थी। यहाँ से निकले हुए छात्रों के दो वर्ग हो जाते थे--नैष्ठिक ब्रह्मचारी तथा गृहस्थाश्रमिक ब्रह्मचारी। प्रथम कोटि के ब्रह्मचारी ज्ञान-वृद्धि में रत रहते थे। इनके लिए ज्ञान से पवित्र कुछ भी नहीं था—नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। ये ज्ञान-पिपासु साहित्य अभिवृद्धि में भी योगदान करते थे। दूसरे प्रकार के ब्रह्मचारी भी पूर्णतया गृह-कार्य के फेर में ही पड़कर अपने जीवन को नष्ट नहीं करते थे। वे अध्ययन, याजन तथा दान द्वारा इसे सफल बनाने में प्रयत्नशील रहते थे। इनके माध्यम से वे अपने ध्यान को वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रमों की ओर बटाये रहते थे। इस प्रकार उनकी जीवन-शिक्षा निर्विघ्न चलती रहती थी।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी एवं गृहस्थाश्रमिक ब्रह्मचारी

इन गुरुकुलों में शिक्षकों की प्रत्यक्ष देख-भाल होने के कारण चरित्र-निर्माण कार्य सुविधापूर्वक हो जाता था। शिक्षक यही देखते थे कि विद्यार्थी अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं कि नहीं, यथा शास्त्रों का अनुशीलन करना, बड़ों के प्रति आदर रखना, समान वालों के साथ समानता का व्यवहार करना, छोटों से स्नेह करना आदि। उनमें उदात्त गुणों के प्रादुर्भाव के लिए उनके समक्ष नित्य राम, कृष्ण, लक्ष्मण, सीता, सावित्री, द्रौपदी आदि के आदर्श

चरित्र निर्माण की शिक्षा

उपस्थित किये जाते थे। इस तरह छात्रों में धैर्य[1], क्षमा, मानसिक दुर्भावों का दमन, लोभ-त्याग, कायिक, वाचिक तथा मानसिक पवित्रता, जितेन्द्रियता, बुद्धि, विद्या, सत्याचरण एवं क्रोध-परित्याग आदि धार्मिक गुणों की उत्पत्ति की जाती थी। उन्हें यह भली-भाँति अवगत करा दिया जाता था कि भोजन[2], शयन, भय एवं मैथुन में पशु और मनुष्य में समानता है; किन्तु मनुष्य में धर्म अधिक है। इस धर्म से हीन मनुष्य पशु-तुल्य है।

प्राचीन काल में शिक्षा का सम्पूर्ण उपक्रम व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए किया गया था। इसके द्वारा ब्रह्मचारी में आत्म सम्मान की भावना उत्पन्न की जाती थी। उसे यह भली-भाँति समझा दिया जाता था कि संसार में स्वाभिमान करना उत्तम है। इस पर किसी प्रकार की भी ठेस नहीं लगनी चाहिए। स्वाभिमान की उत्पत्ति आत्मसंयम से होती है। इससे ब्रह्मचारी में हीनता की भावना नहीं उत्पन्न होने पाती थी। उपनयन संस्कार के अवसर पर उसे यह भली-भाँति अवगत करा दिया जाता था कि वह दैवी शक्तियों से पूर्ण है और उसे जानने के लिए उसे अपने ध्येय पर श्रद्धा रखनी होगी। निर्धनता किसी की शिक्षा में बाधक नहीं हो सकती है। ब्रह्मचारी अध्ययन से बचे हुए समय में दूसरा कार्य कर अपने लिए कुछ अर्जित कर लेता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मनिर्भरता जो आत्मविश्वास की जन्म-दात्री है, प्राचीन काल की शिक्षा को हर प्रकार से विकसित करने में सहायता पहुँचाती थी।

आत्मसम्मान की उत्पत्ति

विद्याध्ययन के पश्चात् पारिवारिक कर्त्तव्य-पालन की शिक्षा देना इन गुरुकुलों का मुख्य लक्ष्य था। शिक्षा केवल अक्षर ज्ञान तक ही सीमित नहीं थी। यहाँ पर व्यक्ति को भावी जीवन के लिए तैयार किया जाता था। जातीय पेशों की विशिष्ट शिक्षा द्वारा भारतीय व्यवसाय, कला और सामाजिक रीति-रिवाजों को उन्नत करना भी तत्कालीन शिक्षा का लक्ष्य था।

शिक्षा एक ऋण स्वरूप

---

1. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
   धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकम् धर्म-लक्षणम्॥
2. आहार निद्राभयमैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
   धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

शिक्षा एक ऋण स्वरूप थी। इससे उऋण होना प्रत्येक ब्रह्मचारी का पुनीत कर्त्तव्य था। आचार्य देवोभव, मातृ देवो भव, पितृदेवो भव आदि वाक्य इसी के परिचायक हैं। ये ऋण तीन प्रकार के थे—देव ऋण, पितृ ऋण एवं ऋषि ऋण। इनमें ऋषि ऋण का महत्त्व सर्वोपरि था। समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए इन तीनों ऋणों से मुक्ति पाना आवश्यक था। इससे सामाजिक भावना अपने आप उत्पन्न हो जाती थी।

वैयक्तिक एवं सामाजिक शिक्षा का सुन्दर समन्वय

उपरिलिखित तथ्यों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यहाँ की शिक्षा का उद्देश्य न केवल वैयक्तिक था और न केवल सामाजिक, अपितु दोनों का सुन्दर समन्वय था। व्यष्टि और समष्टि परस्पर एक दूसरे के पूरक माने जाते थे। व्यक्ति की गरिमा के साथ ही साथ सृष्टि की गरिमा को भी मान्यता दी गई थी। दीक्षा-स्वरूप यज्ञ-परायण जीवन में व्यष्टि-निष्ठ एवं समष्टि-निष्ठ यज्ञ—दोनों की उपलब्धि थी। दोनों ही पद्धतियाँ एक दूसरे की पूरक बन छात्र को दैवी सम्पत्ति प्रदान करती थीं। इसी के फलस्वरूप शूद्रत्व को ब्राह्मणत्व की प्राप्ति होती थी। ज्ञातव्य हो कि वर्णाश्रम व्यवस्था वैयक्तिक एवं सामाजिक शिक्षा के एक आदर्श समन्वय के रूप में विद्यमान थी। यदि ब्रह्मचर्य वैयक्तिक आदर्श के, तो गार्हस्थ एवं वानप्रस्थ सामाजिक संगठन के आधार के और संन्यास अनेकत्व में एकत्व की प्राप्ति के साधन थे। इसी व्यवस्था के फलस्वरूप वैयक्तिक जीवन उत्कर्ष के चरम शिखर पर पहुँचता था और समाज को अनुभवी, त्यागी, नैतिक एवं निस्पृह नागरिक सुलभ होते थे। व्यष्टि की समष्टि में आहुति देकर 'ग्रामं जनपदस्यार्थे' की भावना 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के रूप में साकार हो उठती थी।

पञ्चमहायज्ञों अर्थात् ब्रह्मयज्ञ[1], पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ तथा नृयज्ञ के माध्यम से मनुष्य जितेन्द्रिय होकर प्रलोभनों को जीत लेता था और अपने 'स्व' को समष्टि में विलीन कर "मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत्, आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः" का आदर्श उपस्थित करता था। इतना ही नहीं अपितु 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्, तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यचिद्धनम्" के प्रभाव में आकर वह अहं को त्याग देता था

---

1. अध्ययन-अध्यापन सन्ध्यावंदन आदि को ब्रह्मयज्ञ, पितृतर्पण को पितृ यज्ञ, हवन को देव यज्ञ, बलिवैश्वदेव को भूत यज्ञ तथा अतिथि पूजन को नृयज्ञ कहते हैं।

और अपने को 'वयम्' में बदल देता था। उसे इस बात का आभास हो जाता था कि बिना क्रियात्मक रूप के सारी विद्याएँ भार स्वरूप हैं। (ज्ञानं भारः क्रियां बिना)। इस प्रकार उसके ज्ञान और कर्म में एकता स्थापित हो जाती थी जिसके अभाव में आज का मनुष्य अनेक कठिनाइयों का शिकार हो रहा है।

परोद्धार-भावना की प्राप्ति

शिक्षा तो मनुष्य का इन कठिनाइयों से उद्धार कर उसे पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति कराना चाहती है। जो व्यक्ति अपना ही उद्धार करने में असमर्थ है उससे परोद्धार की आशा ही करना व्यर्थ है। वस्तुतः जिन्होंने अपने को ऊँचा उठाया, अपना चारित्रिक उत्थान किया, वे ही परोद्धार करने में समर्थ हुए। इतिहास में ऐसे लोगों के अनेक उदाहरण विद्यमान हैं। उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्—गीता के इस श्लोक में भी यही रहस्य छिपा हुआ है। इसी से प्रेरित होकर यहाँ के मनस्वी कह उठे "जितं जगत् केन" (किसने संसार को जीता), 'मनो हि येन'—अर्थात् जिसने अपने मन को जीत लिया, वही जगद्विजयी है। इस प्रकार संस्कृत-शिक्षा मनुष्य को मनः सहित सम्पूर्ण इन्द्रिय ग्राम को वश में करने योग्य बनाती रही। सर्वात्मना उसका उद्धार करना इसका एक मात्र उद्देश्य था। शिक्षा के इसी उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था एक क्रमिक परम्परा में ढल गई थी और एतत्सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान साधन के रूप में साध्य स्वरूप सच्चिदानन्द की प्राप्ति में रत था और यही उस समय की शिक्षा का उद्देश्य था।

सारांश

शैक्षिक उद्देश्यों के निर्धारण करने का कार्य अत्यन्त जटिल है। ये उद्देश्य ऐसे कार्यों अथवा बातों का बोध कराते हैं जिन्हें हम शिक्षात्मक प्रयत्नों द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं। इन्हीं के माध्यम से शैक्षिक कार्यों की प्रगति होती है और उन्हें एक निश्चित दिशा मिलती है।

उद्देश्य शब्द का अर्थ ध्येय एवं लक्ष्य शब्द के अर्थ से भिन्न है। लक्ष्य दृष्टिप्रधान और ध्येय ध्यान-प्रधान है। उद्देश्य अन्तिम तथा चरम सीमा का द्योतक है तो ध्येय और लक्ष्य उस तक पहुँचने के बीच के विराम स्थल हैं। उद्देश्य, ध्येय और लक्ष्य क्रमशः 'एम' आब्जेक्टिव तथा टार्जेट के पर्यायवाची हैं।

प्राचीन काल में संस्कृत शिक्षण के तीन प्रमुख उद्देश्य थे—ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति, राष्ट्रीय भावना का विकास तथा सामाजिकता के आदर्शों की प्राप्ति। ब्रह्म ही आनन्द और आनन्द ही आत्मा का चिरन्तन स्वरूप है। आनन्द-प्राप्ति के विभिन्न साधनों का उल्लेख भृगु-वरुण आख्यायिका में है। अन्नोत्पादन, शारीरिक स्वास्थ्य, मन की एकाग्रता, प्रखर बुद्धि की प्राप्ति आदि उस आनन्दमय ब्रह्म की प्राप्ति के साधन हैं जहाँ पर इनका अध्यात्मीकरण हो जाता है।

संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन से राष्ट्रीयता एवं एकता के भाव विकसित होते हैं। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के संज्ञान सूक्त इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इस तरह के और भी उदाहरण हैं जिनकी चर्चा 'संस्कृत भाषा के महत्त्व' नामक पाठ में की जा चुकी है।

संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन से सामाजिकता को भी प्रोत्साहन मिलता है। वर्णाश्रम धर्म के अनुसार प्रत्येक वर्ण के लिए तदनुकूल शिक्षा की व्यवस्था थी। सभी वर्ण के लोगों को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर शिक्षा-ग्रहण करनी पड़ती थी। ब्रह्मचारी को गुरुकुल में ही रहना पड़ता था जहाँ उन्हें अनुशासन, समानता, विनम्रता, चरित्र-निर्माण आदि की शिक्षा दी जाती थी। इन गुरुकुलों में पारिवारिक कर्त्तव्य-पालन की भी शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा एक ऋण स्वरूप थी।

प्राचीन काल में वैयक्तिक एवं सामाजिक शिक्षा का सुन्दर समन्वय था। समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था एक क्रमिक कार्य की परम्परा में ढली हुई थी और एतत्सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान साधन के रूप में साध्य स्वरूप सच्चिदानन्द की प्राप्ति में रत थे। शिक्षा का यही मुख्य उद्देश्य था।

प्रश्न

1. "उद्देश्य अन्तिम और चरम सीमा का द्योतक है तो ध्येय और लक्ष्य उस तक पहुँचने के विराम स्थल हैं"—सिद्ध कीजिए।
2. "ब्रह्मानन्द की प्राप्ति ही संस्कृत शिक्षण का एक मात्र उद्देश्य है" सोदाहरण इस कथन की पुष्टि कीजिए।
3. संस्कृत-शिक्षण राष्ट्रीयता एवं सामाजिकता का पोषक है—इस कथन की सार्थकता को सिद्ध कीजिए।
4. संस्कृत-शिक्षण वैयक्तिक एवं सामाजिक शिक्षा का सुन्दर समन्वय है—इस कथन की यथार्थता पर एक विस्तृत लेख लिखिए।

सहायक ग्रन्थ

1. ऋग्वेद—संज्ञान सूक्त।
2. अथर्ववेद संज्ञान सूक्त, भूमि सूक्त।
3. साहित्य परिचय (शैक्षिक उद्देश्य विशेषांक)।
4. श्रीमद् भगवद्गीता।
5. उपनिषद्—तैत्तिरीयोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्।
6. मनुस्मृति।
7. भारत-भारती—राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त।

अध्याय 4

संस्कृत शिक्षण के उद्देश्य भाग (2)

पिछले अध्याय में प्राचीन कालिक संस्कृत शिक्षण के उद्देश्यों की चर्चा की जा चुकी है। उस समय की सम्पूर्ण शिक्षा का माध्यम संस्कृत भाषा थी। यद्यपि आजकल इसे यह स्थान प्राप्त नहीं है फिर भी शिक्षा-क्षेत्र में इसका महत्त्व कम नहीं है। प्राचीनता[1], व्यापकता आदि की दृष्टि से, भारतीय संस्कृति के वाहन तथा भारतीय समाज के दर्पण के रूप में, राष्ट्रीय एकता को अक्षुण्ण बनाये रखने के साधन के रूप में एवं भारत की अधिकांश भाषाओं की जननी होने के रूप में आज भी इसका सर्वाधिक महत्त्व है। अतः हमें इसी पृष्ठभूमि में इसके शिक्षण के वर्तमान उद्देश्यों का भी निरूपण करना चाहिए।

'शिक्षा का अर्थ'

"शिक्षा[2] जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है और जीवन के प्रत्येक अनुभव से इसकी अभिवृद्धि होती है। इसमें वे सभी बातें सम्मिलित हैं जो मनुष्य को उसके जन्म से लेकर उसकी मृत्यु तक उसे प्रभावित करती हैं। जो कुछ भी मनुष्य को मनुष्य बनाने में सहायक होता है, उसे वह बनाता है, जो वह है, उसे वह बनाने में बाधक होता है जो वह नहीं है, वह सब उसकी शिक्षा के ही अंग हैं। यह वह संस्कृति है जो प्रत्येक पीढ़ी अपने उत्तराधिकारियों को इस उद्देश्य से प्रदान करती है कि वह कम से कम इसे इसी रूप में बनाये रखे और यदि सम्भव हो तो इसके द्वारा प्राप्त स्तर को ऊपर उठाये।" यदि संस्कृति को उसके वास्तविक रूप में बनाये रखना तथा यथासम्भव उसके स्तर को ऊपर उठाना ही शिक्षा का उद्देश्य है, तो वर्तमान युग में संस्कृत शिक्षण इस दृष्टि से कहाँ तक सार्थक है, एक विचारणीय प्रश्न है। इसी प्रश्न के उत्तर में उसके शिक्षण के वास्तविक उद्देश्य भी निहित हैं।

---

1. देखिए 'संस्कृत भाषा का महत्त्व' वाला पाठ।
2. शिक्षण के मूल सिद्धान्त—पृष्ठ (6-7).
   लेखक—श्री विजयनारायण चौबे।

संस्कृत की वर्तमान स्थिति

आधुनिक विद्यालयों में संस्कृत-शिक्षण विभिन्न राज्यों में विभिन्न कक्षाओं से आरम्भ होता है। किसी भी राज्य में इसके अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था प्रारम्भिक विद्यालयों में नहीं है। यह ठीक भी है। इन विद्यालयों में बालक मातृभाषा के माध्यम से ज्ञानार्जन करते हैं। मातृभाषा के इसी ज्ञान के आधार पर संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन सरल हो जाता है क्योंकि ऐसा करने में 'ज्ञात से अज्ञात की ओर' का सिद्धान्त चरितार्थ हो जाता है और संस्कृत शिक्षण सुगम हो जाता है। हमारे उत्तर प्रदेश में संस्कृत का पठन-पाठन छठीं कक्षा से आरम्भ होकर एम० ए० कक्षा तक चलता है। इस दृष्टि से इसके शिक्षण को तीन स्तरों में विभाजित किया जा सकता है—प्रारम्भिक स्तर, माध्यमिक स्तर तथा उच्च स्तर। प्रारम्भिक स्तर से हमारा अभिप्राय जूनियर हाई स्कूल की कक्षा 6, 7 और 8 से है जहाँ बालकों को संस्कृत का प्रारम्भिक ज्ञान कराया जाता है। माध्यमिक स्तर से हमारा तात्पर्य कक्षा 9, 10, 11 और 12 से है। इन दोनों स्तरों के पाठ्य-क्रम में संस्कृत को दो तरह से स्थान प्राप्त है—एक तो यह हिन्दी के साथ अनिवार्य रूप से पढ़ाई जाती है और दूसरे एक स्वतंत्र विषय की तरह वैकल्पिक रूप में। उच्च स्तर अर्थात् विश्व-विद्यालय की कक्षाओं में इसका स्वरूप एक स्वतंत्र विषय के रूप में है और यह वैकल्पिक विषय की तरह पढ़ाई जाती है। इन तीनों स्तरों पर इसके शिक्षण के उद्देश्य एक से न होंगे। अतः प्रत्येक स्तर पर इसके शिक्षण के उद्देश्यों की चर्चा अलग-अलग की जा रही है।

सामान्य उद्देश्य (1)

प्रत्येक विषय के शिक्षण के दो प्रकार के उद्देश्य हुआ करते हैं—सामान्य उद्देश्य एक मुख्योद्देश्य। जहाँ तक प्रथम श्रेणी के उद्देश्यों का प्रश्न है वे प्रत्येक स्तर पर एक से हैं और उनके सम्बन्ध में छात्रों को आरम्भ से ही जागरुक रहने की शिक्षा देनी चाहिए। उन्हें सर्व प्रथम समय-समय पर यह अवगत कराते रहना चाहिए कि संस्कृत भाषा विश्व की प्राचीनतम भाषा और इसका साहित्य विश्व का प्राचीनतम साहित्य है। "प्राचीन काल से इस साहित्य का जो प्रवाह चल पड़ा था" वह आज भी अबाधगति से चल रहा है। छात्रों को यह भी अवगत करा देना चाहिए कि संस्कृत साहित्य अत्यन्त व्यापक है। इसका क्षेत्र बड़ा ही विस्तृत है। यह सभी अंगों से परिपूर्ण है। इसका व्याकरण (अष्टाध्यायी, सिद्धान्त कौमुदी आदि), राजनीति सम्बन्धी ग्रन्थ (अर्थशास्त्र, चाणक्य नीति, शुक्रनीति आदि), कामसूत्र, समाज शास्त्र (मनुस्मृति, पराशर स्मृति, याज्ञवल्क्य

स्मृति आदि), नाटक, (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, उत्तररामचरितम् आदि), गद्य साहित्य (हर्ष चरित्, कादम्बरी आदि), चिकित्सा शास्त्र (आयुर्वेद), पशु-चिकित्सा विज्ञान, भौतिक विज्ञान और साहित्य शास्त्र अत्यन्त निराला है। प्रत्येक में अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थ विद्यमान हैं जिनका अध्ययन वर्तमान युग में अत्यन्त उपयोगी है। मानव जीवन को उत्कर्ष के अन्तिम शिखर पर पहुँचाने के लिए आवश्यक चारों पुरुषार्थों का इनमें सुन्दर विवेचन हुआ है।

सामान्य उद्देश्य (2) आचार शास्त्र की खान

सामाजिक उत्थान के लिए शिक्षा का धर्म-निष्ठ होना अत्यन्त आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह है कि छात्र को उसके विद्यार्थी जीवन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, पवित्रता, इन्द्रिय निग्रह, दानशीलता, दया, दम, क्षमा, अक्रोध आदि धर्म के लक्षणों का पूर्ण ज्ञान करा दिया जाय। ये अविरोधी बातें हैं और सभी धर्मों को मान्य हैं। इन्हीं की प्राप्ति एवं अभ्यास से मानवता का उत्कर्ष होना सम्भव है। ये गुण संस्कृत शिक्षण के मेरुदण्ड हैं। अतः छात्रों को इनकी जानकारी कराना संस्कृत शिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। उन्हें यह बात अच्छी तरह से अवगत करा दी जाय कि संस्कृत साहित्य आचार शास्त्र की खान है। इसका प्रधान उद्देश्य ही है चरित्र शिक्षा। रामायण हमें 'रामादिवत् वर्तितव्यं न च रावणादिवत्', 'पुराण परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्', स्मृतियाँ 'अहिंसा सत्यमस्तेयम्, शौचमिन्द्रियनिग्रहः, दानं, दया, दमः क्षान्तिः सर्वेषां धर्म साधनम्' कथाएँ, आख्यायिकाएँ, गाथाएँ आदि सदाचरण की ही शिक्षा दिया करती हैं। यहाँ का प्रत्येक आचार धर्म पर आधारित होता है और दार्शनिक तथ्य रखता है। संस्कारों की उत्पत्ति का यही रहस्य है जो संस्कृत भाषा में कराये जाते हैं।

सामान्य उद्देश्य (3) बुद्धि एवं हृदय में सन्तुलन स्थापित करने में सक्षम

शिक्षा का उद्देश्य है व्यक्तित्व का विकास करना। जिस शिक्षा में ऐसा करने की क्षमता नहीं है, वह शिक्षा वास्तविक रूप में शिक्षा नहीं कही जा सकती है। जो शिक्षा बालक को केवल एक शुष्क वैज्ञानिक, इंजीनियर, गणितज्ञ आदि बनाती है, निश्चय ही ऐसी शिक्षा समाज-विरोधी एक दुरभिसन्धि है, मानवता-विरोधी एक कूटनीति है, तथा समाज के लिए एक महान् अभिशाप है। शिक्षा का वास्तविक स्वरूप है व्यक्ति के बौद्धिक उत्कर्ष के साथ ही साथ उसके भावों को विकसित करना, उसकी बुद्धि एवं हृदय में सन्तुलन बनाये रखना, इन दोनों के असन्तुलन

को मिटा देना तथा व्यक्तिगत स्वार्थों की तुलना में सामाजिक हितों को प्रश्रय देना। आज की तथाकथित वैज्ञानिक शिक्षा से मनुष्य के भाव परिष्कृत अवश्य होते हैं और उसकी बुद्धि का विकास भी अवश्य होता है, पर उसकी पाशविक प्रवृत्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है जिसके परिणामस्वरूप संसार के बड़े-बड़े ध्वंसकारी युद्ध हो रहे हैं। इस पाशविकता को रोकने के लिए संस्कृत शिक्षण एक अमोघ शस्त्र है जिसमें 'अहिंसा परमोधर्मः', मा हिंस्यात् सर्वभूतानि, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' आदि उपदेशों की भरमार है। यह उदार शिक्षा का प्रमुख साधन है। इसमें बुद्धि एवं हृदय में सन्तुलन बनाये रखने की, हृदय के भावों को परिष्कृत करने की तथा वैयक्तिक स्वार्थों की तुलना में सामाजिक हितों को प्रश्रय देने की क्षमता है। 'सन्तोषम् परमसुखम्' का सिद्धान्त इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

सामान्य उद्देश्य (4) मानव को सामाजिक बनाने में सक्षम

प्लेटो के कथनानुसार "शरीर और आत्मा में जितने अधिक सौन्दर्य तथा जितनी अधिक सम्पूर्णता का विकास हो सकता है, उसे सम्पन्न करना ही शिक्षा का उद्देश्य है"। इस दृष्टि से मानव में चारित्रिक गुणों का विकास कर स्वस्थ शरीर एवं स्वस्थ मन का सृजन करना ही शिक्षा का उद्देश्य है। स्वार्थ परायणता मनुष्य की अन्तर्मुखी शक्ति को निर्बल कर देती है जिससे उसके सच्चिदानन्द स्वरूप का विकास नहीं हो पाता है। यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि वह समाज का अंग बन कर उसे भी अपना लाभांश देने में समर्थ होता है। इसी से वह समाज का मेरुदण्ड बन कर उसे सुदृढ़ करने में समर्थ हो जाता है। अतः केवल मानव ज्ञान की अभिवृद्धि करना ही नहीं अपितु उसे सामाजिक बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। इसका यह अर्थ नहीं है कि शिक्षा उसकी जीविका का साधन बन कर रह जाय। इसका अर्थ तो है समाज के उन्नयन से जो शिक्षार्थी को सुखी एवं समृद्धिशाली बना कर उसे विराट् में विलीन होने की क्षमता प्रदान करे। वस्तुतः व्यावहारिक ज्ञान की प्राप्ति ही वास्तविक शिक्षा है। "विद्या ददाति विनयम्, विनयात् याति पात्रताम्" के माध्यम से छात्र में शिष्टता, विनम्रता, उदारता आदि उदात्त भावों का विकास करना ही शिक्षा है। संस्कृत शिक्षण से ये भाव और भी परिष्कृत होते हैं।

शिक्षक-शिक्षार्थी एवं शिक्षा में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। ये एक दूसरे के पूरक हैं। भारतीय शिक्षा जिसका आधार था संस्कृत शिक्षण, श्रद्धा पर आश्रित

थी। 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्' इसका उद्घोष था। एकलव्य की एकान्त साधना इसका ज्वलन्त उदाहरण है। यहाँ की शिक्षा में जहाँ योग्य गुरु को पाकर शिष्य अपने को धन्य मानता था, वहीं पर गुरु भी श्रद्धावान्, निष्ठावान्, विनयी शिष्य पाकर अपने को धन्य समझता था। आचार्य द्रोणाचार्य जी ऐसे गुरु को एकलव्य जैसे श्रद्धालु शिष्य, गुरुदेव रामकृष्ण परमहंस को स्वामी विवेकानन्द जैसे शिष्य तथा स्वामी दयानन्द को स्वामी विरजानन्द जैसे अलौकिक गुरु मिले। संस्कृत शिक्षण का रहस्य ही है श्रद्धा एवं आत्मनिवेदन। योगिराज अरविन्द के कथनानुसार ज्ञान, भक्ति, और निष्काम कर्म आर्य शिक्षा के मूल्य तत्त्व हैं। अतः हमें ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिससे भावी सन्तान ज्ञानी, सत्यव्रती, साहसी और विनीत हो। अनुशासन एवं आत्मीयता के अभाव के कारण आज शिक्षक और शिष्य के बीच एक विशाल खाईं उत्पन्न हो गई है जो युवा आक्रोश को प्रश्रय दे रही है। इस समस्या के निदान के लिए संस्कृत के माध्यम से छात्रों में स्वमूल्यांकन की प्रवृत्ति की उत्पत्ति कर उन्हें सृजनात्मक एवं रचनात्मक कार्यों में रत रखना अपेक्षित है।

सामान्य उद्देश्य (5) शिक्षक और शिष्य में एक दूसरे के प्रति आदर उत्पन्न करना

छात्रों को इस तथ्य से भली-भाँति परिचित करा देना कि संस्कृत साहित्य का भारतीय संस्कृति से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। इस संस्कृति के मूलाधार हैं वेद, पुराण, शास्त्रादि सद्ग्रन्थ जिनकी रचना आर्यों की आदि भाषा संस्कृत में हुई है। वैदिक दर्शन शास्त्र भारतीय संस्कृति की समस्त विशेषताओं के मूल में स्थित हैं। अभिवादन, आशीर्वाद, अंकमाल, आसन, वार्तालाप, अतिथि सत्कारादि जितने शिष्टाचार हैं उन सबमें भारतीयता निहित है और जिनका एक मात्र आधार संस्कृत भाषा है। चिरंजीव, आयुष्मान् भव, वीर प्रसवाभाव आदि इसी सार्थकता के परिचायक हैं। जहाँ तक अतिथि सत्कार की बात है, यहाँ तो उसे ईश्वर तुल्य समझा गया है। "न जाने केहि रूप में नारायण मिल जायँ" इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय समाज में जीवन का प्रत्येक भाग शास्त्रीय आदेशों से नियंत्रित है और वे आदेश हैं संस्कृत भाषा में। अतः संस्कृत भाषा को भूल जाना अपनी संस्कृति को भूल जाना है। यह हमारा कार्य-क्षेत्र ही नहीं अपितु जीवन भी है।

सामान्य उदेश्य (6) संस्कृत का भारतीय संस्कृति से अविच्छेद्य सम्बन्ध

छात्रों के मस्तिष्क में इस तथ्य को भी अच्छी तरह से बैठा देना चाहिए कि संस्कृत भाषा में राष्ट्रीय एकता बनाये रखने की अनुपम शक्ति है जिसके फलस्वरूप विषम ऐतिहासिक परिस्थितियों के होते हुए भी आज भी भारत की संस्कृति एक है। पूजा, अनुष्ठान, धार्मिक कृत्यों आदि के अवसर पर उपासक द्वारा किये गये संकल्प भी राष्ट्रीय एकता के प्रतीक हैं। इन अवसरों पर स्वदेशी वस्त्रों के धारण करने का विधान स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग किये जाने पर बल दिये जाने का द्योतक है। इसी प्रसंग में बालकों को यह भी बता देना चाहिए कि संस्कृत भूत-वर्तमान तथा पूर्व-पश्चिम की सम्पर्क कड़ी है। पेरिस के प्रोफेसर जे० फिलियोजात ने ठीक ही कहा है कि "यदि हम एक ओर हिन्द चीन और इण्डोनेशिया में तथा दूसरी ओर सम्पूर्ण मध्य एशिया, चीन, कोरिया और जापान में संस्कृत भाषा के प्रयोग पर विचार करें तो पता चलेगा कि यह पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया को बौद्ध या ब्रह्म धर्मी जनता को जोड़ने वाली प्रमुख शृंखला रही है।"

सामान्य उद्देश्य (7) राष्ट्रीय एकता बनाये रखने की क्षमता

छात्रों को यह भी अवगत करा देना चाहिए कि संस्कृत भारत की अधिकांश भाषाओं की जननी है। हिन्दी को पनपाने का एक मात्र श्रेय इसी को है। इसके साहित्य का प्रत्येक अंग संस्कृत साहित्य से प्रभावित है। यदि यह कहा जाय कि इसका साहित्य ही किसी न किसी रूप में संस्कृत साहित्य का रूपान्तर मात्र है तो अतिशयोक्ति न होगी। हिन्दी को राज-भाषा के पद पर प्रतिष्ठित करते समय यह स्पष्ट कर दिया गया था कि आवश्यकतानुसार हिन्दी की शब्दावली संस्कृत से ही ली जायगी और इसकी अभिवृद्धि की जायगी। इस कार्य को हिन्दी नागरी प्रचारिणी सभा तथा इस तरह की अन्य संस्थाएँ बड़ी तेजी से कर रही हैं। वस्तुतः शब्द रचना की दृष्टि से संस्कृत का भाण्डार अक्षय है जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव हिन्दी पर पड़ा है। अतः हिन्दी साहित्य, उसके शब्द भाण्डार आदि की अभिवृद्धि के लिए संस्कृत भाषा का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है।

सामान्य उद्देश्य (8) भारत की अधिकांश भाषाओं की जननी

इतना ही नहीं अपितु शुद्धोच्चारण की दृष्टि से भी संस्कृत ध्वनि विज्ञान का अध्ययन करना भारतीयों के लिए अत्यन्त लाभप्रद है। भौगोलिक परिस्थितियों एवं विदेशी भाषाओं के सम्पर्क में आने के कारण नागरी वर्णों के उच्चारण में बहुत से दोष उत्पन्न हो गये

सामान्य उद्देश्य (9)

शुद्धोच्चारण का महत्त्व

हैं। विदेशियों के सम्पर्क में आने तथा अपने यहाँ सविधि उच्चारण सिखाने की ओर विशेष ध्यान न दिये जाने के कारण नागरी लिपि लिखने वाले तथा नागरी भाषा-भाषी इन वर्णों के उच्चारण में भूल करने लगे हैं। बंगालियों का अशुद्ध उच्चारण तो सर्वविदित है। इस सम्बन्ध में किसी परिहास प्रिय कवि का वह श्लोक कि "ब्रह्मन् विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया, गौडस्त्यजतु वा गाथामान्या वाऽस्तु सरस्वती" विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें वङ्गीय उच्चारण से आकुल सरस्वती जी ने ब्रह्मा से निवेदन किया कि ऐ ब्रह्मन्! या तो बंगाली गाथा (संस्कृत श्लोक) पढ़ना छोड़ दें अथवा आप किसी दूसरी सरस्वती की रचना करें। कहने का तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त दोषों से बचने तथा नागरी वर्णों के शुद्धोच्चारण के लिए संस्कृत ध्वनिविज्ञान का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है। संस्कृत व्याकरण में नागरी वर्णों की उत्पत्ति, उनके उच्चारण स्थानादि का सुन्दर विवेचन है। 'संस्कृत ध्वनि विज्ञान' तथा 'शुद्धोच्चारण-शिक्षण' वाले पाठ में इसकी विस्तृत चर्चा की गई है। संस्कृत शिक्षण के माध्यम से इन दोषों को दूर करने का यत्न करना चाहिए।

भाषा शिक्षण के चार प्रमुख अंग

किसी भी भाषा के शिक्षण के चार प्रमुख अंग हैं जो इस प्रकार हैं—उस भाषा में किसी की कही हुई बात को सुन कर समझने की योग्यता प्राप्त करना, उस भाषा में अपने मन की बात को दूसरों से व्यक्त करने की क्षमता प्राप्त करना, उस भाषा में किसी भी लिखी हुई बात को पढ़ कर समझने की योग्यता प्राप्त करना तथा उस भाषा में अपने भावों को लिख कर व्यक्त करने की योग्यता प्राप्त करना। ये चारों अंग बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं और इनकी शिक्षा सापेक्ष है। एक अंग की कुशलता दूसरे अंग को भी पर्याप्त रूप से प्रभावित करती है, जैसे पढ़ने का प्रभाव लिखने की योग्यता पर इतना अधिक पड़ता है कि बिना पढ़े कोई भी व्यक्ति एक अच्छा लेखक नहीं बन सकता। इसी प्रकार बोलने और समझने की योग्यता भी सापेक्ष है। ये सभी प्रकार की योग्यताएँ पढ़ने की ही योग्यता पर निर्भर करती हैं।

उपरिलिखित दृष्टिकोण से प्रारम्भिक स्तर पर संस्कृत शिक्षण के अन्तर्गत एतत्सम्बन्धी सरल क्रियाएँ ही रखी जानी चाहिये क्योंकि इस स्तर पर बालक संस्कृत पढ़ना आरम्भ करता है। इस स्तर पर तो इतने से ही सन्तुष्ट हो जाना चाहिए कि छात्र संस्कृत के माध्यम से इन चारों बातों में योग्यता प्राप्त करने

की दिशा में शनैः शनैः अग्रसर हों। अतः इस स्तर पर संस्कृत शिक्षण के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं—

प्रारम्भिक स्तर मुख्योद्देश्य

छात्रों को इस योग्य बनाना कि वे संस्कृत गद्य खण्डों एवं श्लोकों को शुद्ध-शुद्ध पढ़ सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनसे सरल संस्कृत में लिखित पाठ्य-सामग्री का शुद्ध उच्चारणपूर्वक भावों को यथोचित रूप से व्यक्त करते हुए पढ़ने का अभ्यास कराया जाय। उनसे सरल संस्कृत श्लोकों का सुन्दर तथा आकर्षक ढंग से लयपूर्वक भाव प्रकाशित करते हुए विधिपूर्वक पाठ करने का अभ्यास कराया जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें कतिपय महत्त्वपूर्ण श्लोकों को कण्ठस्थ करा दिया जाय और कक्षा के समक्ष इनका उक्त ढंग से सस्वर पाठ कराया जाय। उन्हें इस योग्य भी बनाया जाय कि वे अपने भावों को सरल एवं शुद्ध संस्कृत में मौखिक तथा लिखित रूप में व्यक्त कर सकें। जेसपर्सन का कथन है कि भाषा ध्वनि से कभी भी अलग नहीं की जा सकती। उसका ध्वनि से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः मातृ-भाषा से भिन्न दूसरी भाषाओं को पढ़ाते समय प्रत्येक अवस्था में मौखिक प्रकाशन को अवश्य स्थान देना चाहिए। ऐसा करने के लिए चाहे विद्यार्थियों को अध्यापक की कही हुई बातों को ही क्यों न दुहराना पड़े। बोलने में बालकों को दूसरों का अनुकरण करना पड़ता है। वे स्वभाव से ही अनुकरणशील तथा प्रयत्नलाघव के प्रेमी होते हैं। जब वे सीखी हुई भाषा में अपने भावों को व्यक्त करने लगते हैं तो उन्हें एक विशेष प्रकार की सान्त्वना मिलती है और वे अपनी सफलता पर प्रसन्न होते हैं। अतः इस स्तर पर मौखिक प्रकाशन पर अधिक बल दिया जाय।

जहाँ तक इस स्तर पर संस्कृत में लिखित रूप में अपने भावों के प्रकाशन का प्रश्न है, छात्रों से संस्कृत के गद्य-खण्डों एवं श्लोकों को पुस्तक से देखकर उनके अनुलेख का अभ्यास कराया जाय। इसके पश्चात् कण्ठस्थ श्लोकों को स्वतन्त्र रूप से लिखने के लिए अवसर प्रदान किया जाय। अनुलेख के साथ ही साथ श्रुतलेख भी लिखाया जाय। बोली हुई बात को सुनकर समझना और समझकर शुद्ध-शुद्ध और तेजी के साथ लिखने की योग्यता प्राप्त करना श्रुतलेख का एक उद्देश्य है।

इस स्तर पर छात्रों को इस योग्य बनाना कि वे संस्कृत के सरल गद्य खण्डों एवं सरल श्लोकों का अर्थ समझ कर उनका अपनी मातृभाषा में तथा मातृभाषा के छोटे-छोटे और सरल वाक्यों का संस्कृत में अनुवाद कर सकें।

जूनियर हाई स्कूल के पश्चात् जब छात्र माध्यमिक स्तर पर पहुँचते हैं तो उनमें इतनी योग्यता आ जाती है कि वे संस्कृत के सरल गद्य खण्डों एवं श्लोकों को शुद्ध-शुद्ध पढ़ सकें। कतिपय श्लोकों को कण्ठस्थ कर उनका सस्वर तथा सुस्वर पाठ कर सकें, इनको अनुलेख अथवा श्रुतलेख के रूप में शुद्ध-शुद्ध लिख सकें, इनका अपनी मातृभाषा में तथा मातृ-भाषा के छोटे-छोटे सरल वाक्यों का संस्कृत में अनुवाद कर सकें और संस्कृत के कतिपय सरल वाक्यों में अपने भावों को व्यक्त कर सकें। अतः माध्यमिक स्तर पर संस्कृत शिक्षण का मुख्योद्देश्य उपरिलिखित क्षेत्रों में (पढ़ने-लिखने, बोलने तथा अनुवाद करने में) छात्रों की योग्यता में अभिवृद्धि ही करना है। जहाँ तक संस्कृत के गद्य खण्डों एव श्लोकों के शुद्ध-शुद्ध आरोहावरोह तथा विरामादि का ध्यान रख कर पढ़ने का प्रश्न है, छात्रों में इस स्तर पर इतनी क्षमता प्रदान कर दी जाय कि वे संस्कृत के सरल ही नहीं अपितु कठिन गद्य-खण्डों एवं श्लोकों का शुद्ध-शुद्ध मौन तथा सस्वर पठन कर सकें। उनमें इतनी योग्यता आ जाय कि वे इनमें प्रयुक्त सन्धियों, समासों, प्रत्ययों आदि को समझ सकें और उनका विश्लेषण कर सकें, तथा इनमें व्यक्त भावों को समझने की दिशा में अग्रसर हो सकें।

माध्यमिक स्तर मुख्योद्देश्य (1)

कविवर श्री मम्मट ने काव्य प्रकाश में काव्य के प्रयोजन का उल्लेख करते हुए कहा है कि इसका ध्येय मनुष्य को व्यवहार विद् भी बनाना है। यहाँ पर प्रयुक्त 'व्यवहार विद्' शब्द का अर्थ है सांसारिक व्यवहार का ज्ञाता। काव्यों, नाटकों आदि में जो चरित्र-चित्रण होता है उससे विभिन्न स्थितियों में पात्रों के परस्पर व्यवहार बात-चीत आदि की शैली का परिज्ञान होता है। कहानियों के माध्यम से भी इसी उद्देश्य की पूर्ति होती है। इनमें बीच-बीच में पद्यों का पुट भी दीख पड़ता है। साधारणतः बात-चीत के प्रसंग में लोग अपनी बात को अत्यधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उसी प्रसंग से सम्बद्ध पद्यों का भी प्रयोग करते हैं और इस तरह अपनी वाक्-कुशलता का परिचय देते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस स्तर पर भी संस्कृत के महत्वपूर्ण श्लोकों को कण्ठस्थ करा दिया जाय जिससे छात्र वार्तालाप के बीच अपने पक्ष का समर्थन करने एवं अपनी बात को प्रभावशाली बनाने के निमित्त इन संस्कृत श्लोकों को उद्धृत कर सकें और इस तरह अपने को इस दृष्टि से व्यवहारविद् बना सकें। छात्र अपने मौलिक लेखों में भी इन श्लोकों को

उद्धृत कर अपनी भावाभिव्यक्ति की शैली का परिचय दे सकते हैं। इस तरह ये श्लोक छात्रों को लिखने और बोलने में पर्याप्त सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

इस स्तर पर छात्रों का संस्कृत-भाषा का ज्ञान इस कोटि का हो जाय कि वे संस्कृत साहित्य के सरल अंशों का अपनी मातृभाषा में तथा मातृभाषा के छोटे-छोटे साधारण वाक्यों का संस्कृत में अनुवाद कर सकें। इससे संस्कृत के विभिन्न शब्दों, मुहाविरों आदि का ज्ञान हो जाता है जिससे छात्रों के शब्द-भाण्डार की अभिवृद्धि हो जाती है। इस प्रकार उन्हें इन शब्दों के प्रयोग का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करा दिया जाय क्योंकि अनुवाद वाक्य-रचना की ठीक-ठीक व्याख्या करता है। इसके माध्यम से निरीक्षण, अंकन, तुलना एवं अनुमान का पूर्ण ज्ञान करा कर छात्रों को अध्ययन तथा अध्यापन के इन अंगों से भली-भाँति अवगत करा दिया जाय।

पिछले पृष्ठों में हमने भाषा-शिक्षण के चार प्रमुख अंगों की चर्चा की है। उसी प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि पढ़ते समय छात्रों को अक्षरों का ज्ञान, शब्दों की परख तथा उनका ध्वनियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है, लिखते समय उन्हें अक्षरों की बनावट की ओर अपना ध्यान आकर्षित करना पड़ता है जो पढ़ने की अवस्था से कठिन होता है। किन्तु बोलना सीखने के लिए उसे केवल दूसरों का अनुकरण करना पड़ता है। इस तरह उसे पढ़ने और लिखने की अपेक्षा बोलने में कम प्रयत्न करना पड़ता है अतः छात्र को इस स्तर पर प्रारम्भिक स्तर की अपेक्षा संस्कृत में ही अपने भावों को व्यक्त करने के निमित्त और अधिक अवसर प्रदान किया जाय जिससे वह प्राथमिक स्तर की अपेक्षा भावाभिव्यक्ति में और कुशल हो जाय। यद्यपि आज संस्कृत जनसाधारण की बोल-चाल की भाषा नहीं है और न तो समाज में प्रत्येक अवसर पर संस्कृत बोलने की आवश्यकता ही होती है, फिर भी भाषा-शिक्षण के उद्देश्य-पूर्ति के निमित्त इस स्तर पर छात्र को इस योग्य तो बना ही दिया जाय कि अवसर पड़ने पर वह ऐसा करने में अपने को असमर्थ न पा सके और अपने भावों को संस्कृत में अपने स्तर के अनुकूल शुद्ध, प्रभावोत्पादक, मधुर एवं रमणीय ढंग से व्यक्त कर सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रश्नोत्तर प्रणाली, वार्त्तालाप प्रणाली आदि का प्रयोग करना विशेष रूप से वाञ्छनीय है। इन पद्धतियों के प्रयोग की चर्चा मौखिक आत्मप्रकाशन नामक पाठ में विस्तारपूर्वक की गई है।

उच्च स्तर मुख्योद्देश्य

माध्यमिक स्तर के पश्चात् जब छात्र उच्च स्तर पर पहुँचते हैं तो वे संस्कृत ध्वनि विज्ञान, शब्द विज्ञान, अर्थ विज्ञान तथा वाक्य विन्यास से परिचित रहते हैं। अतः इस स्तर पर उनके भाषा सम्बन्धी इन अंगों को परिपुष्ट करना ही संस्कृत-शिक्षण का मुख्योद्देश्य होना चाहिए। उसमें सरल एवं कठिन सभी प्रकार के गद्य खण्डों तथा श्लोकों को आरोहावरोह के साथ शुद्ध-शुद्ध पढ़ने की पूर्ण क्षमता उत्पन्न कर दी जाय जिससे उन्हें संस्कृत के अगाध साहित्य का अवगाहन करने की योग्यता प्राप्त हो जाय और वे इसके माध्यम से अपनी मातृभाषा को समृद्धशाली बनाने में सहायक सिद्ध हो सकें। संस्कृत भाषा एवं साहित्य के प्रति अनुसन्धानात्मक दृष्टिकोण अपनाने से ही मातृभाषा का विकास, उसके शब्द-भाण्डार की अभिवृद्धि तथा उसके साहित्य के प्रत्येक अंग की पुष्टि सम्भव है। अतः इस स्तर पर छात्रों में इस प्रवृत्ति को जागरित करना संस्कृत-शिक्षण का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त छात्रों में संस्कृत साहित्य के सद्ग्रन्थों का मातृभाषा में अनुवाद करने की क्षमता उत्पन्न करना भी आवश्यक है। उनमें संस्कृत का इतना ज्ञान हो जाय कि वे संस्कृत की दुर्लभ पाण्डुलिपियों का अध्ययन कर उनका सम्पादन कर सकें और उन्हें प्रकाशित करा कर समाज को एक अमूल्य उपहार दे सकें। उनमें अवसरानुकूल संस्कृत भाषा में मौखिक तथा लिखित रूप में अपने भावों की अभिव्यक्ति करने की क्षमता आ जाय। आजकल की शिक्षा संस्थाओं में संस्कृत भाषा में अपने भावों को मौखिक रूप से व्यक्त करने का अवसर ही नहीं किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप बहुत से विद्यार्थी जिन्होंने एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त कर ली है अपने भावों को इसके माध्यम से व्यक्त करने में अपने को सर्वथा असमर्थ पाते हैं। अतः आरम्भ से ही इस दिशा की ओर ध्यान दिया जाय और इस स्तर तक पहुँचते-पहुँचते इस उद्देश्य की पूर्ति कर ली जाय।

पिछले अध्याय में इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि संस्कृत साहित्य भारतीय संस्कृति का दर्पण और भारतीयता का वाहन है। अतः इस स्तर पर भारतीय संस्कृति, भारतीयता एवं भारतीय दर्शन का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने, इसकी विशद व्याख्या करने तथा आवश्यकता पड़ने पर इसके संदेश को इसी के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाने की क्षमता उत्पन्न करना संस्कृत-शिक्षण का उद्देश्य होना चाहिए।

ग्रहण-उद्देश्य विशेष महत्त्वपूर्ण

यदि हम उपर्युक्त तीनों स्तरों के संस्कृत-शिक्षण के उद्देश्यों का विश्लेषण करें तो हम निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि इसके शिक्षण के प्रमुख प्रयोजनों में 'ग्रहण-उद्देश्य' अर्थात् संस्कृत ग्रन्थों को पढ़ कर उन्हें समझने का विशेष महत्त्व है। यदि एक हाई स्कूल कक्षा उत्तीर्ण छात्र श्रीमद्भगवद्गीता को पढ़ कर उसे समझ लेता है अथवा भर्तृहरि के गीति-काव्य की सराहना कर लेता है, तो उसका संस्कृत का इतना ज्ञान पर्याप्त है। कुछ अध्यापक संस्कृत-व्याकरण-शिक्षण पर अनावश्यक बल देते हैं, जो अनुचित है। उन्हें यह ज्ञात होना चाहिए कि व्याकरण केवल साधन है, साध्य नहीं। अतः उसका शिक्षण उसी रूप में होना चाहिए। पठित अंशों को ठीक-ठीक समझने, मातृभाषा में उनका अनुवाद करने तथा मातृभाषा के स्तरानुकूल वाक्यों का संस्कृत में अनुवाद करने में व्याकरण छात्र का सहायक मात्र होना चाहिए। संस्कृत-शिक्षण के समय हमें यद्यपि उपरिलिखित सभी उद्देश्यों पर ध्यान देना चाहिए, फिर भी 'ग्रहण-उद्देश्य' पर विशेष बल देना चाहिए। संस्कृत-शिक्षण का मुख्योद्देश्य संस्कृत-प्रेमी उत्पन्न करना है जो इसका सूक्ष्म अध्ययन कर सकें तथा इसका विश्लेषण कर इसके सन्देश को जन-साधारण तक पहुँचा सकें।

संस्कृत एवं मातृ-भाषा-शिक्षणोद्देश्यों में अन्तर

संस्कृत-शिक्षण एवं मातृभाषा शिक्षण के उद्देश्यों में अन्तर है। छात्र मातृभाषा को प्रधान तथा संस्कृत भाषा को गौण भाषा के रूप में पढ़ता है। जूनियर हाई स्कूल स्तर तक पहुँचते-पहुँचते उसके मातृ-भाषा विषयक ज्ञान की पर्याप्त वृद्धि हो जाती है जबकि इस स्तर पर वह संस्कृत का आरम्भ करता है और वह इसे दूसरी भाषा के रूप में पढ़ता है। दूसरे प्रत्येक स्तर पर शिक्षण का माध्यम मातृभाषा है। अतः छात्र को मातृभाषा का जितना ज्ञान हो सकेगा उतना संस्कृत का नहीं हो पायेगा। छात्रों से इस प्रकार की आशा भी नहीं की जा सकती है। तीसरे मातृभाषा-शिक्षण में रचनात्मक, अभिव्यञ्जनात्मक एवं साहित्यिक उद्देश्यों की पूर्ति पर विशेष बल दिया जाता है—परन्तु संस्कृत-शिक्षण में इस पक्ष पर बहुत कम बल दिया जाता है। संस्कृत अधिकांश भाषाओं की जननी है। जिस प्रकार जननी अपना स्तन पिला कर अपनी सन्तान की अभिवृद्धि करती है उसी प्रकार संस्कृत भी अन्य भाषाओं की अभिवृद्धि करती है। अतः उसका शिक्षण इसी

उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाना चाहिए। इससे मातृभाषा विषयक ज्ञान की सम्पुष्टि होती है।

संस्कृत एवं अंग्रेजी-शिक्षणोद्देश्यों की तुलना

जहाँ तक संस्कृत एवं अंग्रेजी शिक्षण के उद्देश्यों की तुलना का प्रश्न है, इसका उत्तर इन दोनों भाषाओं की वर्तमान पाठ्य-क्रम में स्थान-स्थिति पर निर्भर करता है। संस्कृत भारत की अधिकांश भाषाओं की जननी एवं उनकी संरक्षिका तथा पोषिका के रूप में पढ़ाई जाती है जबकि अंग्रेजी एक विदेशी भाषा के रूप में। संस्कृत भारतीय संस्कृति का स्रोत और इसका साहित्य भारतीय समाज का दर्पण तथा भारतीयता का वाहन है, जबकि अंग्रेजी एक विदेशी संस्कृत की द्योतिका है। अतः संस्कृत शिक्षण के उद्देश्यों की अंग्रेजी शिक्षण के उद्देश्यों से तुलना नहीं की जा सकती है। दोनों के शिक्षणोद्देश्यों में किसी प्रकार का साम्य नहीं है। वे एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। यद्यपि अंग्रेजी एवं संस्कृत दोनों को छात्र दूसरी भाषा के रूप में पढ़ते हैं किन्तु पढ़ने के उद्देश्यों में अन्तर है। विदेशी भाषा होने के कारण अंग्रेजी का हमारी संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं है जबकि संस्कृत में हमारी सम्पूर्ण संस्कृति ही निहित है। अंग्रेजी का अध्ययन क्षेत्रीय भाषाओं की उन्नति का साधक होने के स्थान पर उनकी प्रगति में बाधक है जबकि संस्कृत इनकी उन्नति का साधक है। अंग्रेजी हमारी परतन्त्रता तथा संस्कृत हमारी स्वतंत्रता की परिचायिका है। छात्रों के समक्ष अंग्रेजी मातृभाषा से भिन्न एक अपरिचित भाषा के रूप में आती है जबकि संस्कृत उनके समक्ष एक परिचित भाषा के रूप में आती है जिसके अनेक शब्दों से वह पहले से ही परिचित रहता है। अतः अंग्रेजी शिक्षण के उद्देश्य संस्कृत शिक्षण के उद्देश्यों से सर्वथा भिन्न हैं। उनमें परस्पर किसी प्रकार की समानता नहीं है।

अंग्रेजी की प्रकृति ही भिन्न है। इसमें 'वाक्य-रचना-विधि' के अन्तर्गत वाक्य में प्रयुक्त कर्त्ता, कर्म, क्रियादि पदों के क्रम का वर्णन किया जाता है, किन्तु संस्कृत जैसी प्रत्यय-प्रधान भाषाओं में इसका न तो कोई निश्चित क्षेत्र ही है और न उसका कोई विशेष महत्त्व ही है। प्रत्यय-युक्त पदों से स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि वाक्य में प्रयुक्त एक शब्द का दूसरे शब्द के साथ क्या सम्बन्ध है ? इसलिए यदि वाक्य-रचना के साधारण क्रम का पालन न किया जाय तो भी अंग्रेजी वाक्य के विपरीत संस्कृत वाक्य में कोई क्षति अथवा अशुद्धि नहीं हो सकती। यथा 'Ram saw Govind' वाले वाक्य में 'राम' के स्थान पर

'गोविन्द' और 'गोविन्द' के स्थान पर 'राम' लिख दिया जाय तो इसका पूरा अर्थ ही बदल जायगा। इसके विपरीत संस्कृत का एक वाक्य ले लीजिए—'रामो गोविन्दमपश्यत्', गोविन्दं रामोऽपश्यत्, अपश्यद्रामो गोविन्दम्—इन सभी वाक्यों का एक ही अर्थ है। इसमें शब्द-विन्यास-स्थान-परिवर्तन से अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

अंग्रेजी एक विश्लेषणात्मक भाषा है जबकि संस्कृत संश्लेषणात्मक। प्रथम में प्रत्यय तथा विभक्ति शब्द के साथ संयुक्त रूप से नहीं अपितु पृथक लिखे जाते हैं यथा There is a tall tree on the bank of the river. इस वाक्य में tall, tree, bank, river आदि मुख्य शब्द तथा a, on, the, of आदि क्रियात्मक शब्द[1] हैं। मुख्य शब्दों का स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं अपितु स्वतंत्र अर्थ भी होता है। किन्तु क्रियात्मक शब्दों का न तो कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही होता है और न कोई विशिष्ट अर्थ ही। प्रसंगतः उनके अर्थ में परिवर्तन होता रहता है, यथा साधारणतया 'of' शब्द का का, की, के, अर्थ होता है। किन्तु 'He died of fever' में 'of' का अर्थ 'से' है। यह बात संस्कृत जैसी संश्लेषणात्मक भाषा में नहीं होती है। इसमें मुख्य शब्द एवं क्रियात्मक शब्द अविभाज्य हैं। दोनों मिल कर वाक्य में एक नये पद के रूप में प्रयुक्त होते हैं। वाक्य में इनके स्थान परिवर्तन से उसके अर्थ में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। अतः अध्यापक को दोनों भाषाओं की उपर्युक्त ढंग की प्रकृति-भिन्नता को दृष्टि में रख कर ही इनके शिक्षण के उद्देश्यों को निर्धारित करना चाहिए।

सारांश

इस समय संस्कृत शिक्षण तीन स्तरों में विभाजित है—प्रारम्भिक स्तर, माध्यमिक स्तर तथा उच्च स्तर। प्रथम दो स्तरों में यह हिन्दी के साथ अनिवार्य रूप में तथा एक स्वतन्त्र विषय की तरह वैकल्पिक रूप में पढ़ाई जाती है। उच्च स्तर पर इसका स्वरूप स्वतंत्र विषय के रूप में है और यह इसी रूप में वैकल्पिक विषय की तरह पढ़ाई जाती है।

संस्कृत शिक्षण के सामान्य उद्देश्य के रूप में छात्रों को यह बताते रहना चाहिए कि संस्कृत भाषा विश्व की प्रचीनतम भाषा और इसका साहित्य विश्व

---

1. Functional words.

का प्राचीनतम साहित्य है। इसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है और यह सभी अंगों से परिपूर्ण है। इसके प्रत्येक क्षेत्र में अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थ विद्यमान हैं जिनमें चारों पुरुषार्थों का सुन्दर विवेचन हुआ है। इसका साहित्य आचार शास्त्र की खान है। प्रत्येक आचार धर्म पर आधारित है और दार्शनिक तथ्य रखता है। संस्कारों की उत्पत्ति इसी के आधार पर हुई है। ये संस्कृत भाषा में ही कराये जाते हैं। संस्कृत-शिक्षण बुद्धि एवं हृदय में सन्तुलन स्थापित करने में सक्षम है। इसका शिक्षण भावों को परिष्कृत करता है तथा वैयक्तिक स्वार्थों की तुलना में सामाजिक हितों को प्रश्रय देता है। इस तरह यह मानव को सामाजिक बनाने में सक्षम है।

संस्कृत-शिक्षण का रहस्य है श्रद्धा एवं आत्मनिवेदन जिसके आधार पर शिक्षक एवं शिष्य में एक दूसरे के प्रति एक अटूट सम्बन्ध की स्थापना होती है जो अन्यत्र दुर्लभ है। इसका हमारी संस्कृति से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। इसमें राष्ट्रीय एकता बनाये रखने की अपूर्व क्षमता है। संस्कृत भारत की अधिकांश भाषाओं की जननी है। हिन्दी को पनपाने का एक मात्र श्रेय इसी को है। इतना ही नहीं अपितु शुद्धोच्चारण की दृष्टि से भी संस्कृत ध्वनि विज्ञान का अध्ययन करना भारतीयों के लिए अत्यन्त लाभप्रद है।

किसी भी भाषा के शिक्षण के चार प्रमुख अंग हैं—उस भाषा में किसी की कही हुई बात को सुन कर अथवा पढ़ कर तथा अपने भावों को उस भाषा में मौखिक अथवा लिखित रूप में व्यक्त करने की क्षमता प्राप्त करना। इन चारों बातों की शिक्षा सापेक्ष है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए छात्रों को प्राथमिक स्तर पर शुद्ध-शुद्ध पढ़ने, कण्ठस्थ श्लोकों का सस्वर तथा सुस्वर पाठ करने, इन्हें शुद्ध-शुद्ध लिख लेने तथा कतिपय आदेशात्मक वाक्यों को बोल लेने की शिक्षा देनी चाहिए। इसके अतिरिक्त उन्हें इस योग्य बनाना कि वे संस्कृत के सरल गद्य खण्डों एवं सरल श्लोकों का अर्थ समझ कर उनका अपनी मातृभाषा में तथा मातृभाषा के छोटे-छोटे और सरल वाक्यों का संस्कृत में अनुवाद कर सकें। माध्यमिक स्तर पर संस्कृत-शिक्षण का मुख्योद्देश्य उपरिलिखित क्षेत्रों में एतत्सम्बन्धी छात्रों की योग्यता में अभिवृद्धि ही करना है। इन्हें व्यवहारविद् बनाने के लिए उपयुक्त श्लोकों, सूक्तियों आदि को कण्ठस्थ करा देना चाहिए। उच्च स्तर पर छात्रों के भाषा सम्बन्धी सभी अंशों की परिपुष्टि करना ही संस्कृत शिक्षण का मुख्योद्देश्य होना चाहिए। उनमें इतनी योग्यता आ जाय कि वे संस्कृत के सभी तरह के गद्य खण्डों को पढ़ने, समझने, समझ कर अपनी

मातृभाषा में अनुवाद करने तथा अवसरानुकूल संस्कृत में बोलने में सक्षम हो जायँ। हमें संस्कृत-प्रेमी उत्पन्न करना है जो इसका सूक्ष्म अध्ययन कर सकें तथा इसका विश्लेषण कर इसके सन्देश को जन साधारण तक पहुँचा सकें।

संस्कृत शिक्षण एवं मातृभाषा-शिक्षण के उद्देश्यों में अन्तर है। मातृभाषा का प्रधान तथा संस्कृत भाषा का गौण स्थान है। जिस स्तर से संस्कृत-शिक्षण आरम्भ होता है, उस स्तर पर छात्र की मातृभाषा विषयक ज्ञान की पर्याप्त वृद्धि हुई रहती है। संस्कृत को वह दूसरी भाषा के रूप में पढ़ता है। मातृ-भाषा-शिक्षण में रचनात्मक, अभिव्यञ्जनात्मक एवं साहित्यिक उद्देश्यों की पूर्ति पर विशेष बल दिया जाता है। संस्कृत अधिकांश भाषाओं की जननी है। इससे मातृभाषा विषयक ज्ञान की सम्पुष्टि होती है। इसका शिक्षण इसी उद्देश्य से किया जाना चाहिए।

संस्कृत शिक्षण और अंग्रेजी शिक्षण के उद्देश्यों में भी अन्तर है। संस्कृत भारत की अधिकांश भाषाओं की जननी है जबकि अंग्रेजी एक विदेशी भाषा है। संस्कृत भारतीय संस्कृति का स्रोत और इसका साहित्य भारतीय समाज का दर्पण तथा भारतीयता का वाहन है जबकि अंग्रेजी एक विदेशी संस्कृत की द्योतिका है। अतः दोनों के शिक्षणोद्देश्यों में महान् अन्तर है। संस्कृत का अध्ययन क्षेत्रीय भाषाओं की उन्नति का साधक है जबकि अंग्रेजी का अध्ययन इनकी उन्नति में बाधक है। संस्कृत छात्रों के लिए एक परिचित भाषा तथा अंग्रेजी उनके लिए एक नितान्त अपरिचित भाषा है। अंग्रेजी की प्रकृति ही भिन्न है। यह एक विश्लेषणात्मक भाषा है। अतः संस्कृत एवं अंग्रेजी शिक्षण के उद्देश्यों में अन्तर है और इनका शिक्षण इन बातों को दृष्टि में ही रख कर करना चाहिए।

प्रश्न

1. विभिन्न विद्यालयों में संस्कृत की वर्तमान स्थिति की चर्चा करते हुए उसके शिक्षण के सामान्य उद्देश्यों का विशद विवेचन कीजिए।
2. निम्नलिखित स्तरों में से किन्हीं दो पर संस्कृत शिक्षण के उद्देश्यों का, उन्हीं स्तरों पर हिन्दी और अंग्रेजी शिक्षण के उद्देश्यों के साथ तुलना करते हुए, उल्लेख कीजिए।

   प्रारम्भिक स्तर, माध्यमिक स्तर तथा उच्च स्तर।

3. विभिन्न स्तरों पर संस्कृत शिक्षण के मुख्योद्देश्यों का विस्तृत विवेचन कीजिए।

4. माध्यमिक विद्यालयों में विभिन्न स्तरों पर संस्कृत शिक्षण के प्रमुख उद्देश्यों का उल्लेख कीजिए। इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु समुचित विधियों का सुझाव दीजिए।

सहायक ग्रन्थ

1. भाषा की शिक्षा —लेखक आचार्य सीताराम चतुर्वेदी।
2. भाषा-शिक्षा —लेखक श्री विजय नारायण चौबे।
3. संस्कृत शिक्षण विधि —लेखक श्री रघुनाथ सफाया।
4. संस्कृत शिक्षण —लेखक डा० राम शकल पाण्डेय।
5. साहित्य परिचय —अगस्त 1972
6. साहित्य परिचय —शैक्षिक उद्देश्य विशेषांक, 1972
7. शिक्षण के मूल सिद्धान्त—लेखक श्री विजय नारायण चौबे।

•

अध्याय 5

विभिन्न संस्कृत-शिक्षण विधियाँ (भाग 1)

प्राचीन काल की शिक्षण-विधियों को समझने के लिए उस समय के लोगों की मौलिक शक्ति, भौगोलिक एवं सामाजिक वातावरणों तथा दार्शनिक तथ्यों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। भौगोलिक वातावरण का, शिक्षा के स्वरूप से तथा इस स्वरूप का शिक्षण-विधियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। डा० अविनाश चन्द्र दास ने आर्य-भूमि की भौगोलिक स्थिति के विश्लेषण पर एक वृहद् निबन्ध लिखकर यह स्पष्ट किया है कि ऋग्वेद संहिता के निर्माण काल में आर्य-गण पंचनद, काश्मीर, वाह्लीक, गांधार, उत्तरी बिलोचिस्तान और पश्चिमी हिमालय आदि प्रदेशों में पूर्णतया बस चुके थे और यही सम्पूर्ण प्रदेश आर्यों का आदि निवास था। इसका वह भू-भाग जिसमें पंजाब की विपाशा (व्यास) शुतुद्रि या शतद्रु (सतलज), वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चुनाव) और परुष्णी (रावी) नामक नदियाँ बहती थीं और जो सिन्धु तथा सरस्वती के मध्य स्थित था, ऋग्वेद में 'देवनिर्मित देश' के नाम से पुकारा गया है। यहाँ की उर्वरा भूमि एवं सुखद जलवायु ने आर्यों को भौतिक संघर्षों से दूर हटा कर इन्हें अन्य मार्गों की ओर (दर्शन-कला आदि की ओर) विकसित होने का और ध्यानतत्पर तथा दार्शनिक बनने का स्वर्णिम अवसर प्रदान किया। इसी के फलस्वरूप समाज में एक ऐसे वर्ग का सृजन हुआ जिसने अपने को केवल दार्शनिक अनुसन्धानों की ही ओर लगाया।

भौगोलिक वातावरण

इस देश की सुरम्य वनस्थली, आकर्षक पर्वत-माला, नदियों के कलकल-निनाद, शीतल-मन्द-सुगन्धित वायु तथा निर्मल-सुस्वादु एवं स्वास्थ्यवर्द्धक जल ने ऐसे मनमोहक प्राकृतिक वातावरण की सृष्टि की, कि आर्यों का मन-मयूर नृत्य कर उठा और वे इस पर इस तरह लट्टू हो गये कि इसके उपासक बन गये। इन लोगों ने इन्द्र, वरुण, अग्नि, उषा, वायु, पर्जन्यादि की उपासना के लिए वैदिक मन्त्रों की रचना की और 'यज्ञ' को प्रोत्साहन दिया। इनके यागप्रेमी

प्राकृतिक वातावरण

होने के कारण यह देश यागप्रेमी आर्यों का देश कहलाने लगा। इन लोगों ने समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए पञ्चमहायज्ञों अर्थात् ब्रह्म-यज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ तथा नृयज्ञ का विधान बनाया और सबके लिए इनका करना अनिवार्य कर दिया। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इन यज्ञों को सर्वश्रेष्ठ कर्म की संज्ञा दी गई है। इनके करने से मनुष्य सब पापों से विमुक्त हो जाता है तथा सम्पूर्ण प्रजा का कल्याण होता है। यज्ञ में दी गई हवि वायु के माध्यम से अन्तरिक्ष में व्याप्त होकर सूर्य तक पहुँचती है और मेघों के साथ मिश्रित होकर वर्षा के रूप में पृथ्वी को अभिषिक्त करती है। इससे अन्न की उपलब्धि होती है। फलतः धन-धान्य-सम्पन्न होकर प्रजा सुखपूर्वक जीवन-यापन करती है। हवि से देव-गण प्रसन्न होते हैं और वे प्रजा का कल्याण करते हैं। यज्ञ करने से मनुष्य की ऐहिक विपत्तियाँ तो विनष्ट हो ही जाती हैं, वह जन्म-मरण के असाध्य कष्ट से भी मुक्त हो जाता है।

जिस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में गृहस्थाश्रम के यज्ञ-विधानों और कतिपय दूसरे कर्मों का प्रतिपादन हुआ है, उसी प्रकार आरण्यकों में वानप्रस्थाश्रम के सभी यज्ञों, महाव्रतों, कर्मों आदि का वर्णन है तथा उपनिषदों में आत्मज्ञान, मोक्षज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान का विवेचन है। इन यज्ञों के अवसर पर प्रयुक्त मंत्रों के उच्चारण की शुद्धता पर अधिक ध्यान दिया जाता था। इनके अक्षरों अथवा पदों के उच्चारण में तनिक भी असावधानी करने से वांछित अर्थ के स्थान पर दूसरा ही अर्थ हो जाने से महती क्षति हो जाने की आशंका थी। पाणिनीय शिक्षा से उद्धृत निम्नलिखित श्लोक इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

प्राचीन काल में शिक्षा का सारा ढाँचा सामाजिक दृष्टिकोण से तैयार किया गया था और छात्रों को उन्हीं बातों की शिक्षा दी जाती थी जिनका समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध होता था। सम्पूर्ण समाज चार वर्णों में विभक्त था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इन सबके लिए तदनुकूल शिक्षा की व्यवस्था की गई थी।

सामाजिक ढाँचा

शिक्षा वंशानुगता थी। सम्पूर्ण जीवन चार आश्रमों में भी विभक्त था—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास। सभी वर्णों के छात्र गुरु-आश्रमों तथा गुरु-कुलों में रह कर ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत कर समाजोपयोगी शिक्षा ग्रहण किया करते थे। समस्त शिक्षण में व्यक्तिगत सम्पर्क की प्रधानता थी। सभी बातों

को कण्ठस्थ कर लेने पर बल दिया जाता था। उनका विश्वास था कि 'कण्ठस्था तु या विद्या, स्वहस्तगतं धनम्।' 'कार्यकाले समुत्पन्ने सैव विद्या हि तद्धनम्' वे 'पुस्तकस्था विद्या' में विश्वास नहीं करते थे। उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि समय पड़ने पर यह विद्या सफलीभूत न होगी।

उपरिलिखित तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति की उत्पत्ति यहाँ के भौगोलिक, प्राकृतिक, सामाजिक वातावरण आदि से हुई। आरम्भ में हमारे पूर्वज लेखन कला से अनभिज्ञ थे और जब इसका प्रादुर्भाव भी हुआ तो इसका प्रयोग वैदिक साहित्य की रक्षा के लिए नहीं किया गया। लोगों की यह धारणा थी कि मनुष्य[1] वेदों के लिखने से नरकगामी होता है। इसके अतिरिक्त वेदों की पवित्रता की रक्षा करने के लिए उसे इस प्रकार स्मरण करना चाहिए कि किसी प्रकार की अशुद्धि न हो। अतः लिखने की प्रथा आरम्भ होने पर भी जहाँ तक वेदों की शिक्षा का सम्बन्ध था, लिख कर याद करने या पढ़ने के ढंग को पाठन विधि में सम्मिलित नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त मुद्रण-यंत्रों तथा कागज का सर्वथा अभाव था। अतः पुस्तकों की बड़ी कमी थी। कागज के स्थान पर भोजपत्र का प्रयोग होता था और इस तरह जितनी भी पुस्तकें लिखी भी जाती थीं, वे बहुमूल्य हुआ करती थीं। धनिकों के अतिरिक्त सभी उनको खरीद नहीं सकते थे। साधारण विद्यार्थी इस प्रकार की पुस्तकों से वंचित रहते थे। उनके लिए गुरु मुख से निकले हुए शब्दों को सुन कर उन्हें कण्ठस्थ कर लेने के अतिरिक्त विद्या प्राप्त करने का और कोई साधन नहीं था। ऐसी परिस्थिति में गुरु ही शिक्षा के स्रोत तथा उनके आश्रम शिक्षा के केन्द्र बन गये। इसी परिस्थिति ने एक ऐसी शिक्षण-पद्धति को जन्म दिया जिसे पाठशाला-पद्धति कहते हैं जो आज भी भारत के कोने-कोने में प्रचलित है।

लिखकर स्मरण करने का शिक्षा में स्थान नहीं

इस पद्धति के अन्तर्गत शिक्षारम्भ उपनयन संस्कार के अवसर पर होता था। विद्यार्थी गुरु के पास जाता था। उससे गुरु पूछता था कि "तुम किसके ब्रह्मचारी हो"। विद्यार्थी उत्तर देता था कि मैं आप का विद्यार्थी हूँ। तत्पश्चात् गुरु कहता था कि तुम

पाठशाला पद्धति

---

1. **वेदानां लेखकाश्चैव सर्वे निरयगामिनः—महाभारत आ० प०** 106/92।

इन्द्र के ब्रह्मचारी हो, अग्नि तुम्हारे आचार्य हैं, मैं भी तुम्हारा आचार्य हूँ। इसके पश्चात् वह उसे गायत्री मन्त्र का उपदेश देता था और इस तरह इस मन्त्र की दीक्षा के पश्चात् से ही शिक्षा आरम्भ हो जाती थी। प्रतिदिन विद्यार्थी नित्य कर्म कर गुरु के पास प्रातःकाल आ जाता था और गुरु की आज्ञा से वेद पढ़ता था। विद्यार्थी उत्तराभिमुख होकर, आचमन कर, ब्रह्मांजली बाँध कर गुरु के समीप विद्या पढ़ता था। अध्ययन के आरम्भ तथा अन्त में वह गुरु को साष्टांग प्रणाम कर दाहिने हाथ से दाँये पैर के अँगूठे को और बायें हाथ से बायें पैर के अँगूठे को स्पर्श करता था[1]। पठनारम्भ के पूर्व विद्यार्थी के ऐसा कर लेने के पश्चात् गुरु उसका हाथ पकड़ कर उसे सम्बोधित कर कहता था कि 'पढ़ो'। तब विद्यार्थी कुश से मार्जन कर अपने शरीर को तीन बार प्राणायाम के द्वारा शुद्ध कर 'ओंकार' शब्द का उच्चारण करता था। जो वेदाध्ययन के आरम्भ में तथा उसके अन्त में 'ओंकार' नहीं कहता था, उसकी विद्या धीरे-धीरे नष्ट हो जाती थी, ऐसी लोगों की धारणा थी। विद्यार्थी गुरु के दाहिनी ओर उत्तराभिमुख अथवा पूर्वाभिमुख बैठ गायत्री मन्त्र का पाठ करता था। तत्पश्चात् हाथों को दोनों जंघों पर रख कर एकाग्रचित्त हो गुरु की आज्ञा से अपना पाठ आरम्भ करता था।

छात्रत्व

सम्पूर्ण शैक्षणिक पद्धति ब्रह्मचर्य पर आधारित थी जो शिक्षण की अपेक्षा चर्या को अधिक महत्त्व देती थी। यह पद्धति एक ही शाला में रहने वाले 'विद्या-सम्बन्ध' से आबद्ध गुरु-शिष्य के निरन्तर सम्पर्क पर भी आधारित थी। इस प्रकार शिष्य सही अर्थ में अपने आचार्य का अन्तेवासी होता था। साधारणतया विद्यार्थी को ब्रह्मचारी के नाम से पुकारा जाता था। उसे 'छात्र' कह कर भी पुकारा जाता था क्योंकि सदैव अपने आचार्य की सेवा करना तथा छत्र की भाँति उसकी रक्षा करना उसका पुनीत कर्त्तव्य था। ये छात्र दो वर्गों में विभक्त थे—दण्ड माणव और अन्तेवासी। दण्ड माणव को केवल 'माणव' कह कर भी पुकारा जाता था। इसका यह नामकरण इसके एक काष्ठ-दण्ड धारण करने के नाते पड़ा था जिसे वह सदैव लिये रहता था। इस दण्ड को 'आषाढ़' भी कहते थे। यह पलाश की लकड़ी का बना हुआ होता था। मातंग जातक के अनुसार ये 'माणव' कम आयु के होते थे और दण्ड धारण किये हुए 'खड़ाऊँ'

---

1. मनुस्मृति अध्याय 2, श्लोक 70, 71, 72.

पर इधर-उधर घूमा करते थे। आचार्य की श्रेणी के गुरुओं द्वारा दीक्षित छात्रों को अन्तेवासी कहा जाता था। इस दीक्षा संस्कार को आचार्य-करण कहते थे। गुरु अपने को आचार्यत्व में परिणत कर माणवक को अपने शिष्य के रूप में अपने समीप लाते थे (आत्मानं आचार्यीकुर्वन् माणवकं आत्म समीपं प्रापयति)। यही अन्तेवासी यथोचित ब्रह्मचारी होता था जो अजिन और कमण्डलु धारण किये रहता था। यही चरण (अध्ययन के एक विशेष स्कूल को चरण कहते हैं) का पूर्ण रूप से सदस्य माना जाता था। अथर्ववेद के अनुसार आचार्य शिष्य को अपने गर्भ में धारण कर एक नया जन्म देता है। (आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः)। इसीलिए छात्र अध्यापक को पिता और अध्यापक छात्र को अपना पुत्र मानता था। यही कारण था कि आज जिस प्रकार की अनुशासनहीनता, उच्छृंखलता तथा उद्दण्डता शिक्षा-संस्थाओं में दिखाई देती है, वह गुरुकुलों में न तो कभी देखने को मिली और न तो सुनने को मिली।

अनिवार्य गुरु-गृह-निवास

इस प्रकार के प्रत्येक छात्र को अनिवार्य रूप से गुरु आश्रम में रह कर शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी। 'अन्तेकुल वासिन्' और 'अन्तेवासिन्' शब्दों से स्पष्ट है कि छात्र को गुरु के परिवार में निवास करना एक अनिवार्य शर्त थी। इसकी विशेषता यह थी कि छात्र यहाँ पर पारिवारिक जीवन का अनुभव करते थे तथा उन्हें गुरु और गुरु-पत्नी के साथ रह कर वही आनन्द मिलता था जिसे वे अपने माता-पिता के साथ रह कर प्राप्त कर सकते थे। एक फ्रान्सीसी लेखक के शब्दों में इस प्रकार गुरुकुल में रहने वाला छात्र भावात्मक दृष्टि से सन्तुष्ट रहता था और उसे परिवार का आभाव कष्टप्रद नहीं जान पड़ता था। उसे पितृवत् तथा मातृवत् स्नेह मिलने के कारण सन्तोष रहता था और कुण्ठा, निराशा एवं स्नेह से वंचित होने का उसके समक्ष कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। इसी के फलस्वरूप उस समय कोई छात्र समस्या भी न थी। इसके विपरीत आजकल का छात्र बड़े-बड़े नगरों के कोलाहल में विद्याध्ययन करता है, जहाँ रोमाण्टिक फिल्मी गीतों को सुन कर, सन्ध्या समय अत्यधिक व्यस्त सड़कों पर चुस्त-तंग पोशाकों में फैशन की चलती-फिरती प्रदर्शनी तथा चौराहों पर टँगे कामोत्पादक नग्न चित्रों को देखकर उसके मन में तरह-तरह के कुत्सित विचार उत्पन्न हो जाते हैं। फलतः वह आधुनिक ढंग से बने हुए छात्रावासों के विभिन्न प्रकार के ऐश्वर्य-युक्त साधनों से युक्त कक्षों में अपने पिता की गाढ़ी कमाई के पैसों को शराब की बोतलों, सिगरेट के धुओं,

होटलों की गर्म चाय के प्यालों तथा वेश्यालयों में नगर-बधूटियों की मुस्कानों एवं कटाक्षों का शिकार बन कर उनकी नाचों की थिरकनों और उनके पायलों की झनकार पर रीझ कर व्यय करने में अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझता है। उसे न तो माता-पिता का स्नेह ही मिल पाता है और न गुरु का सन्निध्य ही। परिणामस्वरूप वह उच्छृंखल, उद्दण्ड और अनुशासनहीन बन कर समाज के लिए एक कलंक बन जाता है।

गुरु-गृह-प्रवेश

प्राचीन काल में, आजकल की तरह, सबको उच्च शिक्षा पाने का अधिकार न था। उस समय के शिक्षा शास्त्रियों का यह विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति में उच्च शिक्षा से लाभ उठाने की क्षमता नहीं रहती। इस तथ्य को आज हम सभी स्वीकार करने लगे हैं कि अनिवार्य शिक्षा का सिद्धान्त अत्यन्त उचित नहीं है। आजकल हमारे विश्वविद्यालयों में ऐसे छात्रों की भरमार है जो न तो जिज्ञासु हैं और न शिक्षा पाने के अधिकारी ही; किन्तु वे शुल्क दे सकते हैं, इसलिए शिक्षा संस्थाएँ उनके लिए अपना द्वार बन्द नहीं कर सकती हैं। प्राचीन काल में ऐसी व्यवस्था न थी। उस समय केवल चुने हुए छात्रों को शिक्षा देने का विधान था। जब तक छात्र यह सिद्ध नहीं कर देता था कि उसमें पर्याप्त योग्यता एवं नैतिकता है, तब तक शिक्षक उसे अपने आश्रम में घुसने भी नहीं देता था। उपनिषदों में वर्णित नचिकेता की आत्म-ज्ञान-प्राप्ति तथा सत्यकाम की ब्रह्म-ज्ञान-प्राप्ति की कहानियाँ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यम नचिकेता को सर्व प्रथम नाना प्रकार का प्रलोभन देकर उसकी जिज्ञासा, ज्ञानादि की कठोर परीक्षा लेते हैं और जब वह इस परीक्षा में खरा सिद्ध होता है तो यम प्रसन्न होकर उसे जन्म और मृत्यु का रहस्य समझाते हैं। इसी प्रकार सत्यकाम ब्रह्म-विद्या-प्राप्ति हेतु गुरु-गृह में प्रवेश लेना चाहता है। उसके धैर्य और जिज्ञासा की परीक्षा के निमित्त गुरु उसे कुछ गायों को चराने का आदेश देता है। दस-बारह वर्ष की इस नीरस परीक्षा में वह खरा उतरता है और तब कहीं उसे गुरु-गृह में प्रवेश मिल पाता है। चुने हुए छात्रों को विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने की पद्धति का उल्लेख इतिहास में भी मिलता है। नालन्दा विश्वविद्यालयों में आधुनिक डिग्री वितरण करने वाले विश्वविद्यालयों की भाँति सर्व साधारण को प्रवेश नहीं मिल सकता था। उसके मुख्य द्वार पर एक सर्वज्ञान-सम्पन्न विद्वान् नियुक्त होता था जो किसी भी प्रवेशार्थी की कठोर परीक्षा लेता था और जिसके सन्तुष्ट होने पर ही उसको उसमें प्रवेश मिल पाता था। चरित्रवान् व्यक्ति ही छात्र

बन सकते थे। केवल सुपात्र को ही विद्या प्रदान करने का नियम था। इस सम्बन्ध में मनु ने कहा है कि जो शिष्य धार्मिक तथा शुश्रूषु न हो तो उसे विद्या नहीं देनी चाहिए। ऐसी विद्या ऊसर में बोये हुए बीज के सदृश निष्फल रहती है।

गुरु-गृह में छात्र जीवन

इस प्रकार गुरुकुलों में प्रविष्ट छात्रों का जीवन बड़ा कठोर होता था। उसे उषाकाल में उठना तथा सन्ध्यावन्दनादि से निवृत्त हो कर अध्ययन के लिए तैयार हो जाना पड़ता था। तीन बार स्नान करने तथा तीन बार प्रार्थना करने का नियम था। मनु के कथनानुसार जल[1] से शरीर की, सत्य बोलने से मन की, विद्या और तप से आत्मा की तथा ज्ञान से बुद्धि की शुद्धि होती है। मन की पवित्रता के लिए छात्रों को प्राणायाम करना भी सिखाया जाता था क्योंकि जिस[2] प्रकार अग्नि में तपाने से धातुएँ पवित्र होती हैं उसी प्रकार प्राणायाम से इन्द्रियों के मल भी नष्ट हो जाते हैं। छात्रों की वेश-भूषा निश्चित थी। उन्हें मृगचर्म, मूँज की मेखला यज्ञोपवीत, दण्ड और कमण्डलु भी धारण करना पड़ता था। जटा रखने का भी विधान था। अधिक वस्त्र पहनना, सजावट करना, काजल लगाना, तेल लगाना, दर्पण में मुख देखना, फूलों की माला पहनना, चन्दन का लेप करना, जूते पहनना, छाता लेकर चलना आदि वर्जित था। छात्र को जो कुछ भी भोजन मिले, उसको वह नमस्कार कर आदर पूर्वक ग्रहण करे। पूजा के पश्चात् प्रसन्नतापूर्वक किया गया भोजन शक्ति और वीर्य प्रदान करता है। विद्यार्थी को सन्तुलित भोजन करने का नियम था। उसके समक्ष 'अजीर्ण भोजनं विषम्' का सिद्धान्त उपस्थित कर हुतभुक् तथा मितभुक् होने का उपदेश दिया जाता था। उसके लिए मांस, मधु, मिष्ठान, पान, वासी भोजन आदि वर्जित थे। उसके लिए भूमि शयन, गुरु के सोने के पश्चात् सोने तथा उसके जगने के पूर्व ही जग जाने का विधान था। काक द्रष्टा, बकुलध्यानम्, श्वाननिद्रा, स्वल्पाहारी, गृहत्यागी ये विद्यार्थी के पाँच लक्षण माने गये थे।

---

1. अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति। [मनुस्मृति]
2. दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषः प्राणस्य निग्रहात्॥ [मनुस्मृति]

छात्र का यह पुनीत कर्त्तव्य था कि वह यज्ञ की अग्नि को प्रज्ज्वलित रखे। यह इस बात का द्योतक है कि जिस प्रकार अग्नि हर समय जलती रहे, उसी प्रकार छात्र भी अपनी जिज्ञासा को जागरित रखे।

कर्त्तव्य एवं अनुशासन

कुलपति की अनुपस्थिति में छात्र ही गुरुकुल के रक्षक होते थे। यही गुरु-परिवार, पशुधन, खेती आदि की देखभाल करते थे। ऐसे अवसरों पर उनके चरित्रबल की भी परीक्षा होती थी। कच और देवयानी की कथा इसका ज्वलन्त उदाहरण है। प्रत्येक छात्र को भिक्षा माँगना अनिवार्य था। इसका मुख्योद्देश्य छात्र को स्वावलम्बी एवं विनयी बनाना तथा समाज को यह अनुभव कराना कि छात्रों के प्रति उसका क्या दायित्व है। उपनयन संस्कार के अवसर पर भीख माँगने की प्रथा इसी नियम का द्योतक है। इस प्रथा से छात्रों में परस्पर ऊँच-नीच, धनी-निर्धनी आदि भाव नहीं उत्पन्न हो पाते थे। 'भिक्षा-वृत्ति' से संग्रह करना सर्वथा वर्जित था। गुरु-सेवा करना छात्र का पुनीत कर्त्तव्य था। उसका आदर करना और उसकी आज्ञा का अक्षरशः पालन करना छात्र का सबसे बड़ा दायित्व था। राम, कृष्ण, अर्जुन, कर्ण, एकलव्य, उपमन्यु आरुणि, सत्यकाम, कच आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। गुरुकुलों में छात्रों को उच्चतम अनुशासन का पालन करना पड़ता था। उसके लिए वासना, तृष्णा, क्रोध, असत्य, भय, घृणा, मान, आलस्य, मद, मोह, चपलता, क्रूरता, असूया, व्यर्थ-विवाद, परनिन्दा, मद्यपान, स्त्री-वार्तालाप आदि वर्जित थे। उसके लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य था। इसके पालन से आरोग्यता, बुद्धि, बल, पराक्रम आदि की वृद्धि होती है। उसके लिए यम-नियम का पालन करना अत्यन्त आवश्यक था। अहिंसा, सत्यकथन, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, लोभ-भोग-त्याग आदि यम तथा स्नानादि से प्राप्त शारीरिक पवित्रता, सन्तोष, कष्ट सहन, स्वाध्याय, ईश्वरोपासना आदि नियम हैं। इन गुणों से युक्त छात्र श्रेष्ठ स्थिति को प्राप्त कर लेता है। कहा भी गया है कि —

अभिवादन शीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम्॥

ब्रह्मचारी अपने गुरु से विद्या-सम्बन्ध से आबद्ध होता था जो रक्त सम्बन्ध से किसी भी प्रकार कम न होता था। पाणिनि 'अनूचान' एवं 'प्रवचनीय' कहलाने वाले अध्यापकों का उल्लेख करते हैं जिनमें प्रथम वेदों

आचार्य प्रवक्ता

का अर्थ करने वाला तथा दूसरा मौखिक रूप से शिक्षा

देने वाला तथा दूसरा मौखिक रूप से शिक्षा देने वाला होता था। इनके अतिरिक्त आचार्य, प्रवक्ता, श्रोत्रिय तथा अध्यापक चार प्रकार के शिक्षक और थे। जैसा कि ऊपर कहा गया है—अथर्ववेद के अनुसार 'आचार्य शिष्य को अपने गर्भ में धारण कर उसे एक नया जन्म देता है। उसी के नाम पर शिष्य को पुकारने की प्रथा थी जिससे आचार्य-शिष्य की घनिष्ठता स्वतः स्पष्ट हो जाती है। पाणिनि ने इसे अपने सूत्र 'आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासी' द्वारा व्यक्त किया है जिसका तात्पर्य है कि अन्तेवासी अपने आचार्य के नाम से जाना जाता है, यथा आपिशाल, पाणिनीय आदि। ऐसे ही शिक्षक आचार्य कहलाते थे तथा उच्चतम उपाधिधारी होते थे, उदाहरणार्थ आचार्य शाकटायन, आचार्य पाणिनि आदि। सूत्रों में वर्णित शेष तीन श्रेणी के शिक्षक पूर्वापरता के क्रम से व्यक्त हैं। इनमें से प्रवक्ता आचार्य की सामान्य देख-रेख में वेदमन्त्रों अथवा प्रोक्त साहित्य की व्याख्या करने वाला होता था। श्रोत्रिय उन शिक्षकों को कहा जाता था जो छन्दों को शुद्ध-शुद्ध पाठ कर सकते थे। ये विभिन्न पाठों यथा संहिता, पद, क्रम पाठादि को कण्ठस्थ कर लेने के विशेषज्ञ होते थे। पाणिनि से कई शती पूर्व वैदिक ऋचाओं को बिना पद एवं स्वर के परिवर्तन के कण्ठस्थ कर लेने में दक्षता प्राप्त कर ली गई थी। पाणिनि ऐसे शिक्षकों को क्रमक, पदक आदि नाम से पुकारते हैं। अध्यापक को सम्भवतः साम्प्रदायिक एवं वैज्ञानिक लेखों के अध्यापन का कार्य सौंपा गया था। महाभाष्य में ये प्रायः उपाध्याय के नाम से व्यक्त किये गये हैं।

श्रोत्रिय, अध्यापक

विद्यार्थियों का नामकरण विषय, चरण (विशिष्ट वैदिक शाखा) तथा गुरु के नाम पर होता था, यथा यज्ञ सम्बन्धी नियमों तथा व्याकरण पढ़ने वाले छात्रों को क्रमशः 'याज्ञिक' और 'वैयाकरण' कह कर पुकारा जाता था। इसी प्रकार क्रतु अथवा सोम यज्ञ के छात्रों को आग्निष्टोमिक, वाजपेयिक तथा वैदिक पाठों के छात्रों को 'क्रमकाः', 'पदकाः' आदि नामों से इंगित किया जाता था। विशिष्ट ऋतुओं में पढ़ने के कारण भी छात्रों का उन ऋतुओं के नाम पर नामकरण होता था, यथा वसन्त ऋतु में पढ़ने वालों को वासन्तिक, वर्षा में पढ़ने वालों को वार्षिक, शरद में पढ़ने वालों को शारदिक आदि नामों से पुकारा जाता था। कभी-कभी दो तरह के छात्रों को एक साथ ही सम्बोधित किया जाता था और उन्हें आदेश दिया जाता था; यथा पदक क्रमकम् गच्छतु अर्थात् पदक और क्रमक छात्रों को जाने दो। काशिका में उल्लिखित 'क्रमक-

विद्यार्थियों का नामकरण

वार्त्तिकम्' पद इस बात का द्योतक है कि 'क्रम पाठ' का अध्ययन कर लेने के पश्चात् छात्र 'वृत्ति' का अध्ययन करें। पतञ्जलि ने भी इस बात का उल्लेख किया है कि छात्रों को सर्वप्रथम वैदिक पाठों के सुस्वर एवं सस्वर पठन की की शिक्षा दी जाय। व्याकरण की शिक्षा इसके पश्चात् दी जाय।

पाठ्य-क्रम का क्रम स्थापन

माणव, अन्तेवासी, चरक आदि छात्रों की तथा अध्यापक, प्रवक्ता, आचार्य आदि शिक्षकों की विभिन्न श्रेणियों से यह स्पष्ट होता है कि शैक्षिक क्षेत्र में विभिन्न श्रेणियाँ थीं। पाणिनि ने विशिष्ट ग्रन्थों के अध्ययन की विभिन्न श्रेणियों का उल्लेख किया है, यथा कला और मुहूर्त्त पाठों तक के ज्योतिष विज्ञान के अध्ययन को "सकलाम् समुहूर्त्ताम् ज्योतिषमधीते" तथा 'संग्रह' तक व्याकरण के अध्ययन को "ससंग्रहम् व्याकरणम् अधीते" कहा गया है। 'अन्त-वचन' पाठ्य-क्रम को पूर्ण कर लेने का द्योतक है। किसी विशिष्ट विषय को पूर्ण कर लेने को 'वृत्त' कहते थे, यथा देवदत्त ने कहाँ तक पढ़ लिया है ?" इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा गया है कि "वृत्तो गुणो देवदत्तेन, वृत्तम् पारायणम् देवदत्तेन" अर्थात् देवदत्त ने गुण तक तथा 'पारायण' तक पढ़ लिया है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, वर्ष भर का पाठ्य-क्रम विभिन्न ऋतु पाठ्य-क्रमों में विभक्त होता था और इन्हें इन्हीं ऋतुओं के नाम से पुकारा भी जाता था, यथा, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा आदि। विषय विशेष के किसी विशिष्ट भाग अथवा पाठ से सम्बद्ध संक्षिप्त पाठ्य-क्रमों का भी प्राविधान था जो 'तदस्य ब्रह्मचर्यम्' से स्वतः स्पष्ट है। इसके अनुसार ऐसे छात्रों को जितनी अवधि में उस विषय को पढ़ लेते थे, उतनी अवधि की संज्ञा से पुकारा जाता था, यथा, मासिक ब्रह्मचारी, अर्द्ध मासिक ब्रह्मचारी, साम्वत्सरिक ब्रह्मचारी आदि। अध्ययन समाप्ति को समापन कहते थे।

किसी विषय का प्रतिपादन करने वाले अध्यापक को 'आख्याता' तथा नियमपूर्वक विद्या-ग्रहण को 'उपयोग' कहते थे। स्वाध्याय के गुरु को प्रवचनीय कहा जाता था। प्रतिपादित विषय के लिए भी इसी शब्द का प्रयोग किया जाता था, यथा 'प्रवचनीयो गुरुणा स्वाध्यायः'। इन शिक्षकों के अतिरिक्त 'अनूचान' कहे जाने वाले दूसरे वर्ग के भी अध्यापक थे। बोधायन के अनुसार ये वेदाङ्गों के व्याख्याता होते थे। एक शिक्षक के पास अध्ययन के लिए तैयारी करने को 'अनुप्रवचनीय' कहा जाता था। अपने संरक्ष्य को शिक्षा दिलाने के निमित्त उसका पिता अथवा अभिभावक आदरपूर्वक शिक्षक के पास जाकर

उससे प्रार्थना करता था कि आप इस युवक को शिक्षा देने के निमित्त अपने महाँ प्रवेश कर लेने की कृपा करें और इसके विषय को तैयार करा दें। विद्यार्थी को इसके लिए कठोर अनुशासनात्मक जीवन व्यतीत करना पड़ता था। इसकी कठिनाई 'कष्टोऽग्निः' कष्टम् व्याकरणम्, ततोऽपि कष्टकरणाणि सामानि आदि से स्वतः स्पष्ट हो जाती है। अष्टाध्यायी में ऐसे अध्यापकों का उल्लेख है जो बड़े ही कठोर अनुशासन के मानने वाले थे। इन्हें दारुणाध्यापक, घोराध्यापक आदि नामों से पुकारा जाता था। इसके अतिरिक्त काष्ठाध्यापक तथा स्वाध्यापक भी होते थे। [पूजनात् पूजितम् अनुदात्तम् काष्ठादिभ्यः 8-1-67] अवकाश प्राप्त अध्यापक 'प्राचार्य' तथा पुराने छात्र 'प्रान्तेवासी' कहलाते थे।

मौखिक एवं व्यक्तिगत शिक्षण-पद्धति

वैदिक शिक्षा मौखिक होती थी। गुरु स्वयं वेद मन्त्रों का उच्चारण कर विद्यार्थियों से उसी तरह कहलवाते भी थे। विद्यार्थी उनका सस्वर पाठ किया करते थे जैसा कि पारायण पद्धति से स्वतः स्पष्ट हो जाता है। उच्चारण सम्बन्धी प्रत्येक कठिनाई को गुरु शिष्य को बतलाते थे और इस तरह व्यक्तिगत शिक्षा पर विशेष ज़ोर दिया जाता था। प्रतिदिन नवीन पाठ आरम्भ करने के पूर्व गुरु इस बात का निर्णय कर लेते थे कि ब्रह्मचारी को गत पाठ स्मरण हो पाया है या नहीं। वे केवल पढ़े हुए पिछले पाठ की ही आवृत्ति नहीं करवाते थे अपितु उन सभी पाठों की आवृत्ति करवाते थे जिन्हें विद्यार्थी अच्छी तरह समझे हुए थे। पठित अंश को स्मरण करा लेने के पश्चात् ही वह शिष्य को आगे का पाठ पढ़ाते थे। इससे यह सिद्ध होता है कि वे 'अभ्यास से कार्य दक्षता प्राप्ति' वाले सिद्धान्त से भली-भाँति परिचित थे। आज भी समस्त वैदिक पाठशालाओं में मौखिक प्रणाली का ही प्रयोग किया जाता है और यही कारण है कि सारे देश में वेदों के उच्चारण करने की पद्धति तथा उनका पाठ एक सा है। विद्यार्थी पठित पाठों की जितनी ही आवृत्ति करता था, उसे पाठ स्मरण करने में उतनी ही सफलता भी मिलती थी। ऐसी दशा में स्मरण कराने के लिए और भी उपाय किये गये थे। गद्य की अपेक्षा पद्य को लोग अच्छी तरह स्मरण कर लेते हैं, यह मनोविज्ञान शास्त्र का एक सिद्धान्त है। इस नियम को हमारे पूर्वजों ने भली-भाँति समझा था और अपनाया भी था। मन्त्रों की रचना पद्यमय थी। अतः उन्हें स्मरण करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती थी। आज भी चतुर अध्यापक गूढ़ से गूढ़ विषय को सूक्ष्म रूप से पद्य में लिख कर लड़कों को बतला देते हैं और इस तरह अध्यापक तथा

बालक दोनों की समस्या सहज में ही में हल हो जाती है। जैसे "काइण्ड, जेण्डर, नम्बर, केस, यह सब बसैं नाउन के देश" वाले दोहे से नाउन (संज्ञा) शब्दों की पद-व्याख्या करते समय किन-किन बातों की आवश्यकता होती है, स्पष्ट हो जाती है और विद्यार्थी उन्हें सुविधापूर्वक स्मरण कर लेता है।

कुछ लोगों का यह सोचना कि उस समय के लोग लिखना नहीं जानते थे, अतः उन लोगों ने इस प्रणाली को अपनाया, नितान्त भ्रम-मूलक है। हिन्दू धर्म के अनुसार ऋषि ही मन्त्र के जानने वाले होते थे (ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः) और उन्हें वे अपने आत्मबल से जानते थे। इन मन्त्रों की आवश्यकता यज्ञ के अवसर पर अधिक पड़ती थी। अतः उनका स्मरण करना आवश्यक था। उस समय के लोग पुस्तक की विद्या और दूसरों को दिए हुए धन पर विश्वास नहीं करते थे। वे जानते थे कि समय पड़ने पर न तो यह विद्या ही काम आती है और न यह धन ही। वे तो कण्ठस्थ विद्या ही में विश्वास करते थे। इसलिए इन लोगों ने मौखिक प्रणाली को अपनाया।

विषयानुकूल अध्ययन-पद्धति विभिन्न प्रकार की होती थी। वैदिक मन्त्रों की बार-बार आवृत्ति कर उन्हें कण्ठस्थ किया जाता था। इन पर पूर्णतया अधिकार कर लेने वाले को 'श्रोत्रिय' कहते थे। बिना अर्थ समझे

पारायण पद्धति

हुए वैदिक मन्त्रों के सस्वर पाठ को 'पारायण' कहते थे। ऐसा करने वाले को 'पारायणिक' कहा जाता था। अच्छी स्मृति वाले छात्र जो बिना यत्न के ही वैदिक पाठों को कण्ठस्थ कर लेते थे, 'अकृच्छ्र' कहलाते थे और 'अधीयान पारायणम्', 'धारयन् उपनिषदम्' आदि से इंगित किये जाते थे। वेद को कण्ठस्थ कर लेने के लिए वाञ्छित अध्ययन (आवृत्ति) की संख्या को व्यक्त करने का भी सूत्रों में प्रविधान है, यथा पञ्चक अध्ययन (पाठ को पाँच बार पढ़ना) पञ्च बार (शब्दों को पाँच बार कहना), पञ्च रूप (पाँच प्रकार से पढ़ना) आदि। इसी प्रकार इससे भी अधिक बार पारायण करने की संख्याओं का उल्लेख है, यथा सप्तक, अष्टक, नवक आदि। अशुद्ध शब्दोच्चारण सूचक शब्द भी नियत थे, जैसे, पदम् मिथ्या कारयते, स्वरादि दुष्टम्, असकृत् उच्चारयति आदि। परीक्षा के अवसर पर उच्चारण करते समय की गई अशुद्धियों की संख्या के अनुसार विद्यार्थियों को इंगित किया जाता था, यथा एक अशुद्धि करने वाले को ऐकानयिक, दो अशुद्धियाँ करने वाले को द्वयनयिक, तीन अशुद्धियाँ करने वाले को त्रयनयिक आदि। पारायण की भी विभिन्न प्रणालियाँ थीं। कभी किसी प्रणाली के अनुसार पारायण किया

जाता था तो कभी किसी प्रणाली के अनुसार, जैसे संहिता-पारायण, पदपारायण, कर्मपारायण आदि। पारायण करने वाले छात्रों को विविध प्रकार के नियमों का पालन करना पड़ता था। कोइ मौन-व्रत धारण करता था तो दूसरा केवल दूध ही पीकर रहता था। कभी-कभी पारायण करने वाले छात्र अपनी शारीरिक शक्ति के अनुसार केवल पानी, दूध, अथवा फल का ही सेवन करते थे। इस 'श्रुति' परम्परा की सफलता का रहस्य इस प्रकार के विश्वास एवं श्रद्धा में निहित है कि इस 'पवित्र वाणी का अपना मूल्य है। अतः इसे अमूल्य ज्ञान-विधि के रूप में स्मृति में संचित कर लेना चाहिए। यही भावना ही इस पद्धति की उत्पत्ति के मूल में स्थित है।

वाद-विवाद-पद्धति

इस यांत्रिक पद्धति की भी एक सीमा थी। पतंजलि ने इसे नीरस बताया है और इसकी तुलना शुष्क ईंधन से की है जो ऐसे स्थान पर फेंक दिया गया हो जहाँ इसे प्रज्वलित करने के लिए अग्नि ही न हो। पाणिनि ने बहुत से ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जिनसे विभिन्न शैक्षिक पद्धतियों का आभास मिलता है, यथा प्राक्कथन[2], भाषण, सम्यक् अवबोध, विमति, विप्रलाप, प्रतिश्रवण, प्रतिज्ञा, जिज्ञासते आदि। ये सभी शब्द वाद-विवाद पद्धति के द्योतक हैं। इस पद्धति का उल्लेख उपनिषदों एवं बौद्ध साहित्य में बहुत है। विचार्यमाणानाम्, प्रमाणेन वस्तु-परीक्षणम्, ज्ञानम्, प्रमाणेन निश्चितः आदि शब्द भी इसी के परिचायक हैं। जो इस वाद-विवाद में विजयी होता था, उसका बड़ा सम्मान होता था और वही इस विषय का सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता समझा जाता था। पाणिनि स्वयं अपने विषय के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् माने जाते थे।

इस पद्धति के अनुसार पक्ष तथा विपक्ष में बातें कही जाती थीं और इस तरह प्रस्ताविक विषय पर प्रकाश डाला जाता था। इससे भाव प्रकाशन की शक्ति बढ़ती थी। इसके माध्यम से साध्य की प्राप्ति के आठ साधन बतलाये गये

---

1. यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥ [पतञ्जलि]

2. प्राक्कथन—तत्क्षण बिना पूर्व तैयारी के कुछ कहना; भाषण—व्याख्या करना; सम्यक् अवबोध—ज्ञान-प्रदर्शन; विमति अथवा विप्रलाप—विभिन्न मतों की अभिव्यक्ति।

हैं जो इस प्रकार हैं—सिद्धान्त[1] (इसको दूसरे शब्दों में 'प्रतिज्ञा' कह सकते हैं।) हेतु, उदाहरण, साधर्म्य (अनुकूल उदाहरण), वैधर्म्य (प्रतिकूल उदाहरण), प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में इस प्रकार की प्रणाली का जिक्र आया है। राजा जनक ने भी इस प्रकार की सभा की थी जिसमें दर्शन सम्बन्धी प्रश्नों पर शास्त्रार्थ हुआ था। इसमें विख्यात दर्शन शास्त्री गार्गी ने प्रश्न किया था। मण्डन मिश्र का शास्त्रार्थ तो सर्वविदित ही है। जिन स्थानों पर इस प्रकार का वाद-विवाद हुआ करता था, उन्हें बौद्ध साहित्य में 'सन्थागार' कहते हैं।

इस पद्धति का प्रयोग आज भी संस्कृत पाठशालाओं में प्रचलित है। इसका ज्वलन्त उदाहरण उत्तर प्रदेश के पूर्वीय जिलों में बारात के अवसर पर खूब मिलता है। इस अवसर पर वर पक्ष तथा कन्या पक्ष के पण्डितों में शास्त्रार्थ होता है। सदन के समक्ष समस्या प्रस्ताव के रूप के प्रस्तुत कर दी जाती है। कुछ लोग प्रस्ताव के पक्ष में और कुछ लोग इसके विपक्ष में बोलते हैं जिससे कठिन से कठिन समस्या भी आसान हो जाती है। जो लोग इस प्रकार के वाद-विवाद में सफल होते थे, उनका समाज में आदर होता था। आज यह प्रथा वाद-विवाद प्रतियोगिता के रूप में दिखाई देती है।

प्रश्नोत्तर प्रणाली

जिस समय शिष्य गुरु के समक्ष पढ़ने के लिए उपस्थित होता था, उस समय गुरु 'ॐ' कह कर पाठ पढ़ाना आरम्भ करते थे। वे पाठ को प्रश्नोत्तर प्रणाली के अनुसार पढ़ाया करते थे। प्रत्येक प्रश्न के पश्चात् विद्यार्थी उनकी आवृत्ति किया करते थे और इस प्रकार सम्पूर्ण व्याख्यान समाप्त होता था। प्रत्येक प्रश्न में दो या तीन पद्य तथा प्रत्येक व्याख्यान में 60 प्रश्न हुआ करते थे। उपनिषदों में इसका प्रमाण अधिक मिलता है जहाँ पर गहन विषयों का विवेचन इस प्रणाली के द्वारा किया गया है। प्रश्नों का उत्तर देते समय गुरु उचित उदाहरणों, कथाओं और कहानियों का भी प्रयोग किया करते थे। कभी-कभी वे प्रश्नों का विस्तृत उत्तर न देकर केवल संकेत कर दिया करते थे। छात्र उनके आधार पर सही उत्तर पाने का यत्न करते थे। तैत्तिरीय उपनिषद् में वरुण ने अपने पुत्र भृगु को ब्रह्म के बारे में केवल संकेत कर दिया था। इस तरह के चार या पाँच बार के संकेत करने के पश्चात् वह ब्रह्म को समझने में

---

1. Ancient Indian Education—R. K. Mookerji, Page 454.

समर्थ हो गये थे। छान्दोग्य उपनिषद् में भी इस प्रकार के अनेक प्रमाण मिलते हैं।[1] उपाध्याय का यह कर्त्तव्य था कि वह प्रत्येक विद्यार्थी की शंकाओं का निराकरण करे। गृहस्थों की शंकाओं का भी गुरु लोग समाधान किया करते थे। गीता में प्रतिपादित सिद्धान्तों का उपदेश श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इसी प्रणाली के अनुसार दिया था। बौद्ध मठों में इस प्रणाली का खूब प्रचार था। बौद्ध भिक्षुओं के समीप उपासक लोग अपनी शंकाओं को रखते थे और वे उनका सन्तोषजनक उत्तर देते थे। 'मिलिन्द प्रश्न' नामक ग्रन्थ बौद्ध साहित्य का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसमें मेनेण्डर के बौद्ध धर्म सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का वर्णन है। नागसेन ने उनका यथोचित उत्तर दिया है।

प्रश्नों की व्याख्या 'विधि' तथा 'अर्थवाद' के द्वारा की जाती थी। आचार्य प्रश्न में वर्णित सभी कार्यों का अभिनय करता था। तत्पश्चात् उनकी व्याख्या करता था। 'व्याख्या' शब्द की व्याख्या के सम्बन्ध में किसी कवि की उक्ति इस प्रकार है—

पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना।
आक्षेपोऽथ समाधानं व्याख्यानं षड्विधं स्मृतम्॥

व्याख्या-पद्धति

पदच्छेद, पदार्थोक्ति, विग्रह, वाक्य योजना, आक्षेप तथा समाधान ये छः व्याख्यान के ढंग थे। वाचस्पति मिश्र ने भी इस विधि का समर्थन किया है। उनके अनुसार अध्ययन, शब्द-बोध (शब्द का अर्थ समझना), ऊह (सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए तर्क करना), श्रुत प्राप्ति और दान (प्रयोग) इन पाँच प्रकारों से किसी धार्मिक तथ्य पर पहुँचा जा सकता है। माधवाचार्य की उक्ति इस विषय में इस प्रकार है—

विषयो संशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरः।
संगतिश्चेति पंचांगं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्॥

विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष तथा संगति—ये पाँच बातें प्रत्येक बात को समझने के लिए आवश्यक होती हैं। भर्तृहरि के अनुसार किसी शब्द

---

1. Ancient Indian Education– R. K. Mookerji, Page 112.

के अर्थ को समझने के लिए संयोग[1], विप्रयोग (प्रसिद्ध सम्बन्ध विभाग), साहचर्य वैधर्म्य, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, सन्निधि, सामर्थ्य, औचिति, देश, काल, व्यक्ति, स्वर आदि बातों की जानकारी की आवश्यकता होती है। कामन्दकी के अनुसार किसी अर्थ को जानने के लिए सात बातें आवश्यक होती है जो इस प्रकार हैं—शुश्रुषा (सुनने की इच्छा, जिज्ञासा) श्रवण (सुनना) ग्रहण (स्वीकार करना), धारण (अपनाना), ऊहापोह (वाद-विवाद), अर्थ विज्ञान (ठीक-ठीक समझना) तथा तत्त्व-ज्ञान (असली अर्थ को समझना)। शब्दार्थ-व्याख्या के लिए इनका होना आवश्यक था। दिवाकर[2] मित्र अपने विद्यार्थियों के शास्त्रीय भ्रम को व्याख्या द्वारा ही दूर किया करते थे। ह्वेनचांग तथा इत्सिंग ने भी इसका समर्थन किया है। इसके अतिरिक्त गुरु लोग संस्कृत भाषा के अतिरिक्त प्राकृत तथा अन्य देशीय भाषाओं का भी प्रयोग व्याख्या करते समय करते थे।[3] ब्राह्मण[4] ग्रन्थों का भी मुख्योद्देश्य वैदिक ग्रन्थों की व्याख्या ही करना है। इन ग्रन्थों के अध्ययन से यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि इनमें संहिता की व्याख्या की गयी है।

सूत्र-पद्धति

कभी-कभी बड़ी-बड़ी बातों को सूत्र रूप में भी बतलाया जाता था। व्याकरण तथा दर्शन के गहन विषय इसी ढंग से पढ़ाये जाते थे। पाणिनि के सूत्र इस प्रणाली के ज्वलन्त उदाहरण हैं। सूत्रों का मुख्य उद्देश्य बड़ी बात को संक्षेप में बतलाना था। आज भी चतुर अध्यापक इन नियमों का पालन करते हैं। इस प्रकार स्मरण कराने की ओर अधिक प्रवृत्ति देख कर कुछ लोगों का यह अनुमान हो सकता है कि कण्ठाग्र करते समय विद्यार्थी विषय को समझने पर अधिक ध्यान न देते रहे होंगे। केवल लकीर के फकीर के सिद्धान्त के अनुसार

---

1. संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
   अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
   सामर्थ्यमौचितीदेशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
   शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥ [काव्य प्रकाश 2, 19]
2. हर्ष चरितम्—अष्टम उच्छ्वास।
3. डा० अल्तेकर—Education in Ancient India Page. 163-64.
4. A History of Sanskrit Literature by Arther A. Macdonell. Page 32.

उसे रट लेते रहे होंगे। पर उनका इस प्रकार का अनुमान करना सर्वथा निराधार है। सूत्रों की व्याख्या के बिना दर्शन शास्त्र, तर्क शास्त्र आदि गहन विषयों का समझना असम्भव था। इन्हीं सूत्रों की व्याख्या के लिए भाष्य प्रणाली, टीका प्रणाली आदि का अनुसरण किया गया था।

उपर्युक्त पद्धतियों के अतिरिक्त शिक्षक शिक्षण में कहानी-कथन-पद्धति का भी प्रयोग करते थे। उपनिषद् इस प्रकार की कहानियों से भरे पड़े हैं। पञ्चतंत्र तथा हितोपदेश नाम के ग्रन्थ इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। विष्णु शर्मा ने मूर्ख राजकुमारों को कहानियों के ही माध्यम से नीतिविद् बना दिया। बालक स्वभाव से ही कहानी का प्रेमी होता है। इस सिद्धान्त से हमारे पूर्वज भली-भाँति अवगत थे। आज भी इस पद्धति का प्रयोग प्रारम्भिक कक्षाओं में विशेष रूप से किया जाता है। इस पद्धति का विशद विवेचन 'कहानी-कथन-पद्धति' वाले पाठ में विशेष रूप से किया गया है।

कहानी-कथन पद्धति

गुरु-आश्रमों में श्रेष्ठ विद्यार्थी भी छोटे-छोटे विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे। एक अध्यापक के लिए जहाँ पर लगभग 500 विद्यार्थी विद्याध्ययन करते हों, उनके पढ़ाने का प्रबन्ध करना असम्भव था। अतः उनकी सहायता के लिए सहायक अध्यापकों की नियुक्ति होती थी और वे श्रेष्ठ विद्यार्थी ही हुआ करते थे। ऐसे विद्यार्थी अपने पढ़ाये हुए विद्यार्थियों से गुरुवत् सेवा नहीं ले सकता था। उसकी गणना शिष्यों में ही होती थी। वह उन्हीं के साथ रहता था और अध्यापन कार्य में गुरु की सहायता करता था। मनु[2] ने कहा है कि यदि गुरुकुल में अध्यापक का पुत्र योग्य और विद्वान् हो तो वह भी पिता के स्थान पर अध्यापन का कार्य कर सकता है; किन्तु वह अपने पिता की तरह (गुरु के समान) शिष्यों की सेवा ग्रहण नहीं कर सकता है। जातकों में भी इस बात का प्रमाण मिलता है कि श्रेष्ठ विद्यार्थी अपने से नीची श्रेणी वाले छात्रों को शिक्षा दिया करते थे।[3] तक्षशिला के अध्यापक ने वाराणसी जाते समय अपने शिष्य पर अपने पद का भार छोड़ा था और उससे कहा था कि 'ऐ पुत्र !

'मानीटोरियल[1]' पद्धति

---

1. Monitorial System.
2. मनुस्मृति अध्याय 2, श्लोक 208-209।
3. S. K. Das—The Educational system of Ancient Hindus, Page 136.

तुम मेरी अनुपस्थिति में मेरे इन विद्यार्थियों को पढ़ाते रहना।[1] इत्सिंग भी इस बात का समर्थन करते हैं कि बलभी कालेज के बहुत से विद्यार्थी दो-तीन वर्ष तक गुरु से शिक्षा पाते रहे और दूसरे विद्यार्थियों को शिक्षा देते रहे। इस तरह ऐसे विद्यार्थी गुरु की अध्यापन कार्य में सहायता किया करते थे। उन्हें हम सहायक अध्यापक अथवा छात्राध्यापक के नाम से पुकार सकते हैं। आजकल के प्रशिक्षण विद्यालयों में भी छात्राध्यापक ही विद्यार्थियों को पढ़ाते हैं और हम कह सकते हैं कि इस प्रकार की संस्थाएँ जहाँ पर इस प्रकार की व्यवस्था थी, इस प्रकार के विद्यार्थियों के लिए प्रशिक्षण विद्यालयों का कार्य करती थीं। कुशाग्र बुद्धि वाले विद्यार्थियों के लिए यह स्वर्णिम अवसर था कि वे अध्यापक के कार्य को विद्याध्यन के अवसर पर ही सीख लेते थे। इससे गुरु का कार्य-भार हल्का हो जाता था और संस्था की आर्थिक सहायता भी हो जाया करती थी।

भाषण-पद्धति

अष्टाध्यायी में प्रयुक्त 'भाषण' शब्द से भाषण प्रणाली का भी आभास होता है। इसके लिए बड़े-बड़े कमरे बने हुए होते थे। नालन्दा विश्वविद्यालय में इस प्रकार के सात बड़े-बड़े कमरे बने हुए थे, जहाँ पर विद्यार्थियों को सामूहिक शिक्षा दी जाती थी। यह भी अनुमान किया जा सकता है कि इन बड़े-बड़े कमरों में वाद-विवाद के अवसर पर भी लोग एकत्र हो जाया करते होंगे और प्रस्तावित विषय पर अपना-अपना मत व्यक्त करते रहे होगें। आजकल भी ऊँची कक्षाओं में इसी प्रणाली का प्रयोग किया जाता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत वैयक्तिक शिक्षा के लिए कम अवसर मिल पाता है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात्, इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि प्राचीन काल के अध्यापक बाल-मनोविज्ञान से परिचित थे और उन्हीं के अनुसार अध्यापन का पवित्र कार्य करते थे। सदैव सुगम से सुगम प्रणाली का प्रयोग कर पाठ पढ़ाने का यत्न करते थे। उन्हें इस बात की चिन्ता रहती थी कि यदि वे इस पवित्र कार्य के करने में कुशल हुए तो उनके यहाँ विद्यार्थी अधिक से अधिक संख्या में विद्याध्ययन के लिए आयेंगे और उनकी यश पताका दिग्-दिगन्त में लहरायेगी। इसीलिए उन लोगों ने विभिन्न शिक्षण-पद्धतियों

---

1. Dr. A. S. Altekar. Education in Ancient India, Page 166.

का आविष्कार किया। मौखिक पद्धति, पारायण-पद्धति, मूल-पद्धति, टीका-पद्धति, व्याख्या-पद्धति, वाद-विवाद-पद्धति, कहानी-कथन-पद्धति, वैयक्तिक शिक्षण-पद्धति आदि इन्हीं प्रयत्नों की देन है। इन सभी पद्धतियों का समन्वय पाठशाला-पद्धति के अन्तर्गत था जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है।

पाठशाला पद्धति के उद्देश्य

आजकल की पाठशाला-शिक्षण-पद्धति इसी पद्धति की ही देन है किन्तु इसका वह स्वरूप नहीं है जो कि प्राचीन काल में था। यद्यपि योग्यता, विद्वत्ता, आचार्य-शिष्य-संबन्ध, विद्या-संबन्ध, पाठ्य-क्रम, अनुशासन आदि में पर्याप्त शिथिलता आ गई है, फिर भी इसके उद्देश्य वही हैं। वर्तमान ज्ञान-संग्रह के उद्देश्य की अपेक्षा सम्पूर्ण ज्ञान को हृदयंगम कर लेना इसका प्रमुख उद्देश्य है। यही ज्ञान-क्षेत्र हमारी संस्कृत का मूल स्रोत है। इसी को प्राप्त कर लेने से हमारी संस्कृति अक्षुण्ण बनी रह सकती है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस पद्धति में विभिन्न शास्त्रीय ग्रन्थों, उनकी टीकाओं, वेद-वेदांगों, व्याकरण, षड् दर्शन, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि के गहन अध्ययन तथा इन्हें यथा शक्ति तथा यथा सम्भव कण्ठस्थ कर लेने का प्राविधान है। 'कण्ठस्था तु या विद्या' इस पद्धति का प्राण है। प्रोफेसर आप्टे के कथनानुसार इस पद्धति के आविष्कारक बैंक में जमा की गई धनराशि पर विश्वास न कर हाथ की नकद राशि पर विश्वास करते हैं जो किसी समय भी प्रयोग में लाई जा सकती है। इस पद्धति का उद्देश्य समाज में प्रतिभाशाली, ज्ञानी एवं समाजोपयोगी व्यक्ति भी उत्पन्न करना है जो आत्मसंयम, मौलिक चिन्तन, तर्कशक्ति, चिरस्थायी स्मरण शक्ति तथा आदर्श सन्तुलित जीवन व्यतीत कर 'आदर्श पण्डित' बन सकें और इस प्रकार अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन समाज-हित में तथा शास्त्रार्थ के अवसर पर कर सकें। इस पाण्डित्य-प्राप्ति में 'स्वाध्यायात् मा प्रमद' का सिद्धान्त सर्वोपरि है अन्यथा 'अनभ्यासे विषं विद्या' की कहावत के चरितार्थ होने का भय था। ज्ञान को सदैव नवीन एवं उपयोगी बनाये रखना ही इसके मूल में निहित है जिससे वैदिक काल से प्रवाहित सांस्कृतिक धारा अबाध गति से प्रवाहमान रहे और हमारी संस्कृति अक्षुण्ण बनी रहे। शुद्धोच्चारण के बिना यह ज्ञान अधूरा है। "यद्यपि बहुनाधीषे, तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्। स्वजनः श्वजनो मा भूत, सकलं शकलं सकृच्छकृत्" इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। अतः शुद्धोच्चारण इसका एक विशेष उद्देश्य है।

पाठशाला पद्धति के गुण

इस पद्धति में पूर्णतया धार्मिक और आध्यात्मिक वातावरण व्याप्त है जिसके अन्तर्गत गुरु-शिष्य-सम्बन्ध, शिष्य का पुत्रवत् स्थान, गुरु का ईश्वरत्व[1], अनुशासित जीवन, कायिक, वाचिक और मानसिक पवित्रता आदि प्रमुख तत्त्व हैं। गुरु ही ब्रह्मा, गुरु ही विष्णु और गुरु ही शंकर का प्रतीक है। वही साक्षात् परम ब्रह्म है। उसका स्थान तो ईश्वर से भी बढ़ कर है क्योंकि वही ईश्वर-प्राप्ति का पथ-प्रदर्शक है। इस पद्धति की नींव श्रद्धा[2] पर आधारित है जो किसी भी तरह के शिक्षण के लिए अनिवार्य एवं अपरिहार्य है। इस पद्धति ने बहुत से ऐतिहासिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक उतार-चढ़ाव देखे हैं पर यह उपरिलिखित तत्त्वों के ही कारण ज्यों की त्यों बनी रही और अपनी संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखी तथा समाज में चरक, कौटिल्य, रामानुज, माध्वाचार्य, विवेकानन्द, अरविन्द जैसे आश्चर्योत्पादक प्रतिभाशाली महानुभावों को जन्म देती रही जिनकी प्रतिभा को देख कर विदेशी भी दाँतों तले अँगुली दबाते थे। भारतीयता एवं संस्कृत साहित्य के आन्तरिक शोध तथा अनुसन्धान के लिए यह पद्धति बड़ी ही उपयोगी सिद्ध हुई है। प्रो० हुपरिकर के कथनानुसार "शास्त्रियों[3] की सहायता के बिना शोधकर्त्ताओं के लिए कठिन संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन तथा शोध-कार्य के लिए सामग्री एकत्र करना दुष्कर हो जायगा"। क्योंकि वे किसी विषय का गहन अध्ययन करते हैं। फलतः उनका इस विषय का ज्ञान ठोस होता है। अतः विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से इस पद्धति को जीवित रखना अत्यन्त आवश्यक है। विण्टरनिट्ज महोदय प्रायः कहा करते थे कि पण्डितों की सहायता के बिना पाश्चात्य विद्वानों के लिए शास्त्रों की आत्मा, विशेष रूप से व्याकरण तथा दर्शन शास्त्र की आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव था। यद्यपि शोध कार्य के लिए पाश्चात्य प्रणाली के अनुसार विस्तृत अध्ययन एवं ऐतिहासिक विश्लेषण आवश्यक है तथापि शास्त्रीय पद्धति द्वारा

---

1. गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
   गुरुः साक्षात् परम ब्रह्म, तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
   गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूँ पाँय।
   बलिहारी गुरु आपको, जिन गोविन्द दियो बताय॥
2. श्रद्धया लभते ज्ञानम्।
3. प्रो० जी० एस० हुपरिकर—संस्कृतानुशीलनविवेकः पृष्ठ 651-652.

ग्रन्थों के आन्तरिक और आलोचनात्मक अध्ययन के बिना कोई विशेष प्रगति नहीं हो सकती है।

पाठशाला-पद्धति के दोष

पाठशाला-पद्धति में यद्यपि उपरिलिखित अनेक विशेषताएँ विद्यमान हैं फिर भी यह सर्वथा निर्दोष नहीं है। इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि इससे सम्बद्ध पाठ्य-क्रम अत्यन्त संकीर्ण है जिससे छात्र के व्यक्तित्व का एकांगी विकास होता है। फलतः जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण भी संकुचित एवं रुढ़िगत हो जाता है। इस पद्धति के अन्तर्गत स्मरण शक्ति पर अधिक बल दिया जाता है। ऐसा करने से मानसिक शक्ति अवरुद्ध हो जाती है और प्रेरक-शक्ति का ह्रास हो जाता है। इससे बौद्धिक विकास में अवरोध उत्पन्न हो जाता है और उसकी गतिशीलता नष्ट हो जाती है। यह पद्धति 'प्रशिक्षण-स्थानान्तरण' तथा 'मानसिक अनुशासन' के सिद्धान्त पर आधारित है पर 'प्रयोगात्मक मनोविज्ञान' ने इन्हें निराधार सिद्ध कर दिया है। इनमें अब किसी भी तरह की आस्था नहीं रह गई है। व्याकरण-सूत्रों को कण्ठस्थ कर लेने की शक्ति आयुर्वेद जैसे अन्य विषयों को कण्ठस्थ कर लेने में सहायक नहीं सिद्ध हो सकती है। सामायिक गतिविधियों के कारण इस पद्धति के गुणों का ह्रास हो रहा है। इससे सम्बद्ध मौखिक पद्धति, वाद-विवाद पद्धति आदि लुप्त प्राय हो चुकी हैं। आजकल की प्रबन्धात्मक परिक्षाओं के कारण केवल लिखित कार्य की ही प्रधानता रह गई है। आधुनिक मान्यताओं एवं शैक्षिक वातावरण के कारण जंगल से समिधा लाने, गुरु-गृह में निवास कर उनकी परिचर्या करने, अपने हाथों से भोजन बनाने, पौधों की देख-भाल करने आदि कार्य घृणित समझे जा रहे हैं। वर्तमान विद्यालयों में संस्कृत केवल एक वैकल्पिक विषय के रूप में पढ़ाई जाती है। अतः वहाँ पर यह पद्धति उपयुक्त नहीं सिद्ध हो सकती है जहाँ पर सप्ताह में संस्कृत के लिए केवल चार ही पाँच घण्टे निर्धारित किये गये हों, वहाँ पर पाठशाला-पद्धति के व्यापक कार्यक्रम को कार्यान्वित नहीं किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इन विद्यालयों में हर वर्ग के छात्र विद्याध्ययन करते हैं। वे केवल दिन में 10 बजे प्रातः से लेकर 4 बजे सन्ध्या तक ही विद्यालय में रहते हैं। सब के लिए छात्रावास की व्यवस्था नहीं है। अतः पाठशाला पद्धति को अपनाना कठिन है।

पाठशाला पद्धति के उपरिलिखित गुण-दोषों का विवेचन कर लेने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आजकल की शिक्षा-व्यवस्था में भी इस पद्धति की कतिपय अच्छी बातों को अपनाने से देश, जाति तथा समाज का

बड़ा कल्याण हो सकता है। प्राचीन गुरु-शिष्य सम्बन्ध को पुनर्जीवित करने से आज की युवा-आक्रोश की समस्या का निदान किया जा सकता है। इसी तरह के इसके कतिपय अन्य गुणों को अपना कर वर्तमान शिक्षा-जगत् के अनेक दोषों को दूर किया जा सकता है।

सारांश

भारत के भौगोलिक, प्राकृतिक वातावरण, सामाजिक वातावरण आदि ने पाठशाला पद्धति को जन्म दिया जो आज भी भारत के कोने-कोने में प्रचलित है। इस पद्धति के अनुसार शिक्षा मौखिक रूप से दी जाती थी। सम्पूर्ण शैक्षणिक पद्धति ब्रह्मचर्य पर आधारित थी जो शिक्षण की अपेक्षा चर्या को अधिक महत्त्व देती थी। आचार्य सेवा करने वाला तथा छात्र की भाँति उसकी रक्षा करने वाला छात्र कहलाता था। ये दो वर्गों में विभक्त थे – माणव और अन्तेवासी। माणव कम आयु के होते थे और दण्ड धारण किये हुए 'खड़ाऊँ' पर इधर-उधर घूमा करते थे। आचार्य की श्रेणी के गुरुओं द्वारा दीक्षित छात्रों को अन्तेवासी कहा जाता था। छात्र को गुरु के परिवार में रहना एक अनिवार्य शर्त थी किन्तु सबको गुरु-गृह-निवास सुलभ नहीं था। केवल विभिन्न प्रकार की परीक्षाओं में उत्तीर्ण छात्रों को ही यह अवसर मिल पाता था। इनमें प्रविष्ट छात्रों का जीवन बड़ा कठोर होता था। यहाँ पर रह कर उसे एक निर्धारित आचार-संहिता के अनुसार जीवन व्यतीत करना पड़ता था। प्रत्येक छात्र को भीख माँगना अनिवार्य था। यहाँ रह कर गुरु-सेवा करना उसका पुनीत कर्त्तव्य था। ब्रह्मचारी अपने गुरु से विद्या-सम्बन्ध से आबद्ध होता था जो रक्त सम्बन्ध से किसी भी तरह कम न होता था।

गुरु आचार्य, प्रवक्ता, श्रोत्रिय, अध्यापक आदि वर्गों में विभक्ति थे। आचार्य शिष्य को अपने गर्भ में धारण कर उसे एक नया जन्म देता है। यह शिष्य अपने आचार्य के नाम से जाना जाता था, यथा आपिशाल, पाणिनीय आदि। प्रवक्ता आचार्य की देख-रेख में वेदमंत्रों की व्याख्या करने वाला होता था। छन्दों का शुद्ध-शुद्ध पाठ करने वालों को श्रोत्रिय कहा जाता था। अध्यापक साम्प्रदायिक एवं वैज्ञानिक लेखकों के अध्यापन का कार्य करते थे। इनके अतिरिक्त आख्याता, प्रवचनीय तथा अनूचान कहे जाने वाले भी अध्यापक थे।

शिक्षा मौखिक होती थी। गुरु स्वयं वेद-मन्त्रों का उच्चारण कर विद्यार्थियों से उसी तरह कहलवाते भी थे। इस तरह व्यक्तिगत शिक्षा की व्यवस्था थी। पठित अंश को अच्छी तरह कण्ठस्थ कर लेने के लिए 'पारायण पद्धति' अपनाई

जाती थी। पारायण की भी विभिन्न प्रणालियाँ थीं—यथा, संहिता पारायण, पद पारायण आदि। पारायण करने वाले छात्रों को विविध प्रकार के नियमों का पालन करना पड़ता था।

कण्ठस्थ कर लेने की इस यांत्रिक पद्धति की भी एक सीमा थी। इसकी इस नीरसता को दूर करने के लिए वाद-विवाद-पद्धति, प्रश्नोत्तर-पद्धति, व्याख्या-पद्धति, सूत्रपद्धति, कहानी-कथन-पद्धति, मानीटोरियल पद्धति आदि का अनुसरण किया जाता था।

पाठशाला-पद्धति इन्हीं शिक्षण-पद्धतियों का समुच्चय है। सम्पूर्ण ज्ञान को हृदयंगम कर लेना इसका प्रमुख उद्देश्य है। इस पद्धति के आविष्कारक बैंक में जमा की गई धनराशि पर विश्वास न कर हाथ की नकद धन राशि पर विश्वास करते थे। इससे समाजोपयोगी प्रतिभाशाली और ज्ञानी व्यक्ति उत्पन्न होते थे। ज्ञान को सदैव नवीन एवं उपयोगी बनाये रखना ही इसके मूल में निहित है। गुरु-शिष्य-सम्बन्ध, शिष्य का पुत्रवत् स्थान, गुरु का ईश्वरत्व, अनुशासित जीवन, कायिक, वाचिक तथा मानसिक पवित्रता आदि इसके प्रमुख तत्त्व हैं। भारतीयता एवं संस्कृत साहित्य के आन्तरिक शोध तथा अनुसन्धान के लिए यह पद्धति बड़ी ही उपयोगी है।

इन गुणों के अतिरिक्त इस पद्धति में अनेक दोष भी हैं। इसका पाठ्य-क्रम अत्यन्त संकीर्ण है। केवल स्मरण-शक्ति पर ही बल देने से मानसिक-शक्ति अवरुद्ध हो जाती है और प्रेरक शक्ति का ह्रास हो जाता है। वर्तमान परिस्थिति में इसका प्रयोग करना अत्यन्त कठिन है। इसके प्रयोग के लिए उपयुक्त वातावरण उपलब्ध नहीं है। यह सब होते हुए भी हमें इसके कतिपय गुणों को अपना लेना चाहिए। ऐसा करने से देश, जाति तथा समाज का बड़ा कल्याण हो सकता है।

प्रश्न

1. पाठशाला पद्धति की उत्पति के सम्बन्ध में एक विस्तृत निबन्ध लिखिये।
2. गुरु-गृह प्रवेश, अनिवार्य गुरु-गृह-निवास, छात्र जीवन, कर्त्तव्य एवं अनुशासन आदि का विशद विवेचन कीजिए।
3. विभिन्न प्रकार के शिक्षकों, उनके कार्यों, विद्यार्थियों के नामकरण तथा पाठ्य-क्रम के क्रम स्थापन का विस्तृत विवेचन कीजिए।

4. मौखिक, वैयक्तिक, वाद-विवाद, पारायण, प्रश्नोत्तर, व्याख्या तथा सूत्र पद्धति का सम्यक् विवेचन कीजिए।
5. कहानी-कथन-पद्धति, मानीटोरियल पद्धति तथा भाषण पद्धति से सम्बद्ध एक-एक विस्तृत निबन्ध लिखिए।
6. पाठशाला-पद्धति के उद्देश्यों एवं गुण-दोषों का सम्यक् विवेचन कीजिए।

सहायक पुस्तकें

1. मनुस्मृति।
2. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, लेखक—वाचस्पति गैरोला।
3. महाभारत आदि पर्व, 106/92.
4. अष्टाध्यायी प्रकाशिका, लेखक—देव प्रकाश पातञ्जल शास्त्री।
5. संस्कृतानुशीलन विवेक :—प्रो० जी० एस० हुपरिकर।
6. संस्कृत शिक्षण—डा० रामशकल पाण्डेय।
7. संस्कृत शिक्षण विधि, लेखक—श्री रघुनाथ सफाया।
8. काव्य प्रकाश 2, 19।
9. हर्ष चरितम्, अष्टम उच्छ्वास।
10. Education In Ancient India—डा० अल्तेकर।
11. A History of Sanskrit Literature—Artber A. Macdonell.
12. The Educational System of Ancient Hindus—S. K. Das.
13. भारत की छात्र-समस्या :एक विश्लेषण—रामखेलावन चौधरी, एम० ए० एम० एड०
14. India As Kown to Panini—डा० वी० एस० अग्रवाल।

अध्याय 6

विभिन्न संस्कृत-शिक्षण विधियाँ (भाग 2)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सन् 1835 ई० में मेकाले की शिक्षा-नीति के कारण शिक्षा-पद्धति दो समानान्तर भागों में विभक्त हो गई। प्राचीन पाठशालाओं तथा मकतबों में प्राचीन शिक्षा का क्रम चलता रहा। इस नीति के कारण जो अंग्रेजी स्कूल खोले गये, उनमें पाठ्य-क्रम के अन्य विषयों के साथ संस्कृत भी एक विषय के रूप में पढ़ाई जाने लगी। इन स्कूलों में संस्कृत का केवल प्रारम्भिक ज्ञान देना ही संस्कृत-शिक्षण का मुख्य उद्देश्य निर्धारित किया गया। विश्वविद्यालयों में भी संस्कृत साहित्य की एक झाँकी प्रस्तुत करना ही संस्कृत शिक्षण का एक मात्र उद्देश्य निश्चित किया गया। इस प्रकार संस्कृत शिक्षण में आमूल परिवर्तन कर संस्कृत भाषा को एक गौण पद प्रदान कर दिया गया जिसके फलस्वरूप संस्कृत के धुरन्धर विद्वानों के स्थान पर साधारण कोटि के लोग समाज में दिखाई देने लगे जिन्हें केवल 'पल्लव ग्राहि-पाडित्य' ही हाथ लगा। वे उसके गहन स्तर तक पहुँच ही नहीं पाये।

व्याकरण-अनुवाद पद्धति

इन स्कूलों में संस्कृत-शिक्षण में यूरोपीय देशों में संस्कृत जैसी भाषाओं को पढ़ाने के लिए अपनाई गई 'व्याकरण-अनुवाद' पद्धति का अनुसरण किया गया। इस प्रणाली के अनुसार सर्व प्रथम 'विल्कन्स' ने एक संस्कृत व्याकरण तैयार किया जो सन् 1808 में प्रकाशित हुआ था। इस प्रकार संस्कृत क्षेत्र में एक नवीन विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ जिसने संस्कृतज्ञों को तुलनात्मक भाषा विज्ञान, शोध और अनुसन्धान की ओर आकर्षित किया। इस क्षेत्र में डा० सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने ग्रीक और लैटिन जैसी भाषाओं को पढ़ाने की पाश्चात्य विधि के आधार पर संस्कृत की दो पुस्तकें तैयार कीं जिनमें संस्कृत-शिक्षण की

व्याकरण-अनुवाद पद्धति का अनुसरण किया गया है। वमन शिवराम आप्टे[1], मोरेश्वर[2] रामचन्द्र काले आदि विद्वानों ने भी अपनी-अपनी पुस्तकों में इसी पद्धति को अपनाया है। इस पद्धति का अनुसरण आज भी अंग्रेजी स्कूलों और कालेजों में किया जा रहा है। भारतवर्ष में सर्वप्रथम डा० भण्डारकर ने इस पद्धति का प्रयोग किया था। अतः इस विधि को उन्हीं के नाम पर 'डा० भण्डारकर विधि' कहना अत्यधिक उपयुक्त होगा।

उद्देश्य एवं प्रयोजन

इस पद्धति का मुख्य उद्देश्य संस्कृत भाषा का वर्गीकरण कर उसे बड़े ही मनोवैज्ञानिक एवं सरल ढंग से छात्रों के समक्ष प्रस्तुत करना, उसके व्याकरण के व्यर्थ तथा अनावश्यक नियमों के फेर में न पड़ कर केवल उसके आवश्यक एवं सरल नियमों को छात्रों को बतलाना, रटवाने के स्थान पर छात्रों के समक्ष व्याकरण नियमों को आधुनिकतम पद्धति से प्रस्तुत कर उनकी बोध-शक्ति को जागरित करना, इन्हीं नियमों के आधार पर संस्कृत का हिन्दी में तथा हिन्दी का संस्कृत में अनुवाद कराना और इस तरह छात्रों को संस्कृत साहित्य का परिचय कराना है।

विशेषताएं

इस विधि की पहली विशेषता यह है कि जो लोग स्वाध्याय के माध्यम से संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए यह विधि बड़ी ही उपयोगी सिद्ध हुई। इस प्रकार इस विधि से स्वाध्याय को प्रेरणा मिली। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इस विधि के अन्तर्गत व्याकरण नियमों को बोधगम्य बनाने एवं सुव्यवस्थित करने का प्रयास किया गया। इन नियमों को परिष्कृत करने में स्थूल से सूक्ष्म की ओर, ज्ञात से अज्ञात की ओर, सरल से कठिन की ओर' आदि शैक्षणिक सूक्तियों का प्रयोग किया गया। यह विधि आधुनिक विद्यालयों की बड़ी-बड़ी कक्षाओं उनके सीमित साधनों, उपकरणों तथा समय सारिणी के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुई।

---

1. The Student's guide to Sanskrit composition—**वमन शिवराम आप्टे।**
2. The Higher Sanskrit Grammar—**मोरेश्वर रामचन्द्र काले।**

इस पद्धति के साथ 'अनुवाद' शब्द भी जुड़ा हुआ है। अतः इसके अर्थ से भी परिचित हो जाना आवश्यक है। किसी भाषा में व्यक्त विचारों तथा भावों को किसी अन्य भाषा में व्यक्त करने की क्रिया को अनुवाद कहते हैं। यह वह प्रक्रिया है जिसमें विचारों का स्पष्टीकरण, विश्लेषण और रूपान्तर करते समय तुलनात्मक तथा सच्चे शब्द, अर्थ और भाव का ज्ञान होना अनिवार्य होता है।

अनुवाद की परिभाषा तथा आवश्यक अंग

इसमें 'नामूलं' लिख्यते किंचित् 'नामपेक्षितमुच्यते' के सिद्धान्त का अनुसरण किया जाता है। अर्थात् इसमें न तो कोई असत्य बात लिखी जाती है और न तो कोई अनपेक्षित बात ही कही जाती है। यह एक कठिन अभ्यास की वस्तु है। यद्यपि अनुवादक को कोष से शब्द-भण्डार तथा व्याकरण से रूप रचना का ज्ञान हो जाता है, फिर भी अनुवाद करते समय उसके मन में विचित्र संघर्ष आरम्भ होता है कि मूल भाषा में प्रयुक्त अमुक शब्द के लिए कौन-सा शब्द किस अर्थ में ठीक बैठेगा। बहुत से पर्यायवाची शब्दों में कौन-सा शब्द उस अर्थ में उपयुक्त होगा, किस नियम का पालन करना उचित होगा, इत्यादि समस्याएँ उसके सम्मुख उपस्थित होती हैं। इसके लिए उचित शब्दों का चयन, उनका प्रयोग, नियमों का ज्ञान, स्थल-प्रकरण, देशकाल, परिस्थिति, अवस्था आदि की परख का ज्ञान होना अनिवार्य है। जर्मन विद्वान स्टार्म का कथन है कि एक व्यक्ति एक शब्द का दूसरी भाषा में अनुवाद उसी समय कर सकता है जबकि उसका उसके प्रयोग पर पूर्ण अधिकार हो। इसलिए वह अनुवाद करते समय उसे समझता ही नहीं है अपितु उसका ठीक-ठीक प्रयोग भी जानता है। अनुबाद समीकरण का प्रथम सोपान है।

अनुवाद करने की पद्धतियाँ

आजकल अनुवाद करने में तीन पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है। प्रथम रीति के अनुसार 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' के सिद्धान्त का अनुसरण किया जाता है। अर्थात् एक शब्द के स्थान पर उसी अर्थ के द्योतक दूसरी भाषा के शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है। ऐसा करने से कभी-कभी अर्थ का अनर्थ हो जाता है। उदाहरण स्वरूप 'सैन्धवमानय' का ऐसे स्थान पर जबकि घोड़े की आवश्यकता हो, 'लवण लाओ' ऐसा अनुवाद किया जाय, कितना हास्यास्पद होगा। अतः इस पद्धति से भूल कर भी अनुवाद नहीं करना चाहिए। अनुवाद करने की दूसरी रीति 'छायानुवाद' की है। इसके अनुसार केवल मूल भाषा का सार अनुवाद की भाषा में लिख लिया जाता है। इस प्रकार यह अनुवाद न

हो कर सारांश ही होता है। अतः यह पद्धति भी उचित नहीं है क्योंकि इसके अनुसार किये गये अनुवाद उच्चकोटि के नहीं होते। अनुवाद की तीसरी और सर्वोत्तम पद्धति तथ्यानुवाद की है जिसमें न केवल शब्दों के पर्याय ही दिये जाते हैं अपितु उनके भाव और आत्मा के प्रतिबिम्ब को भी अनुवाद में उतारने का प्रयास किया जाता है। अर्थात् जब हम संस्कृत के किसी कवि के किसी श्लोक का हिन्दी में अनुवाद कर रहे हों तो वह अनुवाद इस प्रकार का हो कि मानो वह कवि स्वयं हिन्दी में लिख रहा हो। इस प्रकार के अनुवाद का उद्देश्य केवल लेखक की भाषा का परिचय कराना ही नहीं होता है अपितु उसके भाव और उसकी अभिव्यञ्जना शैली से भी पाठकों को परिचित कराना होता है। शब्दों का चयन, उनकी छान-बीन, अर्थों का सूक्ष्म विवेचन तथा उनके प्रयोग का ज्ञान अभ्यास से ही आता है।

अनुवाद के नियम

अनुवादक के लिए मूलभाषा और उस भाषा का जिसमें अनुवाद करना है, दोनों भाषाओं का पूर्ण ज्ञान अपेक्षित है। प्रत्येक शब्द की उत्पत्ति का अपना एक इतिहास होता है। अनुवादक को इससे अवश्य परिचय होना चाहिए। अनुवाद करते समय उसे निम्नलिखित नियमों का पालन करना चाहिए—

"ग्रन्थ की मूल भाषा-शैली की रक्षा, ग्रन्थ की मूल भाषा में प्रयुक्त भावों की रक्षा, सरलता और सुबोधता का ज्ञान तथा अनुवाद की भाषा की प्रकृति का ज्ञान।" मूल लेखक ने जिस शैली का प्रयोग किया हो, उसका अनुवाद उसी शैली में होना चाहिए तथा भावों के अनुसार शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। व्यक्ति, धर्म, सम्प्रदाय तथा जाति सम्बन्धी भावों, नामों और पारिभाषिक शब्दों का यथार्थ अनुवाद होना चाहिए। इन अर्थों में प्रयुक्त शब्दों को ज्यों का त्यों रहने देना चाहिए, उदाहरणार्थ कैथोलिक शब्द के लिए 'सनातन धर्मी ईसाई' का प्रयोग न कर उसी शब्द का प्रयोग करना चाहिए। ऐसा न करने से अर्थ का अनर्थ हो जाने की सम्भावना रहती है। अनुवाद सरल और सुबोध होना चाहिए। उसके पढ़ते ही मूल लेखक के भाव सुगमता से समझ में आ सकें और उसके समझने में किसी प्रकार की कठिनाई न हो। अनुवाद के वाक्यों की रचना अनुवाद की भाषा के अनुकूल हो। उदाहरणार्थ—

'स्वगृहे पूज्यते मूर्खः स्वग्रामे पूज्यते प्रभुः। स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते' इसका अनुवाद किसी ने इस प्रकार किया है कि "मूर्ख अपने घर

में पूजा जाता है, प्रभु अपने ग्राम में पूजा जाता है, राजा अपने देश में पूजा जाता है, विद्वान् हर जगह पूजा जाता है।" यह अनुवाद संस्कृत की प्रकृति के अनुकूल तो है पर हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। इसका अनुवाद तो इस प्रकार होना चाहिए कि "मूर्ख मनुष्य अपने घर में, ग्राम-स्वामी अपने ग्राम में तथा राजा अपने देश में ही पूजा जाता है किन्तु विद्वान मनुष्य हर जगह पूजा जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अनुवाद करते समय मूल भाषा के ढाँचे पर ध्यान न देकर उस भाषा के गठन पर ध्यान देना चाहिए जिसमें अनुवाद किया जा रहा हो। समास युक्त वाक्यों का एक ही वाक्य में अनुवाद करने का यत्न नहीं करना चाहिए। आवश्यकतानुसार उसे छोटे-छोटे वाक्यों में तोड़ लेना चाहिए। ऐसा करते समय इस बात पर अवश्य ध्यान देना चाहिए कि मूल लेखक को कोई बात छूटने न पाये, उसके मूल अर्थ से भिन्न कोई अन्य अर्थ न निकले तथा अर्थ स्पष्ट हो।

अनुवाद पद्धति से लाभ

इस प्रणाली का अनुसरण करने से अन्य भाषाओं के शब्दों, मुहाविरों तथा विभिन्न शैलियों का ज्ञान प्राप्त होता है। इससे छात्र के शब्द-भाण्डार की वृद्धि होती है। इसके द्वारा 'ज्ञात से अज्ञात की ओर' के सिद्धान्त का अनुसरण कर छात्र मूल एवं अनूदित भाषा के शब्दों में अपनी स्मृति पर एक विशेष प्रकार का समन्वय स्थापित करता है। इस प्रकार वह इन शब्दों के प्रयोग का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है। अनुवाद वाक्य-रचना की ठीक-ठीक व्याख्या करता है, व्याख्या करते समय भाषासरणि का समीकरण होता है। इसके अनुसार निरीक्षण, अंकन, तुलना एवं अनुमान का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है जो अध्ययन-अध्यापन का मुख्य अंग है।

अनुवाद पद्धति की न्यूनताएँ

इतना होने पर भी अनुवाद 'अनुवाद' ही है और मूल 'मूल' ही। अनुवाद मूल का स्थान नहीं ले सकता। यदि अनुवाद ही मूल हो जाय तो संसार में मूल का कोई स्थान ही न रह जाय। मूल एक होता है, किन्तु अनुवाद अनेक। विभिन्न भाषाओं में ही नहीं अपितु एक ही भाषा में मूल के अनेक अनुवाद पाये जाते हैं। इसका एक मात्र कारण यही है कि प्रकृति में ही मूल निहित है, किन्तु प्रतिकृति में उसका अभाव है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक भाषा का अपना सन्देश होता है जिसे वही भाषा बता सकती है। वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि कवियों ने जो कुछ अपने ग्रन्थों में कहा है, उनसे उत्पन्न

आनन्द उसी भाषा में आ सकता है। यद्यपि आज विश्व के विभिन्न देशों की विभिन्न भाषाओं में श्रीमद्भगवद्गीता, पंचतंत्र आदि का सुन्दर अनुवाद हुआ है। पर क्या उनके होते हुए भी आज इन मूल ग्रन्थों की महिमा कम हुई है? प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे ने 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का केवल अनुवाद पढ़कर उसकी कितनी प्रशंसा की है। सभी संस्कृत प्रेमी जानते हैं। यदि वह इसके मूल को पढ़े होता तो उसके आनन्द का और भी ठिकाना न होता। एक युवक के लिए अनुवाद के आधार पर भाषा सीखना अधिक तर्क पूर्ण हो सकता है, किन्तु एक बालक के लिए इस तरह इसका सीखना लाभप्रद होने के स्थान पर हानिप्रद ही सिद्ध हो सकता है। बालक अनुकरणशील होता है। वह उसी के आधार पर भाषा भी सीख सकता है। वह नवीन भाषा के माध्यम से अपने भावों को व्यक्त करना चाहता है जिसके लिए इस विधि में किसी प्रकार की व्यवस्था ही नहीं है। मौखिक कार्य, शुद्ध उच्चारण, गति, प्रवाह, बोध, शुद्ध-शुद्ध सस्वर पठन, कविता का रसास्वादन, मौखिक एवं लिखित रूप से भावों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति आदि भाषा के महत्त्वपूर्ण अंगों की इस विधि में उपेक्षा की गई है। इनकी उपेक्षा तथा व्याकरण की अधिकता के कारण पठन-पाठन नीरस, अरुचिकर एवं संकीर्ण बन जाता है। कहानियों, वर्णनात्मक पाठों, कविताओं आदि की सरसता व्याकरण की शुष्कता एवं नीरसता के कारण नष्ट हो जाती है। इसका आभास बुद्धिजीवियों को भी खटकता है, फिर किशोरावस्था के अपरिपक्व मति वाले छात्रों के लिए तो कहना ही क्या? उनके लिए तो यह विधि कदापि उपयोगी नहीं सिद्ध हो सकती है। शब्द-भाण्डार-वृद्धि की दृष्टि से भी यह प्रणाली उचित नहीं है क्योंकि अन्य भाषा के सभी प्रकार के शब्दों का तत्सम मातृभाषा में मिलना असम्भव है। उदाहरणार्थ अंग्रेजी भाषा को ही लीजिए। इसके कतिपय शब्दों यथा rather, any, own, nice, sake, fair, would, mind आदि का अर्थ केवल सन्दर्भ के ही आधार पर समझा जाता है। इन दोषों के अतिरिक्त इस प्रणाली द्वारा दी जाने वाली शिक्षा में जिसका एक मात्र आधार व्याकरण ही है। बहुत से ऐसे वाक्य होते हैं जिनका दूसरी भाषा में सुगमता से अनुवाद कर लिया जा सकता हो। कुछ वाक्य तो ऐसे होते हैं जिनमें शब्द तो कुछ और होते हैं पर अर्थ दूसरा ही निकलता है। ऐसे वाक्यों का अनुवाद करना कठिन होता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत छात्र यन्त्रवत् कार्य करते हैं जो शिक्षण सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। छात्र नवीनता का प्रेमी होता है जिससे कौतूहल की वृद्धि होती है और उसे एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है। इसमें इसका सर्वथा अभाव है।

इस प्रणाली के गुण-दोषों का विवेचन कर लेने के पश्चात् स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि इस प्रणाली का कब और कैसे प्रयोग किया जाय ?

निष्कर्ष — इस पद्धति का प्रयोग उस समय तक नहीं करना चाहिए जिस समय तक विद्यार्थी पर्याप्त मात्रा में संस्कृत शब्दों एवं संस्कृत वाक्य-रचना का ज्ञान न प्राप्त कर लें। आरम्भ में छात्रों के बौद्धिक स्तर के अनुकूल संस्कृत वाक्यों का मातृभाषा में अनुवाद किया जा सकता है। छात्रों से फिर उसी वाक्य का संस्कृत में अनुवाद कराना चाहिए। उन्हें इस अनूदित अंश का, उसके भाव को ग्रहण करने के निमित्त, एक या दो बार मौन वाचन भी करा देना चाहिए। इसके पश्चात् अध्यापक को दो या तीन प्रश्न इस उद्देश्य से पूछना चाहिए कि विद्यार्थी ने इसके भाव को समझा है कि नहीं। विद्यार्थियों को पुनः अपने मन में ही उक्त अंश का अनुवाद करने के लिए आदेश देना चाहिए। जब वे इस प्रकार अनुवाद कर रहे हों तब अध्यापक को क्लिष्ट अंशों की साधारण संस्कृत में व्याख्या कर देनी चाहिए। मन में अनुवाद करा लेने के अनन्तर विद्यार्थियों से पुनः सामूहिक रूप से मौखिक अनुवाद कराना चाहिए। इस समय अध्यापक को इस अंश में आये हुए सभी मुहावरों, समासों, सन्धियों एवं प्रत्येक पद की यथावसर व्याख्या कर देनी चाहिए। इस प्रकार व्याख्या कर लेने के पश्चात् विद्यार्थियों को इस पठित अंश का अपनी अभ्यास-पुस्तिका पर अनुवाद करना चाहिए। उन्हें मूल से इसकी तुलना करनी चाहिए। लिखने के पूर्व मौखिक रूप से अनुवाद करा लेना अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। इससे छात्रों का अनुवाद करने में उत्साह बढ़ता है और वे संस्कृत से कभी भी मुख नहीं मोड़ सकते हैं। अनुवाद के स्थान पर छात्रों से पठित अंश की मौखिक आवृत्ति कराना अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। उन्हें संस्कृत में ही कहानियों, छोटे-छोटे वर्णनात्मक निबन्धों, जीवन-चरितों, नीति श्लोकों में आये हुए भावों को अपनी संस्कृत में कहने का अभ्यास कराना चाहिए। पढ़ाते समय संस्कृत में ही प्रश्न पूछा जाना चाहिए। मौखिक प्रकाशन को प्रोत्साहन देने के लिए कई एक छात्रों से एक ही प्रश्न के उत्तर को बार-बार कहलाना चाहिए। इससे वे इन प्रश्नों का उत्तर संस्कृत में लिखने के योग्य होंगे और संस्कृत पढ़ने की उनकी रुचि बढ़ेगी। प्रारम्भिक कक्षाओं में चित्रों के आधार पर मौखिक प्रकाशन को प्रोत्साहन देना चाहिए। इस प्रकार वार्तालाप एवं अनुवाद इन दोनों का उचित समन्वय ही अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सकता है।

पाठ्य-पुस्तक विधि इतिहास एवं अभिप्राय

मेकाले की शिक्षा-नीति के कारण भारत में अंग्रेजी का अत्यधिक प्रचार हुआ। इसके प्रचार और प्रसार में पाठ्य-पुस्तक-विधि का सर्वाधिक प्रयोग किया गया। भारत में इसके सबसे बड़े समर्थक डा० वैस्ट थे। इनके मतानुसार शिक्षण को इस ढंग से सुनियोजित किया जाय कि छात्र चाहे जिस अवस्था में स्कूल छोड़ें, वे अपने पठित अंश का अधिक से अधिक लाभ उठा सकें। इनके अनुसार विषय के "ग्राह्य मूल्य[1]" का सर्वाधिक महत्त्व है। 'ग्राह्य-मूल' का अभिप्राय उस सानुपातिक लाभ से है जिसे कोई छात्र अपने कोर्स को अपूर्ण छोड़ कर प्राप्त करता है। छात्र अपने विद्यालय को चाहे जिस समय छोड़ दे पर उसे अपने भाषा विषयक अध्ययन का कुछ-न-कुछ स्थायी लाभ अवश्य मिले, यही इस विधि का मुख्य अभिप्राय है। डा० वैस्ट के अनुसार लिखने और बोलने की अपेक्षा पढ़ने में दक्षता प्राप्त करना आसान और लाभप्रद है। अतः इसका ग्राह्य-मूल्य भी उनसे अधिक है। यह तो अनुभव जन्य तथ्य है कि बोलने और लिखने के लिए भाषा का प्रर्याप्त ज्ञान आवश्यक है। अतः इनमें दक्षता प्राप्त करना कठिन है। इनकी अपेक्षा पढ़ने में कुशलता प्राप्त करना सुगम है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो छात्रों के लिए अधिक लाभ-प्रद है। इस विधि का प्रयोग संस्कृत शिक्षण में भी किया गया है। अनेक संस्कृतज्ञों का मत है कि व्याकरण और मौखिक आत्म प्रकाशन पर बल देने से समय और शक्ति दोनों ही का नाश होता है। छात्रों को तो संस्कृत का इतना और इस प्रकार का ज्ञान होना चाहिए जिससे वे संस्कृत के सरल श्लोकों एवं गद्य खण्डों को अच्छी तरह समझ सकें और यह ज्ञान भविष्य में भी उनके लिए उपयोगी सिद्ध हो सके। इस विधि से संस्कृत पढ़ाने का मुख्य उद्देश्य यह है कि छात्रों को ग्राह्य-मूल्य मिल सके।

पाठ्य-पुस्तक विधि का स्वरूप एवं प्रयोजन

इस विधि के अन्तर्गत सर्वप्रथम कक्षानुकूल विषय-सामग्री और शब्दावली का वर्गीकरण किया जाता है। यह वर्गीकरण छात्र के निकटस्थ वातावरण पर आधारित रहता है। इसमें क्रमशः वर्णमाला, छोटे शब्दों, वाक्यों और अनुच्छेदों का ज्ञान कराया जाता है। संस्कृत शिक्षण में भी इस विधि का प्रयोग किया गया और संस्कृत विद्वानों ने इसके आधार पर अनेक उच्चकोटि की पुस्तकें तैयार की जिनमें ईश्वर चन्द्र विद्यासागर द्वारा लिखित

---

1. "Surrender valve."

संस्कृत पाठ्य पुस्तकम्, जीवानन्द विद्यासागर की संस्कृत शिक्षा मंजरी, बी० बी० कमल की सुबोध संस्कृतम्, एस० डी० सातवलेकर की संस्कृत सेल्फ टीचर आदि पुस्तकें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन पुस्तकों का मुख्य प्रयोजन यह है कि इन्हें पढ़कर छात्र अथवा प्रौढ़ सभी अध्यापक की सहायता के बिना स्वतंत्र रूप से संस्कृत का ज्ञान प्राप्त कर सकें। इनके माध्यम से छात्रों को वर्गीकृत संस्कृत शब्दों का ज्ञान कराना तथा उन्हें संस्कृत अनुच्छेदों, श्लोकों आदि का सस्वर पाठ करने, उनका अर्थ समझने, उनके पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करने, संस्कृत साहित्य का परिचय प्राप्त करने आदि के योग्य बनाना ही इन पुस्तकों की रचना का प्रधान उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त एक उद्देश्य यह भी रहा है कि इन्हें पढ़ कर छात्रों में इतनी योग्यता आ जाय कि वे पढ़ना छोड़ने के पश्चात् भी अनुवाद और टीका की सहायता से संस्कृत का अध्ययन कर सकें।

पाठ्य-पुस्तक विधि का प्रयोग एवं उसकी प्रक्रिया

इस विधि के अनुसार पाठ्य-पुस्तक के पाठ ही सम्पूर्ण अध्ययन के केन्द्र बिन्दु होते हैं। मातृभाषा के द्वारा नवीन शब्दों का अर्थ बतलाया जाता है। पठन अभ्यास के निमित्त सर्वप्रथम सस्वर पठन तदनन्तर मौन पठन कराया जाता है। व्याकरण के नवीन रूपों की शिक्षा प्रयोग द्वारा ही दी जाती है। सम्पूर्ण पाठ पढ़ा लेने के पश्चात् व्याकरण और अनुवाद के अभ्यास कराये जाते हैं। महत्त्वपूर्ण संस्कृत अनुच्छेदों अथवा श्लोकों का मातृभाषा में तथा पठित मूल पाठ के सदृश मातृभाषा के वाक्यों, अनुच्छेदों आदि का संस्कृत में अनुवाद कराया जाता है। इसके अन्तर्गत व्याकरण के विशेष नियमों के अभ्यास के निमित्त विशेष अभ्यास दिये रहते हैं जिनसे इनका सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

पाठ्य-पुस्तक विधि से लाभ

इस विधि के अन्तर्गत अध्ययन कार्य संस्कृत वाचन से आरम्भ होता है। अतः इसका पर्याप्त अभ्यास हो जाता है। इसके साथ ही साथ अर्थ-बोध के लिए भी सुन्दर अवसर मिल जाता है। वाचन एक निष्क्रिय एवं बोलना एक सक्रिय प्रक्रिया है। प्रथम दूसरे की अपेक्षा अधिक सरल है। अतः इसी को अध्ययन का माध्यम बनाया गया है। इससे शब्द-भाण्डार की वृद्धि होती है। यह विधि साहित्य-प्रासाद तक पहुँचने का प्रथम सोपान है। इससे व्यापक अध्ययन के निमित्त जिज्ञासा उत्पन्न होती है जिससे मनुष्य भाषा और साहित्य के प्रति स्वतः आकर्षित हो जाता है। बड़ी कक्षाओं को पढ़ाने के लिए

यह सर्वोत्तम विधि है। इसके अतिरिक्त यह विधि उन विद्यालयों के लिए भी उपयोगी है जिनमें आवश्यक शैक्षणिक सामग्रियों का अभाव तथा समय सारणी में विषय विशेष को समुचित स्थान देने का प्रतिबन्ध है।

पाठ्य-पुस्तक-विधि के दोष

इस विधि के अन्तर्गत मौखिक आत्म प्रकाशन को स्थान नहीं है। पर इसके महत्व को आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता है। यह तो रुचि और आनन्द का उद्गम स्थान है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। इस विधि में केवल वाचन ही वाचन है। इसके फलस्वरूप इसमें उच्चारण सुधार के लिए कोई स्थान ही नहीं है। शुद्ध शुद्ध उच्चारण करने की शिक्षा तो मौखिक आत्म प्रकाशन के ही माध्यम से दी जा सकती है जिसमें मुख और कान का विशेष हाथ रहता है। कान से अच्छी तरह सुनने और मुख से शुद्ध-शुद्ध बोलने की क्रिया सम्पन्न होती है। वाचन से पहले बोल-चाल की ही शिक्षा देनी चाहिए क्योंकि इसकी शिक्षा वाचन की शिक्षा की अपेक्षा सुगम होती है। इसके अतिरिक्त जब बालक कोई नई भाषा सीखता है तो वह सर्वप्रथम इसके माध्यम से अपने भावों को व्यक्त करना चाहता है। ऐसा करने में उसे एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है। वाचन-क्रिया केवल पढ़ने और अनुवाद करने तक ही सीमित रह जाती है। इसमें व्याकरण भी उपेक्षित ही रहता है। पाठों को व्याकरण के नियमों के आधार पर सुव्यवस्थित कर देने पर भी ये नियम उपेक्षित ही रहते हैं। वाचन एक निष्क्रिय एवं यांत्रिक क्रिया है जिसमें छात्रों को लगाये रहना अत्यन्त कठिन है। यह नीरसता की प्रतीक है। यह अमनोवैज्ञानिक भी है। मौखिक आत्म प्रकाशन, उच्चारण, क्रमिक व्याकरण, लिखित रचना आदि को उपेक्षित करने के कारण यह विधि शिक्षण की एक पूर्ण इकाई नहीं है।

डाइरेक्ट मेथड ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

इस विधि को सक्रिय, सरस और मनोवैज्ञानिक बनाने के निमित्त शिक्षा विशेषज्ञों ने एक नवीन विधि को जन्म दिया जिसे 'डाइरेक्ट मेथड' (सुगम पद्धति अथवा निर्बाध-विधि) कहते हैं। इस विधि का प्रयोग अंग्रेजी भाषा को विदेशी भाषा के रूप में सिखाने के निमित्त किया गया था। इस विधि के तीन प्रमुख अंग हैं—मौखिक कार्य की प्रधानता, मातृभाषा की पूर्ण रूपेण उपेक्षा तथा वस्तु और शब्द के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापन। इस विधि का एक मात्र आधार 'वाईल्टर पैनफील्ड' का 'मदर्स मेथड' है। इस विधि का

प्रयोग डा० राऊज़ ने परसा स्कूल में ग्रीक तथा लैटिन पढ़ाने में किया था। इस विधि के प्रयोग में डा० राऊज़[1] को पर्याप्त सफलता मिली जिसका उल्लेख इंग्लैण्ड की शिक्षा-परिषद् ने भी किया है। इसके सदस्यों ने अपने प्रतिवेदन में स्पष्ट रूप से कहा है कि[2] "इस विधि द्वारा कुशल और सिद्धहस्त व्यक्ति छात्रों को अधिक दत्तचित्त बना सकते हैं। इस विधि के अनुसार पाठ को तैयार करते ही छात्र भाषा का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। फलतः उनका मस्तिष्क बड़ा ही आत्मनिर्भर एवं सृजनात्मक बन जाता है।" संस्कृत शिक्षण में इस विधि का प्रयोग सर्वप्रथम प्रोफेसर वी० पो०[3] बोकिल ने अल्फिन्स्टोन हाई स्कूल बम्बई में किया था। उन्होंने अपनी पुस्तक 'ए न्यु एप्रोच टु संस्कृत' में इस विधि की उपयोगिता का बड़े ही अच्छे ढंग से प्रतिपादन किया है। उनका यह स्पष्ट मत है कि इस प्रकार की भाषाओं के शिक्षण में यह विधि बड़ी ही उपयोगी है।

उद्देश्य

इस विधि के अनुसार संस्कृत शिक्षण बड़ी ही सफलता के साथ किया जा सकता है। ऐसा करते समय मातृभाषा, अंग्रेजी अथवा किसी अन्य भाषा की सहायता की आवश्यकता नहीं होती है। इसके शिक्षण का कार्य स्वतंत्र रूप से होता है। इस विधि का मुख्य उद्देश्य यह है कि छात्र संस्कृत में ही सोचें, और तदनुकूल अपने भावों को संस्कृत में ही व्यक्त करे जिससे भविष्य में संस्कृत पर उनका पूर्ण अधिकार हो जाय। वे संस्कृत में अपने भावों को व्यक्त करने में उतने ही दक्ष हो जायँ, जितने कि वे उन्हें अपनी मातृभाषा में व्यक्त करने में दक्ष होते हैं। जिस प्रकार छात्र मातृभाषा को स्वाभाविक रूप से सीख लेता है और ऐसा करने में उसे किसी प्रकार का प्रयास नहीं करना पड़ता है। ठीक उसी प्रकार वह संस्कृत को भी बिना किसी प्रयास के स्वतः सीख ले, यही इस विधि के अनुसार संस्कृत शिक्षण का मुख्य उद्देश्य है। शब्द और उसके अर्थ में सीधा सम्बन्ध स्थापित कर विचार और अभिव्यक्ति तथा अनुभव और भाषा में एक सहज सम्बन्ध की सृष्टि कर दी जाती है। नवीन शब्दों की

---

1. 'Latin on the Direct Method'—Rouse and Appleton.
2. 'Suggestions for the teaching of classies'—Board of Education in England.
3. 'A New Approach to Sanskrit'—Bokil and Parasnis.

व्याख्या के निमित्त मातृभाषा का प्रयोग न कर तत्सम्बन्धी वस्तुओं का प्रदर्शन, हाव-भावों का समुचित अभिनय, परिभाषा, पर्यायवाची शब्दों आदि का प्रयोग किया जाता है। इसमें नये शब्दों के ज्ञान के लिए अभ्यास तथा एक निश्चित योजना की आवश्यकता होती है। कर्कमैन[1] का कथन है कि सुगम रीति के अनुसार पढ़ाये हुए पाठ की सफलता उस पाठ के संकेत पर निर्भर करती है। विषय सीमित हो और उसे विद्यार्थियों को क्रमानुसार पढ़ाया जाय। पाठ की आवृत्ति भी करा दी जाय।

भाषा वाक्यों का समूह है। अतः शब्दों का छोटे-छोटे वाक्यों में प्रयोग किया जाय। इन वाक्यों द्वारा किसी वस्तु का वर्णन किया जाय। इस प्रकार शब्दों और भावों में पूर्ण सम्बन्ध स्थापित होने पर विद्यार्थी इन शब्दों एवं मुहाविरों को पुनः स्मरण कर सकते हैं क्योंकि उचित प्रसंग स्मृति के लिए उचित सामग्री होता है।

शब्दों का वाक्यों में प्रयोग तथा उनमें और उनसे सम्बन्धित वस्तुओं में सीधा सम्बन्ध स्थापित कर लेने के पश्चात् अध्यापक को उस शब्द की आवृत्ति करनी चाहिए और छात्रों को उसका उच्चारण करने के लिए पर्याप्त अवसर देना चाहिए। इन शब्दों का उच्चारण सामूहिक रूप से भी कराया जा सकता है किन्तु ऐसा जहाँ तक सम्भव हो, कम किया जाय क्योंकि इससे शोर अधिक होता है जिससे दूसरी कक्षा के छात्रों की हानि होती है। छात्रों से व्यक्तिगत रूप से उच्चारण कराना अधिक लाभप्रद होता है। जिस समय छात्र नवीन शब्दों का उच्चारण कर रहे हों, अध्यापक को उन शब्दों को एक-एक करके श्यामपट्ट पर लिख देना चाहिए। इन्हें लिखते समय उसे एक पूर्व आयोजित योजना का अनुसरण करना चाहिए। उसे सर्वप्रथम एक वचन कर्त्ता कारक की संज्ञाओं का उल्लेख करना चाहिए और इस तरह द्विवचन, बहुवचन आदि के विभिन्न लिङ्गों एवं वचनों के शब्दों की चर्चा कर छात्रों को उनके परस्पर अन्तर को बतला देना चाहिए। इसके पश्चात् विशेषणों का प्रयोग करना चाहिए और इस तरह छात्रों को इस बात का ज्ञान करा देना चाहिए कि

---

1. Kirkman states, "that each lesson should be based upon a definite plan, that there should be a carefully limited amount of material and that this should be taught in orderly stages and be systematically revised.

विशेषणों का लिङ्ग तथा वचन विशेष्य के लिङ्ग और वचन के अनुसार होता है, जैसे सुन्दरः पुरुषः, सुन्दरी नारी, सुन्दरम् गृहम्, बलवान् सिंहः, बलवन्तौ सिंहौ, बलवन्तः सिंहाः आदि। अन्त में क्रियाओं का प्रयोग करना चाहिए। इनका प्रयोग करते समय विभिन्न गणों की धातुओं का परस्पर अन्तर बतलाना चाहिए। इसी तरह अव्यय, क्रिया विशेषण आदि के प्रयोग का भी ज्ञान कराना चाहिए। छात्र इन नये शब्दों को अपनी अभ्यास-पुस्तिका पर लिख लें। ऐसा करने से वे शब्दों के सुनने और उनका ठीक-ठीक उच्चारण करने के अतिरिक्त उनको ठीक-ठीक लिखने में भी अभ्यस्त हो जायँगे।

डाइरेक्ट मेथड में मौखिक प्रकाशन का स्थान

जेसपर्सन का कथन है कि भाषा ध्वनि से कभी भी अलग नहीं की जा सकती। उसका ध्वनि से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः मातृभाषा से भिन्न दूसरी भाषाओं को पढ़ाते समय प्रत्येक अवस्था में मौखिक प्रकाशन को अवश्य स्थान देना चाहिए। ऐसा करने के लिए चाहे विद्यार्थियों को अध्यापक की कही हुई बातों को ही क्यों न दुहराना पड़े। पढ़ते समय छात्रों को अक्षरों का ज्ञान, शब्दों की परख तथा उनका ध्वनियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है। लिखते समय उनको अक्षरों की बनावट की ओर अपना ध्यान आकर्षित करना पड़ता है। यह एक जटिल प्रश्न है। पर बोलने के लिए उसे दूसरों का अनुकरण करना पड़ता है और इस तरह उसे पढ़ने तथा लिखने की अपेक्षा बोलने में कम प्रयत्न करना पड़ता है। बालक स्वभाव से ही अनुकरणशील और प्रयत्न लाघव का प्रेमी होता है। जब वह सीखी हुई भाषा में अपने भावों को व्यक्त करने लगता है तो उसे एक विशेष प्रकार की सान्त्वना मिलती है और वह अपनी सफलता पर प्रसन्न होता है। प्रसन्नता रुचि उत्पादक होती है। अतः मौखिक प्रकाशन पर अधिक बल दिया जाय।

मौखिक प्रकाशन के लिए अभ्यास आवश्यक

मौखिक भाव प्रकाशन के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार चलने तथा दौड़ने के लिए अभ्यास नितान्त आवश्यक है, उसी प्रकार किसी भी भाषा में अपने भावों को व्यक्त करने के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है। उस भाषा के निरन्तर व्यवहार के बिना यह असम्भव है। अभ्यास मनुष्य को निपुण तथा जड़मति को सुजान बनाता है। इस प्रकार के अभ्यास का प्रयोग वैदिक पाठों के अध्यापन के समय

किया जाता था और पारायण पद्धति' इसी की देन है। गायत्री मन्त्र सिखाते समय आचार्य इसका तीन बार पाठ करते थे। छात्रों को उच्चारण अभ्यास कराने तथा मंत्रों को भलीभाँति समझाने के लिए सर्वप्रथम वे मन्त्रों के प्रत्येक पद पर, तथा तत्पश्चात् उनके प्रत्येक चरण पर रुकते थे। अन्त में सम्पूर्ण मन्त्र का उच्चारण करते थे। हर बार छात्र उनकी आवृत्ति करता था। इससे यह स्पष्ट है कि आचार्य इन मन्त्रों के शुद्धोच्चारण पर तथा इनके अर्थ को समझकर पढ़ने पर बल देते थे। वे इनके यांत्रिक रूप से स्मरण कर लेने पर ही सन्तुष्ट नहीं होते थे।

मातृभाषा का कम से कम प्रयोग

मौखिक प्रकाशन का अभ्यास कराते समय मातृभाषा का कम से कम प्रयोग किया जाय। जेसपर्सन के शब्दों में[1] कभी-कभी अत्यन्त आवश्यकता पड़ने पर ही कुछ शब्दों तथा वाक्यों का मातृभाषा में अनुवाद कर दिया जाय।" कर्कमैन[2] भी इसका समर्थन करते हुए कहता है कि शब्दों का अर्थ के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि यह सम्बन्ध मातृभाषा के हस्तक्षेप के बिना ही स्थापित होना चाहिए।

इस प्रणाली में व्याकरण का कोई स्थान नहीं है। यद्यपि यह बात अक्षरशः सत्य है, फिर भी पाठ-संकेत की तैयारी व्याकरण के ही आधार पर की जाय। भाषा सम्बन्धी बातें व्याकरण के ही आधार पर विद्यार्थियों के समक्ष रखी जायँ। इस तरह व्याकरण विद्यार्थियों के लिए उतना आवश्यक नहीं है जितना कि अध्यापकों के लिए। वह तो अध्यापक के लिए पथ-प्रदर्शक है। उसी के सहारे वह विद्यार्थियों को भाषा-पथ प्रदर्शित करता है। व्याकरण

---

1. Jesperson writes "Translation ought to be used sparingly and at all events, it is not necessary to translate the whole connected pieces but merely a word or at the most a sentence now and then."

2. "The Principle" says Kirkman, "is that a foreign word or word group should be associated with its meaning directly, in other words without the habitual intervention of the native speech."

के व्यावहारिक ज्ञान पर ही पाठ की सफलता निर्भर करती है। व्याकरण सम्बन्धी सैद्धान्तिक बातें छात्रों को उसी अंश तक पढ़ाई जायँ, जिस अंश तक वे भाषा सीखने में उनकी सहायता कर सकें।

डाइरेक्ट मेथड में वार्तालाप प्रणाली का स्थान

डाइरेक्ट मेथड के अन्तर्गत मौखिक प्रकाशन को प्रोत्साहन देने के लिए वार्तालाप प्रणाली भी उपयोगी है। आजकल की शिक्षा संस्थाओं में संस्कृत भाषा में अपने भावों को व्यक्त करने का अवसर ही नहीं दिया जाता है। इसके परिणामस्वरूप बहुत से विद्यार्थी जिन्होंने एम० ए० तक की संस्कृत में शिक्षा प्राप्त की है, अपने भावों को उस भाषा में व्यक्त करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। अतः संस्कृत अध्यापकों को आरम्भ से ही इस ओर अपना ध्यान आकर्षित करना चाहिए। यह प्रणाली इसके लिए परमोपयोगी सिद्ध होगी। विभिन्न अवसरों के योग्य भाषा का अभ्यास कराने के लिए वार्तालाप सम्बन्धी पाठों का अभिनय कराना परमावश्यक है। अभिनय द्वारा छात्र अवसरोपयोगी भाषा के साथ ही साथ उसके व्यक्त करने का ढंग भी सीख लेता है। कहाँ पर उच्च स्वर से तथा कहाँ पर मन्द स्वर से बोला जाय, इन बातों का भी उसे ज्ञान हो जाता है। अभिनय योग्य विशेष प्रकार के संवाद पाठों का संस्कृत पाठ्य-पुस्तकों में समावेश होना चाहिए। ये पाठ इस प्रकार के हों—

छात्रयोः संलापः (दो छात्रों की परस्पर बातचीत)

गोविन्दः—(चन्द्रप्रभ को सम्बोधित कर) चन्द्रप्रभ ! त्वं कुत्र गच्छसि ?

चन्द्रप्रभः—मित्र गोविन्द ! अहमद्य पितुः निर्देशात् आपणं गच्छामि।

गोविन्दः—किमर्थं तत्र गच्छसि ? पिता त्वां किमकथयत् ?

चन्द्रप्रभः—मित्र ! पिता मामादिशत् यत् "वत्स ! गच्छापणात् अनुजाय क्रीडनकान्यानय।"

गोविन्दः—(उसके भाई की ओर संकेत कर) अयमपरः त्वया सह कः ?

चन्द्रप्रभः—किं न जानासि ? अयमेव ममानुजः सोमप्रभः।

गोविन्दः—(प्रसन्नाकृति होकर) अहो ! हृष्याम्यद्य युवयोः दर्शनात् तदागच्छतं युवां मम गृहम्। युवाभ्यां स्वागतं व्याहरामि।

चन्द्रप्रभ.—वयस्य ! यदि आवां तव गृहं गमिष्यावः तदा नूनं विलम्बो भविष्यति । पिता चावयोः कृते चिन्तातुरो भविष्यति । तदन्येद्युः आवामवश्यं तव गृहमागमिष्यावः ।

गोविन्दः—किं विलम्बो भविष्यति चेत् पिता त्वयि कोपं करिष्यति त्वां ताडयिष्यति च ।

चन्द्रप्रभः—नहि, नहि, मित्र ! पिता में कदापि मह्यं न कुप्यति न वा मां ताडयति । सः मयि भृशं स्निह्यति । यतोऽहं सततं पितुः आदेशं पालयामि, किं न जानासि,

नह्यतो धर्मचरणं किञ्चिदस्ति महत्तरम् ।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया ॥

अतो गच्छावः आवाम् । जय हिन्द ।

डाइरेक्ट मेथड की सम्पूर्ण क्रिया वार्तालाप के ही माध्यम से सम्पन्न होती है । वस्तुतः इसका प्रारम्भ ही इसी से होता है । यथा, किम् एतत् ? एतत् पुस्तकम् । का एषा ? एषा बाला । अयं कः ? अयम् शिक्षकः । सः किम् करोति ? सः पाठं पाठयति आदि ।

डाइरेक्ट मेथड की प्रक्रिया

अध्यापक संस्कृत तथा मातृभाषा में पाये जाने वाले शब्दों का चयन कर छात्रों के समक्ष इनसे सम्बद्ध वस्तुओं को प्रस्तुत कर उनसे उन पर उपर्युक्त ढंग से प्रश्न पूछता है और धीरे-धीरे परिचित साधारण क्रियाओं का भी प्रयोग करता है । इस प्रकार शनैः शनैः छात्रों को सरल वाक्य रचना के लिए प्रेरित करता है । यथा पुस्तक पढ़ते हुए किसी छात्र की ओर इंगित कर वह पूछता है कि अयं किम् करोति ? छात्र उत्तर देता है कि "सः पुस्तकम् पठति ।" इस प्रकार हम देखते हैं कि इस प्रणाली में सारी प्रक्रिया साहचर्य के आधार पर सम्पन्न होती है और वार्तालाप ही इसका मुख्य आधार है । इस प्रक्रिया में वाक्य को ही भाषा की पूर्ण इकाई मानकर सारी क्रिया की जाती है । फलतः छात्र अध्यापक अथवा अपने साथियों की सुनी हुई बात को दुहराता, अनुकरण करता अथवा तदनुसार आचरण करता है । वह संस्कृत में ही बोलता और दूसरों को इसी भाषा में बोलते हुए सुनता भी है । उसके लिए इस तरह सारा वातावरण ही संस्कृत मय हो जाता है । फलतः वह संस्कृत में ही धीरे-धीरे बोलने, किसी वर्ण्य-नात्मक विषय पर क्रमानुसार दो चार वाक्य कहने, चित्रों के आधार पर

छोटी-छोटी कहानियों को अपने शब्दों में व्यक्त करने आदि में अभ्यस्त हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह विधि निश्चय ही क्रिया एवं रुचि को उत्पन्न करती है जिससे छात्र पाठ को पूर्ण मनोयोग से पढ़ता है। इससे पाठ में सजीवता आ जाती है जिससे पाठ की रोचकता बढ़ जाती है। इसमें पढ़ने से पूर्व बोलने पर अधिक बल दिया जाता है। फलतः छात्र संस्कृत शब्दों के शुद्धोचारण में कुशल हो जाते हैं। सुनने से उनके कान और बोलने से उनकी जिह्वा प्रशिक्षित हो जाती है। इस विधि द्वारा छात्र बोली हुई संस्कृत को समझने में दक्ष हो जाते हैं। इस प्रकार की दक्षता उनके भावी जीवन में उनके लिए बड़ी लाभप्रद सिद्ध होती है। इस विधि से छात्रों की भावाभिव्यक्ति विकसित हो जाती है जिससे वे किसी भी अवसर पर अपने भावों को व्यक्त करने में समर्थ हो जाते हैं। इस विधि में हम नियमों एवं उपनियमों के जाल में नहीं फँसते हैं। इनका परित्याग कर इनसे बने हुए शुद्ध रूपों का ही बार-बार प्रयोग करते हैं। इस विधि के सम्बन्ध में गैटे महोदय ने अपने व्यक्तिगत अनुभव को इस प्रकार व्यक्त किया है कि उन्होंने लैटिन को केवल अभ्यास के ही आधार पर फ्रेंच, जर्मन और अंग्रेजी की भाँति सीखा था। ऐसा करते समय उन्होंने किसी प्रकार के नियम अथवा व्यवस्था का पालन नहीं किया था। उन्हें एतत्सम्बन्धी प्रत्येक बात स्वाभाविक रूप से समझ में आ गई थी। उन्होंने शब्दों एवं उनके रूपान्तरित रूपों को हृदयंगम कर लिया था तथा लिखने और बोलने में इनका सरलतापूर्वक प्रयोग किया था। इस विधि में रहने की पद्धति का कोई मूल्य नहीं होता है। जेस्पर्सन का ऐसा विश्वास है कि केवल वार्तालाप के माध्यम से ही पर्याप्त व्याकरण सीखा जा सकता है। वस्तुतः किसी भी विदेशी भाषा में लिखित या मौखिक रूप में अपने भावों को व्यक्त करते समय हम अनेक ऐसे नियमों का पालन करते हैं जिनके सम्बन्ध में हमें किसी भी तरह की जानकारी नहीं रहती है। इस प्रकार यह विधि सचमुच एक लाभप्रद विधि सिद्ध हो सकती है।

डाइरेक्टर मेथड के लाभ

उपर्युक्त गुणों के होते हुए भी यह विधि सर्वथा दोष रहित नहीं है। जिस विचारधारा के आधार पर इस विधि का प्रादुर्भाव हुआ और इसे 'डाइरेक्टर

डाइरेक्टर मेथड के दोष

मेथड' की संज्ञा प्रदान की गई, यदि हम इसका विश्लेषण करें तो हम यह कह सकते हैं कि इसका नामकरण ही अनुचित है। केवल कुछ ही शब्द ऐसे हैं जिनका सीधा सम्बन्ध उनके अर्थों अथवा उनकी प्रतीक वस्तुओं से स्थापित किया जा सकता है। अध्यापक को शेष शब्दों की व्याख्या करने के लिए उनके पर्यायवाची शब्दों अथवा उनकी परिभाषाओं का सहारा लेना पड़ता है। उन्हें यदा-कदा विशिष्ट शब्दों का अर्थ-बोध कराने के निमित्त मातृ-भाषा का भी प्रयोग करना पड़ता है। यह बात तो निर्विवाद है कि व्याख्या से अर्थ-बोध कराना सहज है। इसके लिए मातृभाषा का प्रयोग आवश्यक है। अंग्रेजी इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। अपने जीवन के स्वर्णिम वर्षों को अंग्रेजी सीखने, बोलने तथा उसमें लिखने में व्यतीत करने पर भी हम भारतीय किसी बात को पहले मातृभाषा में सोचते हैं और तदनन्तर उसका अंग्रेजी में अनुवाद करते हैं। ऐसी दशा में हम उन छात्रों से, जो संस्कृत भाषा को विद्यालय के कुछ इने-गिने घण्टों में ही पढ़ते हैं, इस बात की आशा कैसे कर सकते हैं कि वे संस्कृत में सोचेगें और उसे उसी में व्यक्त कर सकेगें।

यह विधि मेधावी छात्रों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है। किन्तु साधारण बुद्धि वालों के लिए तो यह सर्वथा अनुपयोगी है। इंग्लैण्ड की शिक्षा परिषद् ने तो मेधावी छात्रों के प्रति भी इसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में आशंका व्यक्त की है और कहा है कि इस बात का भय है कि केवल मेधावी छात्र ही इससे लाभान्वित हो सकें।

इस विधि को अपनाने में पर्याप्त समय एवं पर्याप्त व्यक्तिगत ध्यान देने की आवश्यकता पड़ती है। प्रारम्भिक कक्षाओं के लिए यह विधि भले ही लाभप्रद सिद्ध हो, किन्तु उच्च कक्षाओं के लिए तो यह कदापि उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती है। इसके दो प्रमुख कारण हैं—एक तो संस्कृत शिक्षण के लिए समय-सारिणी में बहुत ही कम घण्टे निर्धारित किये जाते हैं। दूसरे छात्रों की संख्या आवश्यकता से अधिक हो जाती है। फलतः छात्रों के प्रति व्यक्तिगत ध्यान देना कठिन हो जाता है। आजकल के समष्टिमूलक शैक्षिक वातावरण में व्यक्तिगत ध्यान देने की बात तो सोची ही नहीं जा सकती है। समयाभाव के कारण ऐसा करना तो और कठिन है क्योंकि इसके अभाव में संस्कृत के लिए अनुकूल वातावरण की उत्पत्ति करना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त इस भाषा की क्लिष्टता और कृत्रिमता भी इसमें बाधक है। इसके प्रत्येक

नियम के अपने अनेक अपवाद हैं जो इस विधि के अपनाने के मार्ग में बाधक हैं।

इन दोषों के अतिरिक्त इसका एक दोष वर्तमान संस्कृत अध्यापकों का अप्रशिक्षित होना भी है। इन्हें न तो आधुनिक शिक्षण पद्धति का ज्ञान होता है और न तो इनमें अपने भावों को संस्कृत में व्यक्त करने की क्षमता ही होती है। इनमें संस्कृत को मातृभाषा की तरह प्रयोग करने की योग्यता नहीं होती है। फलतः इस विधि का प्रयोग करना इनके लिए एक समस्यामूलक बात बन जाती है।

इस विधि के गुण-दोषों का विवेचन करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि विधि सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। प्रारम्भिक अवस्था में यह छात्रों के लिए बड़ी ही उपयोगी है। इससे इस स्तर पर संस्कृत के शैक्षणिक वातावरण की सृष्टि होती है और छात्र रुचिपूर्वक संस्कृत पढ़ते हैं। मैंने स्वयं अध्यापक के रूप में तथा प्रशिक्षक के रूप में इस विधि का प्रयोग किया था और मुझे पर्याप्त सफलता मिली थी। बलवन्त राजपूत टीचर्स ट्रेनिंग कालेज आगरा में प्रदेश के विभिन्न विद्यालयों से रिफ्रेशर्स कोर्स में भाग लेने के निमित्त आये हुए संस्कृत अध्यापकों ने इस विधि की उपयोगिता की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी और इस विधि का सफल प्रयोग भी किया था। इनके पाठों का संचालन मेरी ही देख-रेख में सम्पन्न हुआ था। पिक्चर कम्पोजिशन के माध्यम से छोटी-छोटी कहानियों का पढ़ाया जाना तो इतना रुचिकर और सुकर हो गया था कि संस्कृत अध्यापकों में कहानी पढ़ाने की होड़ सी लग गई थी। जिस समय मैं राजकीय दीक्षा विद्यालय डुमरियागंज, बस्ती में प्रधानाध्यापक के पद पर नियुक्त था, वहाँ पर भी मैंने इस विधि के माध्यम से संस्कृत पढ़ाने के लिए छात्राध्यापकों को प्रेरित किया। फलतः इन लोगों ने इसका भलीभाँति अध्ययन किया, इस विधि के अनुसार संस्कृत का पाठ-सूत्र तैयार किया और तत्पश्चात् इसका सफल प्रयोग भी किया। इससे यह सिद्ध होता है कि यह विधि प्रारम्भिक कक्षाओं के लिए बड़ी ही उपयोगी है।

संयुक्त पद्धति उद्देश्य एवं प्रक्रिया

संस्कृत शिक्षण की उपरिलिखित विधियों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि इन सबकी अपनी-अपनी सीमित उपयोगिताएँ हैं और सभी अपने में पूर्ण इकाई नहीं हैं। अतः हमें इन सभी विधियों की अच्छाइयों को लेकर संस्कृत के अनुकूल एक नवीन शिक्षण पद्धति की सृष्टि करनी चाहिए जो प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण हो।

इस प्रकार से सृष्ट पद्धति को 'संयुक्त पद्धति' की संज्ञा दी जा सकती है। इस विधि का मुख्य उद्देश्य भाषा-शिक्षण के सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुए संस्कृत-शिक्षण को मनोवैज्ञानिकता प्रदान करना है। ऐसा करने से अन्य सभी आवश्यक उद्देश्यों की पूर्ति हो सकती है। संस्कृत शब्द भाण्डार की वृद्धि उनका शुद्धोच्चारण, रचना, अनुवाद, व्याकरण, गद्य-पद्य, नाटक आदि सभी अंगों को दृष्टि में रखते हुए इनकी इस प्रकार की शिक्षा देना कि छात्र को संस्कृत का पूर्ण ज्ञान हो जाय, इस विधि का तीसरा प्रमुख उद्देश्य है।

जहाँ तक इस विधि की प्रक्रिया का प्रश्न है, प्रारम्भिक कक्षाओं से ही मौखिक कार्य प्रारम्भ किया जाय। (इस सम्बन्ध में मौखिक रचना वाला पाठ पढ़े) उपरिलिखित भाषा के सभी अंगों के शिक्षण के लिए पाठ्य-पुस्तक को आधार बनाया जाय जो इस विधि के अनुसार तैयार की गई हो। (इस सम्बन्ध में 'पाठ्य-पुस्तक' वाले पाठ को पढ़े) परीक्षण एवं मूल्यांकन में भी एतत्सम्बन्धी नवीन पद्धतियों का अनुसरण किया जाय।

सारांश

मेकाले की शिक्षा-नीति के कारण स्कूलों में संस्कृत का केवल प्रारम्भिक ज्ञान देना ही संस्कृत शिक्षा का मुख्य उद्देश्य निर्धारित किया गया। श्री विल्कन्स द्वारा तैयार किये गये व्याकरण के कारण संस्कृत क्षेत्र में एक नवीन विचार-धारा का जन्म हुआ। ग्रीक और लैटिन जैसी भाषाओं को पढ़ाने की पाश्चात्य विधि के आधार पर संस्कृत-शिक्षण में व्याकरण-अनुवाद पद्धति का अनुसरण किया गया। इस विधि को डा० भण्डारकर के नाम से पुकारा जाने लगा। इसके अनुसार संस्कृत भाषा का वर्गीकरण कर उसे बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से छात्रों के समक्ष प्रस्तुत किया गया। स्वाध्याय के माध्यम से संस्कृत-ज्ञानार्जन करने वालों के लिए यह विधि बड़ी ही उपयोगी सिद्धि हुई।

इसके नाम के साथ जुड़े हुए 'अनुवाद' की प्रक्रिया में विचारों का स्पष्टी-करण, विश्लेषण और रूपान्तर करते समय तुलनात्मक तथा सच्चे शब्द, अर्थ और भाव का ज्ञान होना अनिवार्य होता है। अनुवाद समीकरण का प्रथम सोपान होता है। इसके लिए "मक्षिकास्थाने मक्षिका", छायानुवाद तथा तथ्यानुवाद नामक तीन पद्धतियों का अनुसरण किया जाता है।

अनुवाद पद्धति का अनुसरण करने से अन्य भाषाओं के शब्दों, महाविरों तथा विभिन्न शैलियों का ज्ञान प्राप्त होता है, पर अनुवाद 'अनुवाद' और मूल

'मूल' ही। अनुवाद मूल का स्थान नहीं ले सकता। मूल एक होता है और अनुवाद अनेक। इसमें मौखिक प्रकाशन को कोई स्थान नहीं है। इसमें व्याकरण की अधिकता होती है, फलतः पठन-पाठन नीरस एवं शुष्क बन जाता है। किशोरों के लिए यह पद्धति उपयुक्त नहीं है। इस पद्धति का प्रयोग तब तक न किया जाय जब तक कि छात्र संस्कृत का पर्याप्त ज्ञान न प्राप्त कर लें।

भारत में अंग्रेजी के प्रचार एवं प्रसार के लिए पाठ्य-पुस्तक विधि अपनाई गई। इस विधि का प्रयोग संस्कृत-शिक्षण में भी किया गया। इसके लिए कक्षानुकूल विषय-सामग्री एवं शब्दावली का वर्गीकरण किया गया और ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, जीवानन्द विद्यासागर आदि विद्वानों ने इसके आधार पर पुस्तकें लिखीं। इन पाठ्य-पुस्तकों के पाठ ही सम्पूर्ण अध्ययन के केन्द्र बने। महत्त्वपूर्ण अनुच्छेदों, श्लोकों आदि का मातृभाषा में तथा तदनुकूल मातृभाषा के वाक्यों, अनुच्छेदों आदि का संस्कृत में अनुवाद कराया जाने लगा। व्याकरण के विशिष्ट नियमों के लिए विशेष अभ्यास दिये रहते थे। वाचन अध्ययन का माध्यम बना। यह विधि ऊँची कक्षाओं के लिए उपयोगी सिद्ध हुई।

इस विधि में केवल वाचन ही वाचन है। मौखिक आत्मप्रकाशन को कोई स्थान नहीं है। व्याकरण भी अपेक्षित है। मौखिक आत्मप्रकाशन, उच्चारण, क्रमिक व्याकरण, लिखित रचना आदि उपेक्षित होने के कारण यह विधि शिक्षण की पूर्ण इकाई नहीं है।

इस विधि के दोषों का निराकरण करने के निमित्त संस्कृत शिक्षण में 'डाइरेक्ट मेथड' का प्रयोग किया जाने लगा जिसका प्रयोग ग्रीक और लैटिन पढ़ाने के लिए किया जाता था। इस विधि का मुख्य उद्देश्य यह है कि छात्र संस्कृत में ही सोचें और उसी में अपने भावों को व्यक्त करें जिससे भविष्य में संस्कृत पर उनका पूर्ण अधिकार हो जाय। इसके अन्तर्गत शब्द और उसके अर्थ में सीधा सम्बन्ध स्थापित कर विचार और अभिव्यक्ति तथा अनुभव और भाषा में एक सहज सम्बन्ध की सृष्टि कर दी जाती है। इसमें मौखिक आत्म प्रकाशन पर विशेष बल दिया जाता है। ऐसा करते समय मातृभाषा का कम से कम प्रयोग किया जाता है। इसमें वार्तालाप को प्रमुख स्थान प्राप्त है। यह विधि अत्यन्त रुचिकर एवं छात्रों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। यह होते हुए भी यह दोष रहित नहीं है। सभी शब्दों का उनसे सम्बद्ध वस्तुओं का सीधा सम्बन्ध स्थापित करना कठिन है। यह केवल मेधावी छात्रों के लिए उपयोगी

है। इसमें पर्याप्त समय एवं व्यक्तिगत ध्यान देने की आवश्यकता पड़ती है। इनके अतिरिक्त संस्कृत अध्यापक अप्रशिक्षित भी होते हैं। इन दोषों के होते हुए भी यह विधि सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है।

उपर्युक्त विधियों के गुणों के आधार पर एक 'संयुक्त विधि' को अपनाया जाय जो मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित हो। भाषा की सभी इकाईयों को विकसित करना इसका एक मात्र उद्देश्य हो। इन्हीं के शिक्षण के लिए पाठ्य-पुस्तक को आधार बनाया जाय। परीक्षण एवं मूल्यांकन में भी एतत्सम्बन्धी नवीन पद्धतियों का अनुसरण किया जाय।

प्रश्न

1. व्याकरण-अनुवाद पद्धति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का उल्लेख करते हुए उसके गुण-दोषों का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. अनुवाद-पद्धति की परिभाषा की चर्चा करते हुए उससे सम्बद्ध विभिन्न प्रणालियों का उल्लेख कीजिए।
3. पाठ्य-पुस्तक विधि का क्या तात्पर्य है? इसके स्वरूप, प्रक्रिया, लाभ-हानि आदि का विस्तृत वर्णन कीजिए।
4. 'डाइरेक्ट मेथड' का संस्कृत शिक्षण में क्या स्थान है? इसके स्वरूप, गुण, दोषादि का सम्यक् विवेचन कीजिए।
5. जूनियर हाई स्कूल की किसी कक्षा को 'डाइरेक्ट मेथड' के आधार पर संस्कृत पढ़ाते समय उससे सम्बद्ध एक पाठ-सूत्र तैयार कीजिए।

सहायक ग्रन्थ

1. भाषा शिक्षा—लेखक श्री विजय नारायण चौबे।
2. संस्कृत शिक्षण विधि—लेखक श्री रघुनाथ सफाया।
3. संस्कृत शिक्षण—लेखक डा० राम शकल पाण्डेय।
4. The Student's guide to Sanskrit Composition—
लेखक वमन शिवराम आप्टे।

5. The Higher Sanskrit Grammar—लेखक मोरेश्वर रामचन्द्र काले ।

6. Latin on the Direct Method—Rouse and Appleton.

7. Suggestions for the teaching of classics—Board of Education in England.

8. A New approach to Sanskrit—Bokil and Parasnis.

9. The Problem of Sanskrit Teaching—Huprikar.

10. How to teach a Foreign Language—Jesperson.

अध्याय 7

संस्कृत ध्वनि विज्ञान

स्मृतियों में इस बात का उल्लेख है कि ब्राह्मण वेदाङ्गों सहित वेदों का अध्ययन करें। ऐसा किये बिना वैदिक वाक्यों का सम्यक् ज्ञान तथा उनमें निर्दिष्ट विधियों के प्रयोग की जानकारी प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। वेदाङ्ग छः हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द और निरुक्त। निम्नलिखित श्लोकों में पुरुष रूपी वेद के ये अंग इस प्रकार हैं—

वेदाङ्ग

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तो कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षाघ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥

अर्थात् छन्द वेद के पैर, कल्प हाथ, ज्योतिष चक्षु, निरुक्त कान, शिक्षा नाक तथा व्याकरण मुख है। अतः इन सब के साथ ही वेद पढ़ने से, ब्रह्मलोक में पूजा होती है। इन छः अंगों में हमारे लिए सर्वोपयोगी शिक्षा नामक वेदाङ्ग है जो हमें उच्चारण के सम्बन्ध में सभी नियमों की जानकारी कराता है।

वाणी का प्रादुर्भाव कैसे हुआ, इस संबन्ध में यह भी मौन है। मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने इसकी उत्पत्ति के संबन्ध में तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। प्रथम सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि के आरंभ में मनुष्य व्यक्त शब्दों का प्रयोग नहीं करते थे। वे केवल चेष्टा आदि से अपना कार्य चला लेते थे। व्यक्त शब्दों की उत्पत्ति पीछे से हुई है। कुछ लोगों का यह विचार है कि मनुष्य ने प्रारंभ में किसी वस्तु को देखा और उसे देख कर वह भयभीत हुआ तथा अकस्मात् उसके मुँह से कोई ध्वनि निकली, यथा आज भी आश्चर्य अथवा भय से बिना सोचे-विचारे शब्द मुख से निकल जाते हैं। इस प्रकार की ध्वनियाँ,

प्रथम सिद्धान्त

जिनके कारण वह उत्पन्न हुई थीं, उन्हीं अर्थों में प्रयुक्त भी होने लगीं इसी के फलस्वरूप वर्णात्मक शब्दों की भी उत्पत्ति हुई। पर मनुष्य को प्रारंभ में इतने भय-स्थान थे और उसमें इतनी भीरुता या आश्चर्य भरा था कि प्रतिपद शब्द बनते जाते हों, यह बात समझ में नहीं आती है। अतः यह सिद्धान्त समीचीन नहीं जान पड़ता है।

द्वितीय सिद्धान्त

दूसरे सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य आरंभ में जिस प्रकार की घटना या वस्तु देखता था, उसी के अनुसार उसके अनुकूल शब्द गढ़ लेता था, जैसे बुद-बुद शब्द पानी के बुल-बुले के अर्थ में तथा 'गम्' का गति अर्थ में इसलिए प्रयोग किया जाने लगा कि किसी वस्तु के पतन में 'धम' की ध्वनि होती है। इस प्रकार पहले सभी शब्द ध्वनि-रूप में थे, पीछे से उनका अनुकरण वर्णात्मक हुआ।

तृतीय सिद्धान्त

तृतीय सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य के मन में जब कोई नया विचार आता था, तो उसके मुख से हठात् उस विचार या वस्तु के अनुकूल शब्द निकल पड़ते थे और यही शब्द आगे चल कर उस विचार या वस्तु के वाचक हो गये, जैसे कौवे को 'काँ', 'काँ' करते देखा तो उसका नाम 'काक' रख दिया। इस तरह अन्तिम दोनों सिद्धान्त अनुकरण को ही प्रधान मानते हैं। अनुकरण के आधार पर ही वर्णात्मक शब्द बने यही इनकी सम्मति है।

वर्णोच्चारण की क्रिया

वर्णात्मक शब्द होने के पूर्व मनुष्य के शरीर में कौन-कौन सी क्रियाएँ होती हैं, इस विषय में हमारे शिक्षाशास्त्रियों ने स्पष्ट मत व्यक्त किया है। "वाचं धेनुमुपासिता" इस श्रुति के अनुसार वाग् धेनु है। वह काम दुघा है। समस्त वाङ्मय इसी का रूपान्तर मात्र है। इसके चार स्वरूप हैं—(1) परा (2) पश्यन्ती (3) मध्यमा और (4) वैखरी।

परा

राजानक जयरथ अलङ्कार सर्वस्व की विमर्शिनी नाम की टीका लिखते समय सर्व प्रथम परा वाणी की ही परिभाषा करते हुए कहते हैं कि "परा तो ब्रह्म स्वरूपा है।" परा ही सरस्वती है। हमारे आचार्य सरस्वती के इस स्वरूप से परिचित थे। यही देवी उनकी आराध्या थी। वन्देमहि च तां वाचममृतामात्मनः कलाम्"—यहाँ महाकवि भवभूति उसी ब्रह्म की कला अमृतरूपा वाणी की उपासना कर रहे हैं। राजानक रुय्यक भी "नमस्कृत्य परां वाचं देवीं त्रिविध

विग्रहाम्" इत्यादि मंगलाचरण में पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूपी त्रिविध विग्रहों को धारण करने वाली देवी परा वाणी को ही नमस्कार करके "अलङ्कार सर्वस्व" का आरंभ करते हैं।

वस्तुत, 'परा' परा है। यह शब्द ब्रह्म की अपृथगभूत शक्ति है और पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—इन तीनों का उद्गम स्रोत है। इसी परा देवी में जब बाहर उल्लास की भावना जाग्रत होती है तो वह पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप में त्रिविध विग्रह धारण कर लेती है। यही समस्त पद-पदार्थ का सार है। नाद रूपिणी यही समस्त प्राणियों में जीवरूप में वास करती है। सारे जगत् का वाग्-व्यवहार इसी अनादि अनपायिनी सूक्ष्मा शक्ति की सत्ता से चल रहा है। कहा भी है कि—

अनादि निधनं ब्रह्म शब्द तत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥
वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा स्मृतिगोचरा।
द्योतिकार्थस्य पश्यन्ती सूक्ष्मा ब्रह्मैव केवलम्॥

अर्थात् आदि-अन्त से रहित जो अक्षर तत्त्व ब्रह्म है, वही अर्थ भाव से परिणाम को प्राप्त करता है जिससे इस जगत् का व्यवहार चल रहा है। "वैखरी" शब्द रूपा है, मध्यमा स्मृति गोचर मात्र है, 'पश्यन्ती' अर्थ की द्योतिका है, किन्तु सूक्ष्मा परा तो केवल ब्रह्म स्वरूपा ही है।

परा का दूसरा विकृत रूप पश्यन्ती है। यह परा रूप शब्द ब्रह्म की शक्ति का उन्मेषमात्र है। यहाँ भी न तो वर्णों का कोई विभाग है और न कोई अनुक्रम।

पश्यन्ती

यह सूक्ष्म बीज से अंकुर के समान स्वयं प्रकाशित अन्तः स्वरूप ज्योति का संहृतक्रम घनीभूत प्रथम विवर्त है। अर्थात्[1] विभागहीन, पूर्णरूप से संहृतक्रम वाली, स्वरूप ज्योति, सर्वविधायिनी शक्ति ही अन्तः सूक्ष्म रूप वाली, न नष्ट होने वाली पश्यन्ती वाणी है। "परायामध्यमायाश्चावस्थां तटस्था पश्यन्तीति पश्यन्ती" इस व्युत्पत्ति के अनुसार परा और मध्यमा की अवस्था को तटस्थ हो देखने वाली पश्यन्ती वाणी है।

---

1. अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृत क्रमा।
स्वरूपज्योतिरे वान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी॥

पश्यन्ती के पश्चात् मध्यमा का स्थान आता है। यह अन्तः संकल्परूपा है। श्रोत्र ग्राह्य वर्णों की अभिव्यक्ति रहित, किन्तु मानसिक वर्णोच्चारण के क्रम रूप अनुपात का अनुवर्तन करने वाला वाग्विवर्त्त

मध्यमा

मध्यमा-वाक् कहा जाता है। अर्थात्[1] अन्तः संकल्परूप क्रम का अनुपात रखने वाली प्राणवृत्ति को पार कर मध्यमा वाणी प्रवृत्त होती है। "द्वयोर्वाग्विवर्तयोः पश्यन्ती वैखरीसंज्ञयोर्मध्ये वर्तनान्मध्यमेत्युच्यते" इस व्युत्पत्ति के अनुसार पश्यन्ती और वैखरी नामक दोनों वाग्विवर्तों के मध्य में रहने के कारण इसे मध्यमा कहते हैं।

परा का अन्तिम तथा वाह्य स्वरूप वैखरी रूपा वाणी है। सभी प्रकार के शब्द इसी के अन्तर्गत आते हैं। चेतन प्राणियों में प्राण-वायु का मुख में संचार होने से वैखरी की अभिव्यक्ति होती है। 'विशिष्टं खमा-

वैखरी

काशं मुखरूपं शति, गृहणातीति विखरः प्राणवायुसंचार विशिष्टो वर्णोच्चारस्तेनाभिव्यक्ता वैखरीत्युच्यते'—इसके अनुसार विखर अर्थात् प्राणवायुसंचारविशिष्ट वर्णोच्चारण से अभिव्यक्ति वाणी को वैखरी कहते हैं। दूसरे शब्दों में कंठ आदि स्थानों में वायु के संचरित होने पर वर्णों का शरीर धारण करने वाली प्राणवृत्ति के सहयोग से बनने वाली वक्ता की वाणी को वैखरी[2] कहते हैं।

इस सम्बन्ध में महामुनि पाणिनि ने बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख किया है। उन्होंने वर्णों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा है कि "शब्दोच्चारण[3] के पूर्व आत्मा बुद्धि के साथ मिल कर अर्थ ज्ञान करता

वर्णोत्पत्ति

है। तदनन्तर वह मन को बोलने के लिए प्रेरित करता है। वह मन भी नाभि से नीचे मणिपूर चक्र में स्थित जठराग्नि को आघात पहुँचाता है और इच्छा युक्त मन से आहत वह जठराग्नि नाभि स्थित समान वायु को प्रेरित करता है।"

---

1. अन्तः संकल्प रूपा या, क्रमरूपानुपातिनी।
   प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते॥
2. स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा।
   वैखरी वाक् प्रयोक्तृणां प्राणवृत्तिनिबन्धना॥
3. पाणिनीय शिक्षा—(6-10)

कुछ लोग प्राण वायु को ही नाभि से उत्पन्न होने के कारण उसका ही मन से आघात मानते हैं। प्राण वायु का उद्भव नाभि से ही होता है। वह प्राण वायु हृदय में आकर अभिव्यक्त होता है क्योंकि प्राण वायु का स्थान हृदय[1] ही है। जठराग्नि से ऊपर को प्रेरित वह वायु हृदय देश में आकर मेघ के समान गम्भीर ध्वनि को उत्पन्न करता है। इसे प्रातः सवन कहते हैं और इसी स्वर का प्रयोग गायत्री छन्द में होता है। वही वायु कंठ देश में आकर त्रिष्टुप्छन्द से युक्त मध्यम ध्वनि उत्पन्न करता है। पुनः यही वायु सिर में पहुँच कर तृतीय सवन के मन्त्रों के पाठ में उपयोग में आने वाले मयूरादि के शब्द के समान अधिक तीव्र स्वर उत्पन्न करता है। वर्णों की उत्पत्ति इसी से होती है। इस प्रकार "उरः कण्ठः शिरश्चैव स्थानानि त्रीणि वाङ्मये" के अनुसार हृदय, कण्ठ और सिर इस तरह की वायु के तीन स्थान हैं। इस तरह उत्पन्न वायु जब सिर से आकर टकराता है और ऊपर जाने की इसकी गति रुक जाती है, तो यह नीचे की ओर आता है। ऐसी दशा में वह मुख के भीतर कण्ठ, तालु, दन्त, मूर्द्धादि स्थानों में टक्कर खाकर अ, आ आदि 64 वर्णों को उत्पन्न करता है। इन वर्णों को अक्षर भी कहते हैं। अक्षर शब्द का अर्थ है 'अविनाशी' क्योंकि प्रत्येक नाद अनश्वर है। यदि किसी शब्द का उच्चारण किया जाय तो उसके अक्षर उच्चारण काल में 'नाद' कहलायेंगे और उस दशा में शब्द नादों का समूह होगा। इस नाद समूह को शब्द इसलिए कहते हैं क्योंकि नाद, ध्वनि आदि का प्रायः एक ही अर्थ है। इसीलिए महाभाष्यकार ने कहा है कि "तस्माद ध्वनिः शब्दः"।

पंच वायु स्थान

इन वर्णों के पाँच भेद होते हैं जो इस प्रकार हैं—

1—स्वर कृत भेद (उदात्त, अनुदात्त और स्वरित), 2—काल कृत भेद (ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत), 3—स्थान कृत-भेद (उर, कण्ठ, जिह्वा, सिर आदि) 4—आभ्यन्तर प्रयत्न कृत भेद, तथा 5—वाह्य प्रयत्न कृत भेद। इस प्रकार उत्पन्न वर्णों की संख्या 63 या 64

वर्णों के पांच भेद

---

1. हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभि संस्थितः।
उदान कण्ठदेशे स्याद्व्यानः सर्वशरीर नः॥
(अर्थात् प्राण वायु का स्थान हृदय, अपान वायु का गुदा, समान का नाभि, उदान का कण्ठ और व्यान का स्थान सम्पूर्ण शरीर है।)

कुल संख्या 63 या 64 है[1]। संस्कृत भाषा में, या इससे उत्पन्न अन्य भाषाओं में (अपभ्रंश, प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, अर्द्ध-मागधी आदि भाषाओं में) इतने ही वर्ण होते हैं। इनसे अधिक वर्णों का होना असम्भव है। इनकी उत्पत्ति ब्रह्मा जी के मुख से हुई है।

वर्णों के प्रकार (स्वर एवं व्यञ्जन)

इस प्रकार उत्पन्न वर्णों को दो भागों में विभाजित किया गया है जिन्हें 'स्वर' और व्यञ्जन कहते हैं। स्वर 21 हैं जो इस प्रकार हैं—अ, आ, आ^3; इ, ई, ई^3; उ, ऊ, ऊ^3; ऋ, ॠ, ऋ^3; ऌ, ए, ए^3, ऐ ऐ^3, ओ ओ^3, औ औ^3

स्पर्श—25	क ख ग घ ङ्, च छ ज झ ञ
(व्यञ्जन)	ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न
	प फ ब भ म।
यादि—अन्तःस्थ 4	य र ल व
ऊष्म 4	श ष स ह
यम	4 कुं खुं गुं घुं
अनुस्वार	1 अं
विसर्ग	1 अः
जिह्वामूलीय	2 (≍ क) ; (≍ ख)
उपध्मानीय	2 (≍ प) ; (≍ फ)
द्विः स्पृष्ट	1 ऌ

जिह्वामूलीय और उपध्मानीय की एक ही एक संख्या मानी जाती है। इस प्रकार वर्णों की कुल संख्या 63 है। कुछ लोग ऌकार को भी लुप्त मानते हैं

---

1. त्रिषष्ठिश्च चतुष्षष्ठिर्वा वर्णाः शम्भुमतेमताः।
प्राकृते, संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ता स्वयंभुवा॥

और यदि इसे ऐसा मान लिया जाय तो वर्णों की कुल संख्या[1] 64 हो जाती है।

पाणिनि ने इन्हीं अक्षरों को निम्नलिखित 14 सूत्रों में विभक्त किया है—

पाणिनि के 14 सूत्र

अ इ उ ण्[1], ऋ ऌ क्[2], ए ओ ङ्[3], ऐ औ च्[4], ह य व र ट्[5], ल ण्[6], ञ म ङ ण न म्[7], झ भ ञ्[8], घ ढ ध ष्[9], ज ब ग ड द श्[10], ख फ छ ठ थ च ट त व्[11], क प य्[12], श ष स र्[13], और हल्[14]।

ये चौदह सूत्र माहेश्वर कहलाते हैं क्योंकि पाणिनि को ये महेश्वर की कृपा से प्राप्त हुए थे। कहा[2] जाता है कि एक समय पाणिनि तथा सनकादि ऋषि शिव को प्रसन्न करने के लिए तपस्या कर रहे थे। शिव ने प्रसन्न होकर चौदह बार अपना डमरू बजाया और उसी की प्रतिध्वनि के आधार पर पाणिनि ने इन चौदह सूत्रों की रचना की। इनको प्रत्याहार सूत्र भी कहते हैं क्योंकि इनके द्वारा सरलता से और सूक्ष्म रीति से सब अक्षरों का बोध हो जाता है। इन सूत्रों में जो अक्षर हल् हैं, उन्हें इत् कहते हैं। ण्, क्, ङ् आदि इत् हैं। इनके द्वारा प्रत्याहार बनते हैं। पूर्व के किसी सूत्र का कोई वर्ण लेकर उसको यदि आगे के किसी इत् के पूर्व जोड़ दें तो जो प्रत्याहार बनेगा, वह उस पूर्व वर्ण का तथा उसके और इत् के बीच के सभी वर्णों (बीच में पड़ने वाले इतों को छोड़ कर) का बोधक होगा, जैसे अक् अ, इ, उ, ऋ तथा ऌ का बोधक है।

स्वर का अर्थ है ऐसा वर्ण जिसका उच्चारण अपने आप हो सके, जिसको किसी दूसरे वर्ण से मिलने की अपेक्षा न हो। स्वरों का दूसरा नाम अच् है। स्वर तीन प्रकार के होते हैं—ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत।

---

1. स्वराः विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमास्मृताः॥
अनुस्वारो विसर्गश्च ≍ क ≍ पौचापि पराश्रितौ।
द्विःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो लृकारः प्लुत एव च॥

2. नृत्यावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धान्नेतद् विमर्शे शिव सूत्रजालम्॥
[नन्दिकेश्वर काशिका]

स्वर-ह्रस्व[1] दीर्घ और प्लुत

जिस स्वर के उच्चारण में एक मात्रा-समय लगे उसे ह्रस्व स्वर कहते हैं। जैसे अ, इ, उ आदि। जिस स्वर के उच्चारण में दो मात्रा-समय लगे उसे दीर्घ स्वर कहते हैं जैसे आ, ई, ऊ आदि। मिश्र विकृत स्वर दीर्घ होते हैं। जिस स्वर के उच्चारण में तीन मात्रा-समय लगे, उसे प्लुत कहते हैं जैसे अ^3, इ^3 आदि। इस अन्तिम प्रकार के स्वर का प्रयोग प्रायः पुकारने के समय होता है, जैसे भो राम^3। उच्चारण के अनुसार ही इन्हीं स्वरों के तीन और भेद होते हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। ऊँचे स्वर से उच्चरित स्वर को उदात्त, इससे भिन्न स्वर को अनुदात्त तथा दोनों के बीच के स्वर को स्वरित कहते हैं।

उदात्त,[2] अनुदात्त और स्वरित

ये सभी स्वर फिर दो और तरह के होते हैं—अनुनासिक तथा अननुनासिक। ऐसे स्वर जिनके उच्चारण में नासिका से भी कुछ सहायता ली जाती है अनुनासिक कहलाते हैं, जैसे, अं, आं आदि। ऐसे स्वर जिनका उच्चारण साधारण ढंग से हो जाता है, उन्हें अननुनासिक स्वर कहते हैं; जैसे, अ, आ, इ, ई आदि।

अनुनासिक और अनुनासिक स्वर

ऐसे वर्ण जिनका उच्चारण बिना किसी दूसरे वर्ण (अर्थात् स्वर) से मिले हुए नहीं होता है, व्यञ्जन कहलाते हैं। ऊपर क से लेकर ह तक के सारे वर्ण व्यञ्जन कहलाते हैं। इन व्यञ्जनों को हल भी कहते हैं। इनके शुद्ध रूप को व्यक्त करने के लिए इनके नीचे हलन्त (एक तिरछी रेखा) लगा देते हैं, जैसे क्, ख् आदि व्यञ्जनों के भी कई भेद हैं। क से लेकर म तक के व्यञ्जन 'स्पर्श' कहलाते हैं। इनमें क वर्गादि पाँचों वर्ग सम्मिलित हैं।

व्यञ्जन

---

1. एक मात्रो भवेद्ध्रस्वो, द्विमात्रो दीर्घ उच्यते। त्रिमायस्तु प्लुतोज्ञेयो व्यञ्जनम् अर्धमात्रकम्।

2. उच्चैरुदात्तः (1।2।29), नीचैरनुदात्तः (1।2।30), समाहारः स्वरितः (1।2।31) उच्चारण स्थान से उच्च अंश से उच्चरित स्वर उदात्त, नीचे से अनुदात्त और दोनों से स्वरित कहलाता है।

स्पर्श[1] हैं। य, र, ल और व—ये अन्तःस्थ हैं। ये स्वर और व्यञ्जन के बीच के हैं। श, ष, स और ह ऊष्म हैं। इनका उच्चारण करने के लिए भीतर से जरा अधिक जोर से श्वास लानी पड़ती है।

विसर्ग विसर्ग को (:) चिह्न से व्यक्त किया जाता है। यह सदैव किसी स्वर के अन्त में आता है। यह स् अथवा र् का एक रूपान्तर मात्र है पर उच्चारण की विशेषता के कारण इसका व्यक्तित्व अलग है। यह जिस स्वर के पश्चात् जुटा होगा, उसी के उच्चारण स्थान से उच्चरित होगा

अनुस्वार अनुस्वार यदि पंचवर्गीय अक्षरों के पूर्व आवे तो उस वर्ग के पंचम अक्षर सा होता है और यदि अन्य आवे तो उसका उच्चारण उसका एक विभिन्न ही (केवल नासिका से) उच्चारण होता है। इसीलिए इसका व्यक्तित्व भी अलग है। क और ख के पूर्व कभी-कभी एक

जिह्वामूलीय **उपध्मानीय** अर्ध विसर्ग सा चिह्न उच्चारण के प्रयोग में आता है। इसका रूप ≍ यह है और इसे **जिह्वामूलीय** बताते हैं। इसी प्रकार प और फ से पूर्व वाले विसर्ग-नाद को **उपध्मानीय** कहते हैं। इसे भी उसी चिह्न ≍ से व्यक्त करते हैं। व्यञ्जनों के दो भेद और भी होते हैं—अल्पप्राण और महाप्राण।

अल्पप्राण[2] **महाप्राण**[3] जिन व्यञ्जनों के उच्चारण में कम श्वास की आवश्यकता होती है, उन्हें अल्पप्राण कहते हैं। वर्गों के प्रथम, तृतीय और पंचम वर्ण तथा अन्तःस्थ अल्पप्राण हैं। जिन व्यञ्जनों के उच्चारण में अधिक श्वास की आवश्यकता होती है, उन्हें महाप्राण कहते हैं। वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ वर्ण तथा ऊष्म महाप्राण हैं।

उच्चारण करने का उपाय यह है कि अन्दर से आती हुई श्वास को स्वच्छन्दता से न निकाल कर, उसे मुख के अवयव विशेषों से तथा नासिका

---

1. कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यरलवा अन्तःस्थाः। शषसहा ऊष्माणः।
2. वर्गाणां प्रथम तृतीयपञ्चमाः यणश्चाल्पप्राणाः।
3. वर्गाणां द्वितीय चतुर्थोशलश्च महाप्राणाः।

से विकृत करके निकाला जाय। इस विकार के उत्पन्न करने में नासिका तथा मुख के भाग प्रयोग में आते हैं। विकार के ही कारण नादों में भेद पड़ जाता है। जिन-जिन अवयवों से विकार उत्पन्न किया जाता है, उनको नादों का स्थान कहते हैं। इन स्थानों का विभाजन बड़े वैज्ञानिक ढंग से हुआ है जो पेज 131 के कोष्ठक से स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

"अकुह विसर्जनीयानां कण्ठः" इस सूत्र के अनुसार विसर्ग का उच्चारण-स्थान कण्ठ ही है; किन्तु 'अयोगवाहाः विज्ञेया, आश्रय-स्थानभागिनः के अनुसार विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का उच्चारण-स्थान अपने आश्रय के स्थान के ही समान होता है। जैसे रामः। यहाँ अकार से परे जो विसर्ग है, उसका उच्चारण स्थान कण्ठ है। हरिः में इकार के पश्चात् विसर्ग का उच्चारण-स्थान तालु है।

'ह'[1] का उच्चारण स्थान

हकार का उच्चारण-स्थान कण्ठ माना गया है किन्तु यदि यह वर्गों के अन्तिम अक्षर अर्थात् ङ, ञ, ण, न, म तथा अन्तःस्थ वर्ण य, र, ल, व से युक्त हो तो इसका उच्चारण-स्थान कण्ठ न होकर उर हो जाता है, जैसे अपराह्ण, ब्राह्मण, चिह्न आदि में ह का उच्चारण स्थान उर ही है। इन शब्दों का अपरान्ह चिन्ह आदि उच्चारण करना सर्वथा अशुद्ध है।

प्रयत्न

इन वर्णों का उच्चारण करने में दो तरह का प्रयत्न करना पड़ता है। एक तो उनके स्फुट उच्चरित होने के पूर्व तथा दूसरा उच्चारण क्रिया के पश्चात्। इसलिए पहले को **आभ्यन्तर प्रयत्न** तथा दूसरे को **बाह्य प्रयत्न** कहते हैं।

आभ्यन्तर प्रयत्न के पाँच भेद

आभ्यन्तर प्रयत्न के पाँच भेद होते हैं—स्पृष्ट, ईषत् स्पृष्ट, ईषत्-विवृत, विवृत तथा संवृत। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि आभ्यन्तर प्रयत्न उस समय होता है जब कि किसी ध्वनि का उच्चारण करते समय जिह्वा मुख के भीतर स्पर्श या संघर्ष करती है। इसीलिए क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग त वर्ग और प वर्ग स्पर्श वर्ण और आभ्यन्तर प्रयत्न की दृष्टि से **स्पष्ट वर्ण** कहे

---

1. हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तःस्थाभिश्च संयुतम्।
उरस्य तं विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसंयुतम्॥

वर्णोद्भव स्थान-कोष्ठक[1]

कण्ठ	तालु	मूर्द्धा	दन्ताः	ओष्ठौ	नासिका	कण्ठ-तालु	कण्ठोष्ठ	दन्तोष्ठ	जिह्वामूलीय
अ	इ	ऋ	ऌ	उ	ञ	ए	ओ	व	⌒ क
क	च	ट	त	प	म	ऐ	औ		⌒ ख
ख	छ	ठ	थ	फ	ङ				
ग	ज	ड	द	ब	ण				
घ	झ	ढ	ध	भ	न				
ङ	ञ	ण	न	म	ं				
ह	य	र	ल	⌒ प					
:	श	ष	स	⌒ फ					

1. अकुह विसर्जनीयानां कण्ठः। इचुयशानां तालु। ऋटुरषाणां मूर्द्धा। लृतुलसानां दन्ताः। उपूध्मानीयानामोष्ठौ। ञमङणनानां नासिका च। एदैतोः कण्ठतालु। ओदौतोःकण्ठोष्ठम्। बकारस्य दन्तोष्ठम्। जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्। नासिकाऽनुस्वारस्य।

जाते हैं। इनका उच्चारण जीभ के कण्ठ, तालु आदि स्थानों को स्पर्श करने से होता है 'ईषत् स्पृष्ट' का अर्थ है थोड़ा सा स्पर्श किया

स्पृष्ट ईषत्स्पृष्ट

हुआ। अन्तःस्थ वर्ण अर्द्ध स्पर्श वर्ण हैं। स्पर्श वर्ण और ऊष्म वर्ण के बीच में रहने के कारण इन्हें अन्तःस्थ वर्ण कहते हैं। यही अन्तःस्थ वर्ण ईषत् स्पृष्ट वर्ण कहलाते हैं।

ईषत् विवृत का अर्थ है थोड़ा सा खुला हुआ। ऐसे वर्णों को जिनका उच्चारण करने में ऊष्मा (वायु) अधिक बाहर निकलता है किन्तु मुख द्वार थोड़ा सा खुला रहता है, ऊष्म वर्ण कहते हैं और यही

ईषत् विवृत विवृत

ईषत् विवृत भी कहलाते हैं। विवृत ऐसे वर्ण हैं जिनका उच्चारण करने में जीभ की विशेष सहायता नहीं ली जाती है, हवा को अन्दर से फेंका जाता है और मुख द्वार खुला रहता है। विवृत शब्द का अर्थ ही है खुला हुआ। स्वरों का उच्चारण करने में यही दशा रहती है। अतः ये विवृत कहलाते हैं।

संवृत शब्द का अर्थ है दबा हुआ। जिन वर्णों के उच्चारण में स्वरयंत्र दबा रहता है और बहुत कम खुला रहता है, उन्हें संवृत वर्ण कहते हैं। प्रयोग में ह्रस्व अकार संवृत कहलाता है। बाह्य प्रयत्न ग्यारह

संवृत बाह्य प्रयत्न

प्रकार के होते हैं—विवार (फैला हुआ), संवार (संकुचित), श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। वर्गों के प्रथम, द्वितीय वर्ण तथा श्, ष्, स् का विवार, श्वास और अघोष प्रयत्न है तथा शेष का संवार, नाद और घोष। अल्पप्राण और महाप्राण का निर्देश पहले ही किया जा चुका है। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित प्रयत्न केवल स्वरों का होता है, जिनकी चर्चा पीछे की जा चुकी है।

अग्रांकित कोष्ठक से इनकी स्थिति और स्पष्ट हो जायगी।

एक ही स्थान से उच्चरित होने वाले तथा एक ही आभ्यन्तर प्रयत्न वाले वर्ण सवर्ण कहलाते हैं। भिन्न स्थानों से उच्चरित होने वाले

सवर्ण[1], असवर्ण

वर्ण परस्पर असवर्ण कहलाते हैं। ऋ और ऌ में उच्चारण स्थान का भेद रहने पर भी ये सवर्ण कहे जाते हैं।

---

1. तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (1।1।9) ताल्वादि स्थानमाभ्यन्तर प्रयत्नश्चेत्येतद्द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञः स्यात्।

आभ्यन्तर बाह्यप्रयत्नज्ञानार्थकं कोष्ठकम्

आभ्यन्तर प्रयत्न	स्पृष्टाः			ईषत्स्पृष्टाः	ईषद्विवृताः		विवृताः	संवृताः
संज्ञाः	स्पर्शाः			अन्तःस्थाः	ऊष्माणः		स्वराः	
वर्णाः	क ख च छ ट ठ त थ प फ	ग ङ ज झ ड ण द न ब म	घ झ ढ ध भ	य व र ल	श ष स	ह	अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ	ह्रस्वोऽकारः प्रयोगे
बाह्य-प्रयत्नाः	अ० प्रा० म० प्रा० विवाराः श्वासाः अघोषाः	अल्प प्राणाः संवाराः नादः घोषाः	म० प्रा० संवाराः नादाः घोषाः	अ० प्रा० संवाराः नादाः घोषाः	म० प्रा० विवाराः श्वासाः अघोषाः	म० प्रा० संवाराः नादाः घोषाः	उदात्तानु-दात्तस्वरिताः	

पीछे जिन 64 ध्वनियों की चर्चा की गई है, उन सभी का प्रयोग लौकिक संस्कृत में नहीं होता है। समयानुसार इनमें से कुछ का प्रयोग कम होता गया और अब वे लौकिक संस्कृत में व्यवहृत नहीं हो रही हैं। उदाहरण के लिए प्लुत स्वरों को ही ले लीजिए इनका प्रयोग लौकिक संस्कृत में नही होता है। ऌकार की भी यही दशा है। प्लुत ऌकार का तो वैदिक संस्कृत में भी कम प्रयोग होता है। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय ध्वनियाँ भी ऐसी ही हैं जिनका प्रयोग लौकिक संस्कृत में नहीं मिलता है।

वैदिक एवं लौकिक वर्णों के प्रयोग में अन्तर

इस प्रकार लौकिक-संस्कृत-वर्णमाला में निम्नलिखित वर्ण सम्मिलित हैं—

लौकिक संस्कृत की वर्णमाला

अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ, क, ख, ग, घ, ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व श ष स ह ं : और ँ।

इन वर्णों में से कुछ के उच्चारण में भी कुछ दोष आ गये हैं जैसे ऋ का उच्चारण हम लोग शुद्ध नहीं करते। कोई इसका उच्चारण 'रि' और कोई 'रु' करते हैं। 'ष' का उच्चारण मूर्धा से होना चाहिए किन्तु बहुधा लोग इसे 'श' की भाँति और कुछ लोग 'ख' की तरह उच्चरित करते हैं। पर ऐसा करना अनुचित है। ए और ऐ सन्ध्यक्षर हैं जिनका उच्चारण प्राचीन काल में क्रम से अइ तथा आइ की तरह होता था। पर आजकल इनका उच्चारण क्रमशः ए और अए के रूप में हो रहा है। इसी प्रकार ओ और औ भी सन्ध्यक्षर हैं जिनका उच्चारण प्राचीन काल में क्रमशः अउ और आउ की भाँति होता था। किन्तु आजकल 'ओ' एक स्वर की भाँति और 'औ' अउ अथवा अ ओ की तरह उच्चरित होते हैं।

प्राकृत में ऐ को 'अ इ' और औ को 'अ उ' की भाँति उच्चरित करते हैं। अतः सम्भवः है कि इनके उच्चारण का यह रूप संस्कृत में यहीं से आया हो।

क्ष, त्र, ज्ञ

वर्णमाला में ह के पश्चात् क्ष, त्र और ज्ञ देने की रीति है किन्तु इनका यह रूप दो अक्षरों के मेल से बना हुआ है। जैसे क्ष = क् + ष, त्र = त् + र और ज्ञ = ज् + ञ। अतः इन्हें वर्णमाला में सम्मिलित करना अनुचित है। लोग प्रायः इन अक्षरों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते हैं पर इनकी रचना स्पष्ट है। अतः इनका उच्चारण शुद्ध-शुद्ध करना चाहिए।

देवनागरी लिपि

संस्कृत भाषा देवनागरी लिपि में लिखी जाती है जिसकी अपनी पृथक् विशेषता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें वर्णों के नाम और उनके उच्चारण में कोई अन्तर नहीं है। जो लिखा जाता है, वही पढ़ा जाता है। किन्तु रोमन लिपि में ऐसी बात नहीं है। यहाँ तो लिखा कुछ जाता है और पढ़ा कुछ जाता है। अक्षरों का नाम कुछ है किन्तु उनका उच्चारण कुछ और ही है। जैसे A, B, C, D आदि अक्षर लिखे तो इस तरह जाते हैं, इनके नाम भी क्रमशः ए, बी, सी, डी आदि हैं किन्तु पढ़ने में इनका रूप ही बदल जाता है और ये अ, ब, स और द की भाँति पढ़े जाते हैं।

एक ध्वनि, एक रूप

देवनागरी लिपि की दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि इसमें एक ध्वनि के लिए एक ही रूप निश्चित है। रोमन लिपि की भाँति इसमें एक ध्वनि के लिए कई रूप नहीं होते हैं--जैसे 'क' के लिए C, K, Ch, Q आदि अनेक रूप हैं। इसके अतिरिक्त देव नागरी लिपि में एक प्रतीक से एक ही ध्वनि निकलती है जैसे 'उ' प्रतीक से 'उ' की ही ध्वनि निकलती है। रोमन लिपि की भाँति इसमें ध्वनि की विभिन्नता नहीं है। उदाहरण के लिए रोमन लिपि के U को ही ले लीजिए। यह 'उ' का प्रतीक है किन्तु इसकी अ, उ, यू, ऊ आदि अनेक ध्वनियाँ निकलती हैं। 'But' में अ, Put में उ, unit में यू तथा Bubu में ऊ की ध्वनि निकाली जाती है। कितनी विषमता है और तथ्य तो यह हैं कि संस्कृत भाषा ऐसी न तो कोई वैज्ञानिक भाषा है और न तो देवनागरी लिपि ऐसी कोई वैज्ञानिक लिपि। इसमें ध्वनि-प्रतीकों का क्रम वैज्ञानिक है। इनका अस्तित्व स्पष्ट और पूर्ण विश्लेषणात्मक है।

एक प्रतीक एक ध्वनि

ए और ओ के अतिरिक्त सभी स्वरों के ह्रस्व और दीर्घ रूपों के लिए अलग-अलग चिह्न हैं और स्वरों की मात्राएँ निश्चित हैं जो व्यञ्जनों में स्वरों के रूप को अंकित करती हैं। स्पर्श व्यञ्जन-ध्वनियों में प्रत्येक अघोष के लिए पृथक् सघोष ध्वनि चिह्न और अल्पप्राण के लिए महाप्राण ध्वनि-चिह्न हैं जैसे क अल्पप्राण ध्वनि और ख महाप्राण ध्वनि के अलग-अलग चिह्न हैं; किन्तु रोमन में ख के लिए अलग लिपि चिह्न न होने के कारण K में h मिला कर Kha लिखा जाता है। सभी वर्गों की अनुनासिक ध्वनियों के लिए ङ, ञ, ण आदि पृथक्-पृथक् लिपि संकेत हैं। इस लिपि में केवल उच्चरित ध्वनियाँ

ही अंकित होती हैं। अनुच्चरित ध्वनियाँ नहीं लिखी जाती हैं, रोमन में Walk में अनुच्चरित ध्वनि L भी लिखी जाती है।

सारांश

वेदाङ्गों में शिक्षा का प्रमुख स्थान है। यही हमें उच्चारण सम्बन्धी सभी नियमों की जानकारी कराता है। वाणी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तीन सिद्धान्त प्रतिपादित हैं। प्रथम के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य व्यक्त शब्दों का प्रयोग नहीं करते थे। वे केवल चेष्टा आदि से अपना काम चला लेते थे। दूसरे के अनुसार मनुष्य आरम्भ में जिस प्रकार की घटना या वस्तु देखता था, उसी के अनुसार उसके अनुकूल शब्द गढ़ लेता था। तीसरे सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य के मन में उत्पन्न नये विचार के अनुकूल उसके मुख से शब्द निकल पड़ते थे जो आगे चलकर उस विचार के प्रतीक बन गये। ये सिद्धान्त अनुकरण पर आधारित हैं।

वाणी के चार स्वरूप हैं :—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। परा ब्रह्म स्वरूपा है। यही शेष तीनों का उद्गम स्रोत है। 'वैखरी' शब्द रूपा है, मध्यमा स्मृतिगोचरा है और पश्यन्ती अर्थ द्योतिका है।

महर्षि पाणिनि के अनुसार आत्मा बुद्धि के साथ मिलकर अर्थज्ञान करता है। तदनन्तर वह मन को बोलने के लिए प्रेरित करता है जो जठराग्नि को आघात पहुँचाता है जिससे नाभि स्थित समान वायु प्रेरित हो उठती है। इसी से वर्णों की उत्पत्ति होती है। कुछ लोग प्राण वायु को इसका कारण मानते हैं। हृदय, कण्ठ और सिर वर्णोत्पादक वायु के तीन स्थान हैं। इस तरह उत्पन्न वायु जब सिर से आकर टकराता है और ऊपर आने की इसकी गति रुक जाती है तो यह नीचे की ओर आता है और इस दशा में मुख के भीतर विभिन्न स्थानों में टक्कर खाकर अ, आ आदि 64 वर्णों को उत्पन्न करता है।

इन वर्णों के पाँच भेद होते हैं :—स्वर कृत भेद, कालकृत भेद, स्थानकृत भेद, आभ्यन्तर प्रयत्नकृत भेद तथा बाह्य प्रयत्नकृत भेद। इन वर्णों को दो भागों में विभक्त किया गया है जिन्हें स्वर और व्यञ्जन कहते हैं। स्वर 21 हैं और व्यञ्जन 42। पाणिनि ने इन्हीं अक्षरों को चौदह सूत्रों में विभक्त किया है जिन्हें प्रत्याहार सूत्र कहते हैं। स्वर तीन तरह के होते हैं :—ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। उच्चारण के अनुसार भी ये तीन तरह के होते हैं :—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित।

जिन वर्णों का उच्चारण स्वरों की सहायता से होता है, उन्हें व्यञ्जन कहते हैं। इनके कई भेद होते हैं, यथा स्पर्श, अन्तःस्थ, अल्पप्राण, महाप्राण आदि। सभी वर्णों के उच्चारण स्थान निश्चित हैं, यथा अकुह विसर्जनीयानां कण्ठः आदि। इन वर्णों का उच्चारण करने में दो तरह का प्रयत्न करना पड़ता है। आभ्यन्तर प्रयत्न तथा बाह्य प्रयत्न। प्रथम प्रयत्न के पाँच भेद होते हैं—स्पृष्ट, ईषत्, स्पृष्ट, ईषत विवृत, विवृत तथा संवृत। बाह्य प्रयत्न के ग्यारह भेद होते हैं :—विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित।

संस्कृत भाषा देवनागरी लिपि में लिखी जाती है जिसकी पहली विशेषता यह है कि जो लिखा जाता है, वही पढ़ा भी जाता है। इसमें एक ध्वनि के लिए एक ही रूप निश्चित है। रोमन लिपि में ऐसा नहीं है।

प्रश्न

1. विभिन्न ध्वनियों का विशद विवेचन करते हुए उनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक विस्तृत निबन्ध लिखिए।
2. संस्कृत भाषा में कितनी ध्वनियाँ हैं, उनका उच्चारण किस स्थान से और कैसे होता है, समझाइए।
3. ध्वनि-उत्पत्ति में विभिन्न ध्वनि स्थानों के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
4. देवनागरी लिपि की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उसकी रोमन लिपि से तुलना कीजिए।
5. ध्वनि से आपका क्या तात्पर्य है, समझाइए।
6. संस्कृत वर्णों के उच्चारण की विशेषताओं का उल्लेख कर इनकी अंग्रेजी वर्णों के उच्चारण से तुलना कीजिए।

सहायक ग्रन्थ

1. अलङ्कार सर्वस्व।
2. पाणिनीय, शिक्षा।
3. लघु सिद्धान्त कौमुदी।
4. नन्दिकेशर काशिका।

अध्याय 8

शुद्धोच्चारण-शिक्षण

पिछले पाठ में वर्णों की उत्पत्ति, उनके उच्चारण स्थान आदि का उल्लेख किया गया है। इसी प्रसंग में संस्कृत-शिक्षण में शुद्ध-शुद्ध उच्चारण करने के महत्त्व, उसकी शिक्षा-पद्धति आदि की भी चर्चा करना अत्यन्त आवश्यक है। हमारे पूर्वजों ने इस विषय के महत्त्व पर शिक्षा नामक वेदाङ्ग में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है। वेदों के अध्ययन-अध्यापन में शुद्धोच्चारण का इतना अधिक महत्त्व था कि गुरु शिष्य को व्यक्तिगत रूप से शिक्षा देते थे और इसकी शिक्षा देने के लिए अधिक से अधिक समय देने का यत्न करते थे। याज्ञवल्क्य शिक्षा[1] में इसकी विस्तृत चर्चा की गई है। महर्षि पाणिनि ने इसकी सत्यता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि अच्छी तरह शुद्धता के साथ वर्णों के उच्चारण करने से इस लोक में तो सम्मान होता ही है, ब्रह्म लोक[2] में भी प्रतिष्ठा होती है। सद्गुरु से भली-भाँति पढ़े हुए, अच्छी तरह अभ्यास किये हुए, परम्परा प्राप्त परिशुद्ध पाठों के निश्चयपूर्वक सुन्दर शुद्ध स्वरों से, समुचित मधुर ध्वनि से पढ़े गये वेद और वेदाङ्ग शोभित होते हैं। ब्रह्म की प्राप्ति भी सुस्पष्ठ, सुव्यवस्थित, सुस्वर एवं सुप्रयुक्त वर्णों से होती है। अतः वर्णों का उच्चारण इस तरह करना चाहिए जो न तो

शुद्धोच्चारण का महत्त्व

पाणिनीय शिक्षा में शुद्धोच्चारण का महत्त्व

---

1. अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्।
   शिष्याणामुपदेशार्थं कुर्याद्वृत्तिं विलम्बिताम्॥

2. पाणिनीय शिक्षाः—
   एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाऽव्यक्ता न च पीडिताः।
   सम्यग्वर्ण प्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते॥
   सुतीर्थादागतं व्यक्तं स्वाम्नायं सुव्यवस्थितम्।
   सुस्वरेण सुवक्त्रेण प्रयुक्तं ब्रह्म राजते॥

अव्यक्त हो और न पीड़ित हो। इस सम्बन्ध में भाष्यकार पतञ्जलि का कथन है कि "एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गलोके च कामधुग्भवति"—अर्थात् अच्छी तरह से जाना हुआ और अच्छी तरह से प्रयोग किया गया एक शब्द भी स्वर्ग और मृत्युलोक में इच्छाओं की पूर्ति करने वाला होता है। उन्होंने व्याकरण के प्रयोजनों को बतलाते हुए लिखा है कि "म्लेच्छो ह वा एव यदपशब्दः, म्लेच्छा ह मा भूम, इत्यध्येयं व्याकरणम्"।

पतंजलि की दृष्टि में शुद्धोच्चारण का महत्त्व

म्लेच्छ का धात्वर्थ अपशब्द अर्थात् अशुद्ध शब्द है। हम म्लेच्छ न हो जायं, इस कारण से व्याकरण पढ़ना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि भारतवासियों को भाषा की पवित्रता का बहुत ध्यान रहता था। यहाँ तक कि अशुद्ध शब्द के उच्चारण के कारण आर्यों से बाहर म्लेच्छों में गणना हो सकती थी। वही लोग म्लेच्छ थे जिनकी भाषा असंस्कृत अथवा अशुद्ध होती थी। इसी आशय से महाभाष्य में शब्द के शुद्ध उच्चारण की प्रशंसा तथा शब्दों के अशुद्ध प्रयोग की निन्दा की गई है और कहा गया है कि जो[1] मनुष्य भाषा विज्ञान तथा व्याकरण में प्रवीण हो, व्यवहार में साधु शब्दों का प्रथोग करता हो, वह उत्कर्षता को प्राप्त करता है, परन्तु अपशब्दों के प्रयोग से वह दोष का भागी होता है।

अक्षरों अथवा पदों के उच्चारण में तनिक भी असावधानी करने से वाञ्छित अर्थ के स्थान पर दूसरा ही अर्थ हो जाता है जिससे बहुत बड़ी हानि हो जाया करती है। पाणिनीय शिक्षा से उद्धृत इस श्लोक से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि "मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्—मन्त्रों और वाक्यों में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरों तथा अक्षरों में दोष आ जाने के कारण अभीष्ट अर्थ के स्थान पर दूसरा ही अर्थ हो जाता है। इस प्रकार का अशुद्ध उच्चारण यजमान के लिए वज्र की तरह घातक हो कर स्वयं यजमान को ही नष्ट कर देता है। जैसे "इन्द्रशत्रुर्विवर्द्धस्व" में 'शत्रु' शब्द के 'त्रु' को उदात्त स्वर की तरह उच्चारण करने के

अशुद्ध उच्चारण के दुष्परिणाम प्रथम प्रमाण

---

1. यस्तु प्रयुक्ते कुशलो विशेषे, शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र, वाग्योगावद्दूष्यति चापशब्दैः॥
—महाभाष्य

स्थान पर 'इन्द्र' शब्द के इकार को उदात्त कर देने पर अभिलषित अर्थ के स्थान पर दूसरा ही अर्थ हो गया और यजमान की हानि हुई। इससे सम्बद्ध कहानी इस प्रकार है : त्वष्टा नाम का एक जगत् प्रसिद्ध असुर था। इसके पुत्र का नाम था विश्वरूप। उसने अपनी घोर तपस्या से इन्द्र के आसन को भी विचलित कर दिया था। इन्द्र इससे घबड़ा उठे और उसे मरवा डालना चाहे। त्वष्टा इसे जान कर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। पर इन्द्र का प्रयत्न सफल हुआ और विश्वरूप का अन्त हो गया। पुत्र शोक से विह्वल हो उसके पिता ने आभिचारिक यज्ञ करना आरंभ किया। इस यज्ञ में 'इन्द्रशत्रुर्विवर्द्धस्व' (इन्द्र के शत्रु वृत्रासुर की वृद्धि हो) मंत्र का उच्चारण कर ऋत्विजों ने यज्ञ की आहुति छोड़ना आरंभ किया। 'इन्द्र शत्रु' पद के समास भेद के अनुसार दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो षष्ठी तत्पुरुष के अनुसार 'इन्द्र का शत्रु' और दूसरा बहुव्रीहि समाज के अनुसार 'इन्द्र ही हो शत्रु जिसका'। पहली दशा में इन्द्रशत्रुर्विवर्द्धस्व' उच्चारण होता है और दूसरी में इन्द्रशत्रुर्विवर्द्धस्व'। ऋत्विजों को प्रथमावस्था के ही अनुसार मंत्र का उच्चारण करना चाहिए था किन्तु उन लोगों ने दूसरे ही अर्थ के अनुसार मंत्र का उच्चारण किया था। अतः इसी अर्थ की वार-बार आवृष्टि हुई। परिणाम यह हुआ कि उस यज्ञ के अन्त में वृत्रासुर नामक बड़ा ही प्रबल असुर उत्पन्न तो हुआ और उसने इन्द्र के छक्के भी छुड़ा दिये किन्तु वह इन्द्र को मार न सका, अपितु इन्द्र ने ही अन्त में उसे मार डाला।

द्वितीय प्रमाण

हर्ष चरित् के प्रथम उच्छ्वास में भी इसी प्रकार का उदाहरण मिलता है। सरस्वती देवी को मृत्यु लोक में इसलिए आना पड़ा कि उन्होंने दुर्वासा ऋषि का उपहास किया था जिन्होंने मंत्रों का उच्चारण उचित ढंग से नहीं किया था। महर्षि दुर्वासा क्रुद्ध हो गये और उन्होंने सरस्वती को शाप दिया कि तुम अब से मृत्यु लोक में ही निवास करो।

इस सम्बन्ध में संस्कृत साहित्य में एक कहानी और भी प्रचलित है जिस से सम्बद्ध निम्नलिखित श्लोक आज भी प्रायः प्रत्येक संस्कृतज्ञ की जिह्वा पर प्रतिक्षण नाचा करती है—

यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत, सकलं शकलं सकृच्छकृत्॥

इसमें पिता पुत्र से कहता है कि हे पुत्र ! यद्यपि तुमने बहुत कुछ पढ़ लिया है, फिर भी व्याकरण अवश्य पढ़ लो। यदि तुम्हें इसका ज्ञान हो जायगा तो

तृतीय प्रमाण

तुम 'स्वजन' (आत्मीय जन) के स्थान पर 'श्वजन' (कुत्ते लोग), 'सकल' (सम्पूर्ण) के स्थान पर 'शकल' (खण्ड) और 'सकृत्' (एक बार) के स्थान पर 'शकृत्' (विष्ठा) का उच्चारण न करोगे। यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि अशुद्ध उच्चारण करने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। यह पिता का पुत्र के प्रति वात्सल्य पूर्ण उपदेश है। उच्चारण शुद्धि की प्रबल प्रेरणा देने वाला इससे अधिक महत्त्व का सम्भवतः कोई दूसरा उदाहरण हो। इसमें उपहास है। अज्ञानता है, ग्लानि है और इन सबसे बचने के लिए एक सच्चा उपदेश है। पिता पुत्र से कितने प्रेम से कहता है कि हे पुत्र! तुम अधिक समय से तर्क शास्त्र का अध्ययन कर रहे हो, फिर भी तुम व्याकरण अवश्य पढ़ो। व्याकरण का पूर्ण ज्ञान होने पर तुम अक्षरों तथा पदों का शुद्ध उच्चारण करने लगोगे जिससे पण्डित समाज में तुम्हारा अनादर नहीं होगा और तुम उपर्युक्त दोषों से मुक्त हो जाओगे। तुम्हारे यश और कीर्ति के क्षेत्र का विस्तार होगा और सभी स्थानों पर तुम्हारा सम्मान होगा।

वर्णोच्चारण सम्बन्धी दोष

उपरिलिखित श्लोक में 'स' और 'श' नामक वर्णों के उच्चारण में भूल हो जाने के कारण ही अर्थ का अनर्थ हो गया है। छात्र इन दोनों अक्षरों तथा कतिपय अन्य वर्णों यथा ब, व, इ, ई, उ, ऊ, च्छ, क्ष आदि के उच्चारण में प्रायः भूल करते हैं, तथा वन, वृक्ष, वानर, विमान आदि को ब [illegible] बृक्ष, बानर, बिमान आदि तथा कवि, मुनि, ऋषि, भानु आदि को कवी, मुनी, ऋषी, भानू आदि कहते हैं। इस प्रकार का दोष पूर्वी जिलों के छात्रों में अधिक पाया जाता है। इन दोषों को दूर करने के लिए बोलते समय उच्चारण संबन्धी नियमों का पालन करना चाहिए तथा प्रान्तीय दोषों और घरेलू बोली को छोड़ कर शुद्ध भाषा का प्रयोग करना चाहिए।

पाणिनि के सिद्धान्त

वाचन एक कला है जिसका अर्थ है आनन्द और प्रकाश लाना। (कम = आनन्द तथा प्रकाश, ला = लाना) अतः कला आनन्द का स्रोत है। जिस प्रकार चित्रकार चित्रदर्शकों को आनन्द देने के लिए, सत्यता के प्रकाशन के लिए और अपनी बनाई हुई वस्तुओं में आकर्षण उत्पन्न करने के लिए अपनी तूलिका पर नियंत्रण करता है, उसी प्रकार वाचक (पाठक) को भी अपनी वाक् कला का प्रदर्शन करने के लिए अपनी वाणी पर पूर्ण नियंत्रण रखना

चाहिए। इस सम्बन्ध में पाणिनीय शिक्षा में महर्षि पाणिनि ने ठीक ही कहा है कि—

व्याघ्री[1] यथाऽऽहरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
भीतापतन भेदाभ्यां तद्वद्वर्णान् प्रयोजयेत्॥

जिस प्रकार व्याघ्री अपने बच्चों को मुख से गिरने तथा चुभने के भय से, शंकित दाढ़ों से पकड़ कर ले चलती है, किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने देती है, उसी प्रकार वर्णों का उच्चारण करते समय यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए कि वर्णों का शुद्ध उच्चारण हो। उनका उच्चारण स्थान-प्रयत्नादि के अनुसार ठीक-ठीक हो और उसमें किसी प्रकार की कर्ण-कटुता न उत्पन्न हो। तात्पर्य यह है कि पढ़ने में न तो अक्षरों को चबा-चबा कर ही कहा जाय और न तो उनका इसी प्रकार उच्चारण किया जाय कि वे मुख से गिरे हुए प्रतीत हों और एक दूसरे से पृथक्-पृथक् जान पड़ें।

शिक्षा प्रकरण में इस संबन्ध में और भी बहुत से महत्त्वपूर्ण उपदेश तथा निर्देश दिये गये हैं जिनका जानना प्रत्येक शिक्षक के लिए नितान्त आवश्यक है। शिक्षा विशारद महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है।

वर्णोच्चारण सम्बन्धी याज्ञवल्क्य के सिद्धान्त

मधुरं च न चाव्यक्तं व्यक्तं चापि न पीडितम्।
स नाथस्यैकदेशस्य न वर्णाः संकरं गताः॥

यथा सुमत्तो नागेन्द्रः पदात्पदं निधापयेत्, एवं पदं पदाद्यंतं दर्शनीयं पृथक्-पृथक् अर्थात् वर्णों का उच्चारण मधुर तथा स्पष्ट हो। स्पष्ट होते हुए दूसरे वर्णों से प्रभावित न हो। सभी वर्णों का उच्चारण इस प्रकार किया जाय कि वे एक दूसरे से मिले हुए न प्रतीत हों। जिस प्रकार मतवाला हाथी एक पैर रखने के पश्चात् दूसरा पैर सावधानी से रखता है, उसी प्रकार एक-एक पद को स्पष्ट बोलना चाहिए। वर्णों के सुप्रयोग से ब्रह्मलोक में भी पूजा[2] होती है।

कलाकार अपनी कला का सुन्दरतम् प्रदर्शन तभी कर सकता है जबकि उसकी कृति में लेशमात्र भी दोष न हो। कला को उसकी अन्तिम पराकाष्ठा।

---

1. **याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी इसी प्रकार का पाठ है।**
2. **एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीडितः।**
   सम्यग्वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते।

उच्चारण सम्बन्धी दोष

पर पहुँचाने के लिए, जिसमें सजीवता, आकर्षण तथा रमणीयता हो, तत्सबन्धी दोषों का जानना भी नितान्त आवश्यक है। गुण-दोष-परिज्ञान में निष्णात कलाकार ही अपनी कृति को सुन्दर, आकर्षक तथा प्रभावोत्पादक बना सकता है। वाचनकला में भी कुछ दोष हैं जिनका पाणिनि, याज्ञवल्क्यादि महर्षियों ने अपनी-अपनी शिक्षाओं में सुन्दर विवेचन किया है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में इस कला से संबद्ध चौदह[1] दोषों का उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार हैं—

1—शंकित होकर उच्चारण करना,
2—भयभीत होकर उच्चारण करना,
3—बीच-बीच में वर्णों को पकड़ते हुए बोलना,
4—स्पष्ट न बोलना,
5—नाक से बोलना,
6—कौवे की तरह कर्ण-कटु स्वर में बोलना,
7—मूर्द्धा से बोलना,
8—स्थानादि का विचार न करते हुए बोलना,
9—स्वर रहित बोलना,
10—नीरस ढंग से उच्चारण करना,
11—मिला-मिला कर स्पष्ट न बोलना,
12—विषम स्वर में पाठ करना,
13—व्याकुलता के साथ उच्चारण करना,
तथा (14) तालहीन बोलना,

---

1. याज्ञवल्क्य शिक्षा—

शङ्कितं भीतमुद्घुष्टमव्यक्तमनुनासिकम्।
काकस्वरं मूर्द्धिगतं तथा स्थानविवर्जितम्॥
विस्वरं विरसं चैव विश्लिष्टं विषमाहतम्।
व्याकुलं तालहीनं च पाठदोषाश्चतुर्दश॥

पाणिनीय शिक्षा में भी उच्चारण संबन्धी दोषों पर प्रकाश डाला गया है, जो इस प्रकार हैं –

पाणिनीय-शिक्षा में वर्णित उच्चारण-दोष

(1) अक्षरों को मन ही मन गुनगुनाना,
(2) जीभ दबाकर उच्चारण करना,
(3) जल्दी-जल्दी पढ़ना,
(4) वर्णों को फेंकता हुआ बोलना,
(5) विलंब करके अर्थात रुक-रुक करके बोलना,
(6) गद्‌गद् स्वर में बोलना,
(7) गा-गा कर बोलना,
(8) तुतलाकर तथा मुख के भीतर ही बुदबुदाता हुआ बोलना,
(9) वर्णों को पीड़ा पहुँचाना,
(10) अक्षरों व पदों को बीच में खा जाना,
(11) दीन की तरह बोलना,
(12) नाक से बोलना[1],

पदोच्चारण

उपर्युक्त गुण-दोष पदों के उच्चारण के समय भी देखने को मिलते हैं। इन पर अवाञ्छित बल देने के कारण अर्थ परिवर्तित हो जाता है, यथा 'सः कर्म करोति' वाले वाक्य में 'सः' का उच्चारण स्पष्ट न करने पर तथा उसे अगले पद के साथ मिला कर पढ़ने पर 'सः कर्म' के स्थान पर 'सकर्म' हो जायगा और पूरे वाक्य का अर्थ ही बदल जायगा यदि 'सः' पर बल दे दिया जाय तो अर्थ हो जायगा कि वही व्यक्ति 'कर्म' कर रहा है, कोई दूसरा नहीं। यदि "सः" पर कम बल दिया जाय तो अर्थ होगा कि क्या वह कर्म कर रहा है। इसी प्रकार यदि 'कर्म' पर बल दिया जाय, तो अर्थ होगा कि वह कर्म ही कर रहा है, कोई दूसरा कार्य नहीं, और यदि करोति पर बल दिया जाय तो अर्थ होगा कि

---

1. उपांशु दृष्टं त्वरितं निरस्तं विलम्बितं गद्‌गदितं प्रगीतम्।
निष्पीडितं ग्रस्तपदाक्षरं च वदेद्दशैनं न तु सानुनास्यम्॥
—पाणिनीय शिक्षा

वह कर्म ही कर रहा है और कुछ नहीं। इसीलिए अर्थानुसार समझ-बूझ कर एक-एक पद को स्पष्ट रूप से इस प्रकार कहा जाय कि अभीष्ट अर्थ के अतिरिक्त और कोई दूसरा अर्थ न निकल सके।

शुद्धोच्चारण कर्त्ता के लक्षण

पाणिनीय शिक्षा में इस बात पर भी प्रकाश डाला गया है कि किस प्रकार के लोग सुन्दर पाठ कर सकते हैं। इसके अनुसार प्रसन्न चित्त, कछुए की भाँति अंगों को समेटने वाला अपनी चेष्टाओं को नियंत्रित करने वाला, दृढ़ संकल्प वाला, स्वस्थ, शान्त चित्त तथा निर्भीक व्यक्ति ही शुद्ध पाठ कर सकता है। जिस[1] व्यक्ति की प्रकृति कल्याणकारी हो, दाँत और ओठ सुन्दर हों, वह उच्चारण करने में प्रगल्भ हो तथा विनम्र हो, वही व्यक्ति शुद्धोच्चारण कर सकता है। इसके विपरीत भयंकर[2] आकृति वाले, लम्बे ओठ वाले, नाक से बोलने वाले, गद्गद् स्वर वाले तथा बंधी हुई जीभ वाले व्यक्ति वर्णों का शुद्धोच्चारण नहीं कर सकते हैं। गा-गाकर पढ़ने वाले, अधिक शीघ्रता के साथ पढ़ने वाले, पढ़ते समय सिर को हिलाने वाले जैसा लिखा हुआ हो, वैसा ही पढ़ने वाले, पुस्तक के अनुसार बिना सोचे-समझे पढ़ने वाले तथा जिनका कण्ठ साफ न हो, ऐसे छः प्रकार के व्यक्ति अधम पाठ करने वाले होते हैं। मधुरता, अक्षरों का स्पष्ट उच्चारण, पदों का उचित विभाजन, सुन्दर एवं शुद्ध स्वर, धैर्य और लय—ये पाठक के छः गुण हैं। शिक्षा नामक ग्रन्थों में कण्ठों में मधुरता लाने के लिए तथा उचित ढंग से शब्दों का उच्चारण करने के लिए, विद्यार्थियों

अशुद्धोच्चारण कर्त्ता के लक्षण

अधम पाठक[3]

उत्तम पाठक

---

1. प्रकृतिर्यस्य कल्याणी दन्तोष्ठौ यस्य शोभनौ।
   प्रगल्भश्च विनीतश्च स वर्णान् वक्तुमर्हति॥

2. न करालो न लम्बोष्ठो नाव्यक्तो नानुनासिकः।
   गद्गदो बद्धजिह्वश्च न वर्णान्वक्तुमर्हति॥

3. गीती शीघ्री शिरा कम्पी यथालिखित पाठकः।
   अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाऽधमाः॥

के गुण[1] के लिए विशेष विधान का उल्लेख किया गया है। प्रत्येक विद्यार्थी को प्रातःकाल उठकर आम्र, पलाश, बेल, लटजीरा, शिरीष, खैर, कदम्ब, करवीर, तथा करंजक आदि की दातून करनी चाहिए। ऐसा करने से मधुरता की वृद्धि होती है। लवण-युक्त लिफला का सेवन भी लाभप्रद होता है। इसके सेवन से पाचन-शक्ति बढ़ती है और स्वर तथा वर्णोच्चारण में मधुरता आती है।

इस प्रकार पाठ तथा पाठक के गुण-दोष के सम्यक् ज्ञान का सारांश यह है कि हमारे मुख से निकले हुए स्वर शुद्ध हों और व्यञ्जन स्पष्ट हों। संस्कृत भाषा की यह विशेषता है कि इसके अक्षरों की ध्वनियाँ निश्चित हैं। उनके उच्चारण स्थान भी निश्चित हैं। अतः अभ्यास से इनके उच्चारण में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हो सकती है। स्थान, प्रयत्न आदि के सम्यक् अभ्यास के अभाव में विद्यार्थी ऋ, ऐ, औ, ज्ञ, श, क्ष, त्र, ष, द्य, व आदि वर्णों का अशुद्ध उच्चारण करते हैं और अर्थ का अनर्थ कर देते हैं। इनके अशुद्ध उच्चारण के कारण शब्दों का भी उच्चारण अशुद्ध हो जाता है। कभी-कभी उदात्त-अनुदात्त-स्वरित तथा ह्रस्व और दीर्घ के उच्चारण में भ्रम उत्पन्न होने के कारण इस प्रकार की अशुद्धि हो जाती है। शब्दों के उच्चारण में कभी-कभी किसी वर्ण के उच्चारण का शीघ्रतावश लोप हो जाता है। लोप की ही भाँति कभी-कभी शब्दों के आदि में किसी वर्ण का आगम अथवा वर्णों का स्थान भी परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार की अशुद्धियों का वर्गीकरण इस प्रकार है—

अशुद्धियों का वर्गीकरण

1. उ और ऊ की मात्रा—पुजा, दयालू, कृपालू, शुन्य आदि।
2. इ, और ई—क्योंकी, नदि, परिच्छा, निचे, आदि।
3. व, ब—वर्षा, वेश, विबरण, बिस्तृत, बस्तु आदि।
4. र्, र ऋ—विद्यार्थी, कर्म, क्रपा, ग्रह, वृज, सृष्टा आदि।
5. स, ष, श—प्रशाद, शेश, सासक, विसय, संतोश आदि।

---

1. माधुर्यमक्षर व्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमत्व च षडेते पाठकाः गुणाः॥
—पाणिनीय शिक्षादि।

6. छ, क्ष—इक्षा, क्षात्र, छमा, स्वक्ष आदि।
7. विपर्यय—चिन्ह, ब्रम्हा, ब्राम्हण, आदि।
8. लोप—भारती (भारतीय), पर्वती (पर्वतीय) आदि।
9. आगम—अस्पष्ट (स्पष्ट), अस्थान (स्थान), अस्नान (स्नान) आदि।
10. अनिश्चित—कुँअर, कुंवर, हलुआ, हलुवा, गेय, गए आदि।
11. अनुस्वार और चन्द्र विन्दु—संतान (सन्तान) संगम (सङ्गम) आदि।

वर्णों के शुद्ध उच्चारण करने का सर्वोत्तम उपाय अभ्यास ही है। अभ्यास से सभी बातें साध्य होती हैं। याज्ञवल्क्य[1] जी ने भी इसका समर्थन किया है।

शुद्धोच्चारण के लिए अभ्यास आवश्यक

अभ्यास से जबड़ों में लोच उत्पन्न होती है, जीभ और ओठ शीघ्रता से हिलने लगते हैं और इस तरह बोलने में आलस्य सम्बन्धी सभी दोष दूर हो जाते हैं। नव शब्दों का उच्चारण करने के लिए प्रत्येक अक्षर को रोक-रोक कर धीरे-धीरे उच्चारण करना चाहिए। इससे आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न होती है और विद्यार्थी शुद्ध उच्चारण करने में पूर्णतया समर्थ होता है। इसके अतिरिक्त विद्यार्थी को बहुश्रुत होना चाहिए। बहुश्रुत मनुष्य व्यवहारपटु होता है। इसके लिए वाद-विवाद, अन्त्याक्षरी, कवितापाठ, वार्तालाप सम्बन्धी प्रतियोगिताओं तथा भौगोलिक एवं ऐतिहासिक यात्राओं की व्यवस्था अत्यन्त लाभ-प्रद सिद्ध हो सकती हैं।

इसके अतिरिक्त शुद्धोच्चारण सिखाने के लिए निम्नलिखित बातों पर भी ध्यान देना आवश्यक है—

शुद्धोच्चारण सम्बन्धी

1. छात्र ज्यों ही अशुद्ध उच्चारण करें, उनको तत्काल वहीं पर टोक दिया जाय और उनकी अशुद्धि की ओर उनका ध्यान आकर्षित कर उनका उच्चारण शुद्ध कर दिया जाय।

---

1. जलमभ्यासयोगेन शिलायाः कुरुतेक्षयम्।
ककोर्णामृदुत्तस्तस्य किमभ्यासान्नसाध्यते॥ (याज्ञवल्क्य शिक्षा)
करत करत अभ्यास ते, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते, सिल पर पड़त निशान॥

अन्य आवश्यक बातें 2. छात्रों को वर्णोच्चारण-स्थानों का सम्यक ज्ञान कराकर उनके उच्चारण का पर्याप्त अभ्यास करा देना चाहिए।

3. अध्यापकों को इस बात पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए कि उनका उच्चारण भी शुद्ध हो।

4. प्रत्येक प्रकार के पाठ से सम्बद्ध कठिन शब्दों का उच्चारण-अभ्यास व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से करा लिया जाय जिससे अयोग्य छात्रों को भी इसके लिए उपयुक्त अवसर मिल जाय। व्यक्तिगत उच्चारण अभ्यास अत्यधिक लाभप्रद सिद्ध होता है।

5. वर्ण विशेष का उच्चारण अभ्यास न करा के वाक्य अथवा शब्द का उच्चारण-अभ्यास कराया जाय क्योंकि भाषा में वर्ण नहीं अपितु वाक्य अथवा शब्द ही सार्थक पूर्ण इकाई है।

6. सन्धि युक्त अथवा समस्त पदों का उच्चारण अभ्यास कराने के पूर्व उनका सन्धि-विग्रह अथवा समास-विग्रह कर लेना आवश्यक है।

7. उच्चारण-शिक्षण में निलम्बित वृत्ति का अनुसरण किया जाय। शीघ्रता करने से हानि होती है और छात्र को वाञ्छित उच्चारण सीखने में कठिनाई होती है।

8. टेपरिकार्डर जैसे आधुनिक यंत्रों का भी प्रयोग किया जाय।

सारांश

संस्कृत शिक्षण में शुद्धोच्चारण का सर्वाधिक महत्त्व है। ब्रह्म की प्राप्ति भी सुस्पष्ट, सुव्यवस्थित, सुस्वर एवं सुप्रयुक्त वर्णों से होती है। भाष्यकार पतञ्जिल के शब्दों में अच्छी तरह जाना हुआ और अच्छी तरह से प्रयोग किया गया एक शब्द भी स्वर्ग और मृत्युलोक में इच्छाओं की पूर्ति करने वाला होता है।

अशुद्ध उच्चारण से बहुत बड़ी हानि हो जाती है और अर्थ का अनर्थ हो जाता है। पाणिनीय शिक्षा की त्वष्टा नामक असुर की कहानी, हर्षचरित में वर्णित दुर्वासा द्वारा सरस्वती को दिये गये शाप की कहानी तथा "बहुनाधीषे"

वाले श्लोक में पिता द्वारा पुत्र को व्याकरण पढ़ने का उपदेश देने की बातों से उपर्युक्त तथ्य स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं।

छात्र स, श, व, व, इ, ई, उ, ऊ, च्छ, क्ष आदि के उच्चारण में प्रायः भूल करते हैं। इनका शुद्ध उच्चारण करने के लिए पाणिनि तथा याज्ञवल्क्य द्वारा निर्धारित उच्चारण सम्बन्धी सिद्धान्तों का अनुसरण करना चाहिए। वर्णों के सुप्रयोग से ब्रह्मलोक में भी पूजा होती है। इन दोनों महर्षियों ने जहाँ शुद्ध उच्चारण करने के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, वहीं पर इन लोगों ने एतत्सम्बन्धी दोषों का भी विशद विवेचन किया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार ये दोष चौदह प्रकार के होते हैं। पदोच्चारण में भी ये दोष दिखाई देते हैं।

जो लोग प्रसन्नचित्त, कछुए की भाँति अंगों को समेटने वाले तथा स्वस्थ होते हैं, वे शुद्ध-शुद्ध उच्चारण करने की क्षमता रखते हैं। इसके विपरीत लम्बे ओठ वाले, नाक से बोलने वाले तथा गद्गद् स्वर वाले व्यक्ति शुद्धोच्चारण नहीं कर सकते हैं। गा-गा कर पढ़ने वाले, जल्दी-जल्दी पढ़ने वाले लोग अधम पाठ करने वाले होते हैं। ऐसा पाठ करने वाले लोग छः तरह के होते हैं। उत्तम पाठ करने वाले लोग भी छः तरह के होते हैं। शुद्धोच्चारण के लिए अभ्यास परमावश्यक है।

प्रश्न

1. शुद्धोच्चारण के महत्त्व का उल्लेख करते हुए उसके सुपरिणामों तथा दुष्परिणामों का विशद विवेचन कीजिए।
2. वर्णोच्चारण सम्बन्धी पाणिनि एवं याज्ञवल्क्य के सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
3. वर्णोच्चारण सम्बन्धी दोषों का उल्लेख कीजिए।
4. अशुद्धोच्चारण करने वाले अधम तथा शुद्धोच्चारण करने वाले उत्तम लोगों के लक्षणों को स्पष्ट कीजिए।
5. उच्चारण सम्बन्धी सामान्य अशुद्धियों का उल्लेख कर शुद्धोच्चारण सिखाने के उपायों का विवेचन कीजिए।

सहायक पुस्तकें

1. याज्ञवल्क्य शिक्षा ।
2. पाणिनीय शिक्षा ।
3. संस्कृत-शिक्षण—लेखक—डा० रामशकल पाण्डेय ।
4. भाषा-शिक्षण—लेखक—श्री विजय नारायण चौबे ।
5. संस्कृत-शिक्षण-विधि—लेखक—श्री रघुनाथ सफाया ।

अध्याय 9

लिखित रचना

'रचना' शब्द की व्युत्पत्ति 'रच' धातु से हुई है। इसका शाब्दिक अर्थ है सजाना, सँवारना, क्रमबद्ध करना, लिखना आदि। भावों को भलीभाँति सजाने और सँवारने को ही रचना कहते हैं। इसके द्वारा व्यक्ति अपने भावों को क्रमबद्ध कर, उसे अच्छी तरह सँवार कर किसी निश्चित उद्देश्य से दूसरों के समक्ष रखता है। रचना दो प्रकार की होती है—लिखित रचना और मौखिक रचना। मनुष्य में स्वभाव से ही रचना करने की प्रवृत्ति होती है। वह स्वभावतः कुछ कहना चाहता है, किन्तु जहाँ तक लिखने का प्रश्न है, यह स्वाभाविक नहीं है। वह तो आवश्यकतावश, परिस्थितिवश तथा लिखने की प्रवृत्तिवश होता है और इन्हीं से प्रेरित होकर मनुष्य अपनी लेखनी उठाता है।

रचना की व्युत्पत्ति एवं उसके भेद

बालक को पहले पढ़ना सिखाया जाय अथवा लिखना। इस विषय पर शिक्षाशास्त्रियों में मतैक्य नहीं है। इनके ये विचार रोमन लिपि के संबन्ध में हैं जिसमें लिखा कुछ जाता है, किन्तु पढ़ा कुछ जाता है। देव नागरी लिपि में यह बात नहीं है। इसमें तो जो कुछ लिखा जाता है वही पढ़ा जाता है। अतः इस लिपि को तो आरंभ से ही सिखाया ला सकता है। अतः लिखने और पढ़ने की क्रिया को एक साथ आरंभ करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं उत्पन्न हो सकती है। संस्कृत की मान्य लिपि तो देवनागरी लिपि ही है यद्यपि इसे लोग बंगला, गुजराती, तेलगु, कन्नड़, मलयालम् आदि लिपियों में भी लिखते हैं। विश्व के अधिकांश संस्कृत विद्वान संस्कृत को देवनागरी लिपि में ही लिखते हैं। इसके लिए इसी लिपि को अपनाना उचित भी है।

संस्कृत एवं देव-नागरी लिपि

रचना के उपर्युक्त दोनों अंगों का हमारे सामाजिक जीवन में बड़ा महत्त्व है। इसमें तो वही व्यक्ति अधिक सम्मानित होते हैं जो अच्छे वक्ता अथवा अच्छे

रचना के महत्त्व

लेखक होते हैं, किन्तु वक्ता का सम्मान उसके जीवन काल में ही होता है। उसकी मृत्यु के पश्चात् वह लोगों के स्मृतिपटल से ओझल होने लगता है और एक समय ऐसा आता है जब कि लोग उसे एक दम भूल जाते हैं। पर लेखक मर कर भी अमर है और वह सदैव जीवित रहता है तथा लोगों को प्रेरणा प्रदान करता रहता है। कविकुल गुरु कालिदास, भवभूति, बाणभट्ट आदि अपनी रचनाओं के ही कारण तो आज भी अमर हैं। मुद्रण यंत्रों के आविष्कार के पूर्व के संस्कृत-ग्रन्थों की हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ रचना के महत्त्व की प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इन पाण्डु-लिपियों के लेख, अक्षरों की बनावट, उनकी पारस्परिक दूरी, विभिन्न पृष्ठों की सजावट आदि देखते ही बनती है। इन्हें देखकर ऐसा अनुमान होता है कि इनके रचयिता लेखन-कला के पूर्ण मर्मज्ञ थे। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में भी लिखित रचना का कम महत्त्व नहीं है क्योंकि परीक्षा लिखित ही होती है और अंक भी लेख के ही आधार पर दिये जाते हैं। इस दृष्टि से लिखित रचना वर्तमान शिक्षा का एक विशिष्ट अंग है।

रचना का क्षेत्र

लिखित रचना का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इसमें अक्षर-विन्यास, शब्द प्रयोग, निबन्ध, पत्र, कहानी, गद्य, पद्य, नाटक आदि साहित्य के सभी अंग सम्मिलित हैं। इनकी रचना करने में विशेष प्रतिभा, सूझ-बूझ, अभ्यास आदि की आवश्यकता होती है। इसमें भावों को सुव्यवस्थित एवं क्रम विशेष से रखना पड़ता है जिससे वे पाठक को रुचिकर प्रतीत हों और उन्हें प्रभावित कर सकें। सुन्दर अक्षरों में लिखी हुई सामग्री की ओर तो मन स्वतः आकर्षित हो जाता है। अतः छात्रों को सुन्दर, शुद्ध तथा सुव्यवस्थित ढंग से लिखने की शिक्षा अवश्य देनी चाहिए।

लिखित रचना के उद्देश्य

छात्र लिखते समय अक्षरों को सुन्दर तथा ठीक ढंग से लिख सकें। अपने भावों को व्यक्त कर सकें, उनमें गति एवं औचित्य पूर्ण ढंग से संस्कृत लिखने की क्षमता उत्पन्न हो जाय, मातृभाषा से संस्कृत में तथा संस्कृत से मातृभाषा में अनुवाद करने की योग्यता आ जाय, संस्कृत अनुच्छेदों की अनुलिपि करने तथा श्रुतलेख लिखने की क्षमता आ जाय--यही सब संस्कृत में लिखित रचना के उद्देश्य हैं। स्वतंत्र आत्मप्रकाशन लिखित रचना का प्रधान उद्देश्य है। छात्र के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप से युक्त रचना को ही

स्वतंत्र रचना की संज्ञा दी जा सकती है। जब तक छात्र यह अनुभव नहीं करता है कि वह अपनी और नयी बात कर रहा है तब तक उसकी रचना को स्वतंत्र रचना नहीं कहा जा सकता है। यह तभी संभव हो सकता है जब विद्यार्थियों को उन्हीं विषयों पर लिखने को कहा जाय जिनसे वे परिचित हों और जिनमें वे रुचि रखते हों। उन्हें तो इस योग्य बनाना है जिससे वे अपने भावों को स्पष्ट, क्रमबद्ध और शुद्ध भाषा में लिख सकें। इसके लिए अध्यापक उनके शब्द-भाण्डार की वृद्धि तथा उनके सफल प्रयोग में सहायता प्रदान करें। वे प्रतिभा-सम्पन्न छात्रों की खोज करते रहें और उन्हें प्रोत्साहित करते रहें। इसके लिए अध्यापकों को केवल ऐसे ही विषयों पर लेख लिखाना चाहिए जिनसे उन छात्रों की विचार-शक्ति और निरीक्षण शक्ति का प्रस्फुटन हो सके। उनको आरम्भ में संस्कृत वाक्य-खण्डों, लोकोक्तियों सुभाषितों, उद्धरणों आदि का प्रयोग करने, लम्बे परिच्छेदों का सार लिखने, सरल अनुच्छेदों की टीका लिखने तथा वर्णनात्मक विषयों पर निबन्ध लिखने आदि के योग्य बनाना ही संस्कृत लिखित रचना का मुख्योद्देश्य है। जब वे इनमें दक्ष हो जायँ तब ऊँची कक्षाओं में स्वतंत्र आत्मप्रकाशन को प्रोत्साहित किया जाय।

लिखित रचना की उपेक्षा

वर्तमान काल में संस्कृत शिक्षण का इतना महत्त्वपूर्ण अंग बड़ा ही उपेक्षित है। छात्र और अध्यापक दोनों ही इससे घबराते हैं। इनकी अक्षर-रचना, वाक्य-रचना आदि को देखकर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। हाथ साध कर सावधानी के साथ लिखने का महत्त्व तो मानों यह जानते ही नहीं हैं। फलतः घसीट कर लिखना ही वे अपना लक्ष्य समझते हैं और ऊँची कक्षाओं तथा ऊँचे पदों पर भी पहुँच जाने पर रेफ, अनुस्वार, चन्द्रबिन्दु, शिरो-रेखाओं के प्रयोग आदि से अनभिज्ञ रह जाते हैं। विराम-चिह्न तो मानों इनके लिए बने ही नहीं हैं। अनुच्छेद-रचना के प्रति भी ये उदासीन रहते हैं।

लिखने से सम्बद्ध विशिष्ट बातें

लिखना व्यक्तिगत कार्य है न कि सामूहिक। प्रत्येक छात्र की अपनी निजी योग्यता होती है। अतः प्रत्येक छात्र की इस योग्यता को विकसित करने के लिए व्यक्तिगत रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। कार्य की कठिनता तथा व्यवहार की कठोरता के कारण बालक लिखने के कार्य से घबराने लगते हैं। फलतः अपनी कृति को देखने से उत्पन्न उनके सहज आनन्द का धीरे-धीरे लोप हो जाता है। शिक्षक को उनके इस आनन्द को बनाये रखने

की सतत चेष्टा करनी चाहिए। यद्यपि संस्कृत आरम्भ करने वाले छात्र हिन्दी रचना का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त किये होते हैं, फिर भी लिखते समय उनके बैठने, कलम पकड़ने, उचित मात्रा में स्याही लेने, अक्षरों को ठीक-ठीक ढंग से बनाने, मात्रा लगाने, रेफ, अनुस्वार, चन्द्रविन्दु आदि का उचित प्रयोग करने पर विशेष बल दिया जाय। लिखने के लिए नरकुल या 'क्लिच' की कलम काम में लायी जाय। इसकी कत से पाँच-पाँच कत की दूरी पर खींची हुई दो समानान्तर रेखाओं के बीच लिखने से अक्षर सुडौल बन सकते हैं। इसके लिए सुलेख पुस्तिकाओं का भी प्रयोग किया जा सकता है। आरम्भ में यह कार्य पटरी पर कराया जाय किन्तु इसका आरम्भ करने के पूर्व अक्षरों और मात्राओं के आकार से बच्चों को भली-भाँति परिचित करा दिया जाय। इसके लिए बच्चों से मिट्टी या बालू पर उँगली से अक्षर बनवाये जायँ अथवा रेगमाल तथा दफ्ती के कटे हुए अक्षरों पर उनसे हाथ फेरवाया जाय। उनसे पूनियों और बीजों की सहायता से तख्तों पर भी अक्षर बनवाये जायँ। प्रारम्भ में उँगलियों को साधने के लिए सीधी लकीर, पड़ी लकीर, गोल अथवा अर्द्धगोल आकार बनवाने का अभ्यास करवाया जाय। इस तरह खड़ी पाई, सीधी पड़ी पाई, गोली पाई आदि बनाने, अक्षरों तथा मात्राओं के पहचानने तथा उन्हें पटरी पर लिखने का पूर्ण अभ्यास हो जाने पर ही उनसे कागज पर लिखाया जाय।

इस संबन्ध में गाँधी जी की इस उक्ति को कि सुन्दर लेख शिक्षा का आवश्यक अंग है, सदैव स्मरण रखना चाहिए। इनकी राय में बच्चों को लेख लिखने से पूर्व चित्रकला सीखनी चाहिए। जिस प्रकार बच्चा ध्यानपूर्वक पक्षी, फल, फूल इत्यादि वस्तुएँ देखता है, उसी प्रकार उसे अक्षरों को भी देखना चाहिए और जब वह वस्तुओं का चित्र खींचना सीख ले तभी लिखना सिखाना चाहिए और तभी वह सुन्दर लेख सीख सकेगा—

कलम पकड़ने तथा बैठने का ढंग

लिखते समय कलम पकड़ने और सही ढंग से बैठने की ओर विशेष ध्यान दिया जाय। कलम को दाहिने हाथ के अंगूठे और तर्जनी तथा मध्यमा के बीच रखकर उनके अन्तिम पोरों से इस प्रकार पकड़ा जाय जिससे न तो इस पर बल पड़े और न तो कलम ही हाथ से छूटे। उसे पकड़ने में अनामिका और कनिष्ठिका क्रमशः अपने-अपने स्थान से मध्यमा की सहायता करें। इस तरह कलम पकड़ कर बायें घुटने को मोड़कर इस प्रकार

बैठा जाय कि रीढ़ की हड्डी एक सीधी रेखा में हो और दाहिना पैर आगे मुड़ कर शरीर से 45° का कोण बनाये। दाहिनी जाँघ पर पटरी पर या किसी कड़ी दफ्ती अथवा ऐसी ही किसी अन्यवस्तु पर सुलेख-पुस्तिका रखकर उस पर लिखा जाय। लिखते समय दावात दाहिनी ओर तथा पुस्तक सामने बायें घुटने से थोड़ी दूर पर रहे। दावात से आवश्यकतानुसार खरिया अथवा स्याही लेकर लिखना प्रारम्भ किया जाय। कम खरिया या स्याही होने पर लिखने में कठिनाई होती है और अक्षर भी सुन्दर नहीं बन पाते। इनके अधिक होने पर भी यही दशा होती है। लड़के इन्हें छिड़क देते हैं जिससे विद्यालय का फर्श अथवा उसकी दीवार गन्दी हो जाती है। ऐसा करना अनुचित है। प्रारम्भिक अवस्था में छात्रों को लिखने के लिए फाउण्टेन पेन का प्रयोग करने से रोका जाय। इससे लिखने से अक्षर सुन्दर नहीं बनते हैं।

लिखते समय ध्यान देने योग्य बातें

पटरी अथवा कागज पर लिखित और अलिखित स्थान उपयुक्त मात्रा में हो। बायीं ओर हाशिया सबसे अधिक, उससे थोड़ा कम ऊपर और उससे भी थोड़ा कम नीचे छोड़ा जाय। अक्षरों के बीच का क्षेत्रफल बराबर हो। शब्दों के बीच का अन्तर अक्षरों के बीच के अन्तर से दूना और पंक्तियों के बीच का अन्तर उससे भी दूना हो। विराम चिह्नों के प्रयोग का भी अभ्यास कराया जाय। पूर्ण विराम के पश्चात् एक अक्षर लिखने में जितना स्थान घिरता हो, उतना स्थान छोड़ दिया जाय। जिन शब्दों में समास हों, उन्हें मिलाकर लिखा जाय अथवा उनके बीच हाइफन का प्रयोग कर दिया जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि लिखने में सभी लिपि चिह्नों, यथा मात्राओं, शिरोरेखाओं, अनुस्वार, चन्द्र विन्दु विरामादि का यथास्थान प्रयोग अवश्य किया जाय। एक वर्णनीय बात एक ही अनुच्छेद में लिखी जाय। इससे भिन्न बात दूसरे अनुच्छेद में लिखी जाय। प्रत्येक अनुच्छेद तीन अक्षरों का स्थान छोड़कर प्रारम्भ किया जाय। अनुच्छेद विभाजन के निमित्त प्रस्तावित विषय की रूपरेखा तैयार कर ली जाय और उसे इसमें उल्लिखित शीर्षकों की संख्या के आधार पर उतने ही अनुच्छेदों में विभक्त कर लिया जाय। शिक्षक रूप-रेखा बनाने की कला सिखायें। लड़कों पर बाहर से रूप-रेखा न लादी जाय। कक्षा के सभी बालकों की एक ही रूप-रेखा नहीं हो सकती।

भाषा, भाव एवं अर्थ का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। भाषा भावों की अनुगामिनी होती है और भाव तथा अर्थ भाषा का अनुसरण करते हैं। इसलिए

भावानुकूल ही भाषा का प्रयोग किया जाय। इसके अभाव में व्यतिरेक उत्पन्न हो सकता है। जो बात लिखी जाय उससे कोई विरोधी अर्थ न निकले। कभी-कभी अज्ञता, शीघ्रता अथवा भ्रम के कारण लोग लिखते तो वही हैं जो उनके भाव होते हैं, पर पढ़ने पर उसका दूसरा ही भाव निकलने लगता है। अतः लिखते समय पूर्ण सतर्कता बरती जाय और भाषा की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया जाय। लम्बे-लम्बे वाक्यों के प्रयोग से भी रचना सम्बन्धी दोष उत्पन्न हो जाते हैं। अतः छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग किया जाय जो व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध हों और जिनके भाव स्पष्ट हों।

लिखित कार्य का पाठ्य-पुस्तक और मौखिक कार्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। पाठ्य-पुस्तक में पढ़ी हुई तथा मौखिक रचना में व्यवस्थित सामग्री का उपयोग लिखित कार्य में करने से समय और श्रम दोनों की बचत होती है। विषय-ज्ञान की कठिनाई दूर होती है तथा आवश्यक शब्दों, प्रयोगों एवं वाक्यांशों के प्रयोग का अभ्यास भी हो जाता है। पाठ्य-पुस्तक पढ़ाते तथा मौखिक रचना कराते समय उच्चारण की अशुद्धियों पर ध्यान देने से वर्तिनी सम्बन्धी अशुद्धियों के होने की बहुत ही कम संभावना रह जाती है क्योंकि लड़के प्रायः जो पढ़ते या बोलते हैं, वही लिखते भी हैं।

सम्पूर्ण कक्षा के लिए एक ही प्रकार का लेख देने की आवश्यकता नहीं है। देश-काल तथा छात्रों की रुचि के ही अनुसार लेख दिये जायँ। अभ्यास ऐसे हों जो रुचिकर हों और जो बालकों का ध्यान स्वतः आकर्षित कर लें। बालकों की रुचि का ज्ञान हो जाने पर विषय का अभाव नहीं हो सकता। एक ही विषय पर विभिन्न दृष्टिकोणों से भी लेख लिखाया जा सकता है, जैसे आग लगने के दृश्य पर दर्शक के रूप में, आग बुझाने वालों के रूप में और जिसके यहाँ आग लगी हो उसके रूप में, विभिन्न प्रकार से लेख लिखाया जा सकता है।

मौलिकता

मौलिकता स्वतंत्र रचना का मुख्य लक्ष्य है। अतः इसकी शिक्षा प्रारम्भ से ही दी जाय। इसके लिए बालक को स्वतः सक्रिय होने की आवश्यकता है। वह प्रस्तावित विषय पर सामग्री संचित करे और शिक्षक इस कार्य में उसकी सहायता करे। वह उसे उन पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं आदि को बताये जिन्हें पढ़कर बालक आवश्यक सामग्री प्राप्त कर लें। वे इन्हें पढ़े, आवश्यक नोट तैयार करें और इसके आधार पर अपने अनुकूल रूपरेखा स्वयं तैयार करें। अध्यापक आदर्श

लेख पढ़कर सुनायें। छात्र उसे सुनकर मोटी-मोटी बातें नोट करें और उनके आधार पर लेख लिखें। सुनी हुई बात को सूत्र रूप में नोट कर लेने की आदत आरम्भ से ही डाली जाय। यही सूत्र अनुच्छेदों के शीर्षक बन सकते हैं। इस योजना से मौलिक लेख लिखने के अतिरिक्त हर विषय से सम्बद्ध व्याख्यानों को नोट करने में भी सुविधा मिल सकती है।

स्वाध्याय आवश्यक

लिखने के लिए अधिक से अधिक पढ़ने की आवश्यकता होती है। पढ़ने से नवीन भाव और नवीन शब्द दोनों की प्राप्ति होती है। स्वाध्याय एवं व्यापक अध्ययन के बिना अच्छा लेखक बनना कठिन है। इसीलिए हमारे महर्षियों ने "स्वाध्यायात् मा प्रमद" का उपदेश दिया था और "शास्त्र सुचिन्तित पुनि-पुनि देखी" के सिद्धान्त को अपनाने पर बल दिया था—इसी प्रसंग में इन लोगों ने "अनभ्यासे, विषं विद्या" की बात भी कही थी। प्रसिद्ध शिक्षाविद् वैलर्ड ने भी इसका समर्थन किया है। उन्होंने लिखा है कि उनको स्वाध्याय में रत तथा व्यापक अध्ययन करने वाले बालक ही अच्छे लेखक मिले। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर शिक्षक को बालकों में विभिन्न प्रकार की पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों, विवरणों आदि के पढ़ने की आदत डालनी चाहिए जिससे वे इन्हें पढ़कर आवश्यक सामग्री स्वयं प्राप्त कर लें; किन्तु वे इस बात का अवश्य ध्यान रखें कि लिखते समय ये वस्तुएँ उनके समक्ष न रहें। पढने और लिखने में कुछ समय का अन्तर अवश्य हो।

शैली

शैली भी मौलिकता का एक विशिष्ट अंग है। अतः इसके विकास एवं अध्ययन के लिए बालकों से विभिन्न प्रकार के लेखों का विश्लेषण कराया जाय जिससे वे प्रस्तावना, विषय के विभिन्न अंगों, उपसंहार आदि के सापेक्षिक सम्बन्धों से अवगत हो जायँ और इस तरह धीरे-धीरे अपनी एक शैली बना लें। शैली-विकास के लिए वाक्य-विन्यास और शब्द-चयन का अध्ययन भी आवश्यक है। इससे बालकों को ज्ञात हो जायगा कि प्रत्येक नयी बात नये अनुच्छेद से आरम्भ होनी चाहिए और जिस प्रकार देहरी के दीपक का प्रकाश बाहर और भीतर दोनों ओर होता है, उसी प्रकार प्रत्येक अनुच्छेद के प्रारम्भिक वाक्य का संबन्ध पूर्वापर दोनों अनुच्छेदों से होता है। इस प्रकार की रचना का अभ्यास उच्च कक्षाओं में ही किया जाय।

लिखना सिखाने का कार्य क्रमिक होना चाहिए। प्रारम्भिक कक्षाओं में अनुलेख तथा श्रुतलेख लिखाना बड़ा ही उपयोगी है। जहाँ तक अनुलेख का प्रश्न है, पुस्तक को देखकर अक्षरशः अपनी अभ्यास-पुस्तिका पर लिखना रचना संबन्धी प्रारम्भिक क्रियाओं को सिखाने का सर्वोत्तम उपाय है। इससे शब्दों को शुद्ध-शुद्ध लिखने, विराम चिह्नों को लगाने, विषय को अनुच्छेदों में विभक्त करने आदि के अभ्यास का सुअवसर मिल जाता है। लिखते समय अध्यापक बालकों की सहायता करें और जहाँ कहीं वे अक्षरों की बनावट, विरामादि चिह्नों के लगाने आदि में त्रुटि करें, उसे सुधारें। अध्यापक इस बात पर भी ध्यान दें कि बालक एक-एक अक्षर को देखकर न लिखें अपितु सम्पूर्ण शब्द को एक ही बार देखकर लिखने का अभ्यास करें। ऐसा करने से वे धीरे-धीरे शुद्ध-शुद्ध लिखने में अभ्यस्त हो जायेंगे। किसी व्यक्ति के कथन को अपने शब्दों में लिखना, काल परिवर्तित कर लिखना, यथास्थान विशेषणों अथवा क्रिया-विशेषणों का प्रयोग करते हुए लिखना, कुछ शब्दों के स्थान पर एक ही शब्द का प्रयोग कर लिखना आदि अनुलेख के कुछ परिवर्तित स्वरूप हैं। छात्र जो अंश अनुलेख के लिए चुनें, वे भाषा एवं भाव की दृष्टि से उपयुक्त हों। इस प्रकार के अनुलेख कक्षा 8 तक लिखाये जायँ।

अनुलेख

बोली हुई बात को सुनकर समझना और समझ कर शुद्ध-शुद्ध तथा तेजी से लिखने की योग्यता प्राप्त करना श्रुतलेख का एक मात्र उद्देश्य है। बोधगम्यता, शुद्धता एवं शीघ्रता के साथ लिखना ही श्रुतलेख के तीन प्रयोजन हैं। इसमें एक व्यक्ति वांछित अंश को बोलता जाता है और छात्र उसे सुनकर अपनी अभ्यास-पुस्तिका पर लिखते जाते हैं। जिन अंशों में अनेक अपरिचित और कठिन शब्द हों, उनको श्रुतलेख के लिए चुनने से लाभ की अपेक्षा हानि होती है क्योंकि इससे अशुद्ध लिखने का अभ्यास पड़ जाता है। अच्छे और कक्षा के स्तर के अनुकूल अंश चुनने से भाषा-प्रयोग सीखने का सुन्दर अवसर मिलता है और उसका अभ्यास होता चलता है। जब तक छात्र अनुलेख लिखने में निपुण न हो जायँ, तब तक श्रुतलेख न लिखाया जाय। श्रुतलेख के लिए चुने हुए संपूर्ण अंश को पहले एक बार पढ़कर छात्रों को सुना दिया जाय। तदनन्तर उनके ध्यान को एकाग्र करने के निमित्त उसे धीरे-धीरे इस प्रकार बोला जाय कि सार्थक और सहचर शब्द एक साथ आ जायँ और उन्हें उसे समझने में कठिनाई न हो, जैसे 'पृथ्वीराजे। दिवंगते। श्रीजयचन्द्रेण। वर्द्धापनकानि। आरब्धानि।'

श्रुतलेख

इन उप अंशों को केवल एक ही बार बोला जाय। इस प्रकार बोल लेने के पश्चात् संपूर्ण अंश को पुनः पढ़ दिया जाय। इस बार पढ़ने के पश्चात् छात्रों को अपनी भूल सुधारने का अवसर दिया जाय क्योंकि अपने आप अपनी भूल सुधारने का अच्छा परिणाम होता है। अतः पहले पढ़ना, फिर उसे धीरे-धीरे पढ़कर बोलना और अन्त में फिर पढ़कर सुनाना अत्यन्त आवश्यक है। पहली बार पढ़ने के पूर्व कठिन शब्दों को श्यामपट्ट पर लिखकर आवश्यकतानुसार उसका अर्थ भी बता दिया जाय, किन्तु जिस समय छात्र लिख रहे हों, उस समय उन्हें किसी भी प्रकार की सहायता न दी जाय। इस प्रकार श्रुतलेख लिखने से बालकों में स्वावलंबन की भावना जागरित होती है और वे अपनी अशुद्धियों के प्रति जागरूक रहते हैं।

श्रुतलेख संशोधन

जहाँ तक श्रुतलेख के संशोधन का प्रश्न है, इसे यदि छात्र स्वतः करें तो सर्वोत्तम है। वे इस अंश को अपनी पुस्तक से देख कर अपने लेख की तुलना करें और उसकी अशुद्धियों को ठीक करें। इससे उनका स्वाभिमान जाग उठेगा और वे इस बात का यत्न करेंगे कि भविष्य में उनसे इस प्रकार की अशुद्धियाँ न हों। कभी-कभी परस्पर इन अभ्यास पुस्तिकाओं को बदल कर वे एक दूसरे की अशुद्धियाँ ठीक करें। इससे प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न होती है और भविष्य में कम से कम अशुद्धियाँ होने का अवसर मिलता है। ऐसा करने से शिक्षक का संशोधन-कार्य सुविधाजनक हो जाता है और रचना के उद्देश्य की पूर्ति भी हो जाती है।

चित्रों के आधार पर लिखित रचना

जैसा कि पीछे इस बात का उल्लेख किया गया है कि लिखित रचना का मौखिक रचना से घनिष्ठ संबन्ध है। मौखिक रचना के आधार पर किये गये लिखित रचना के कार्य बड़े ही सरल और रुचिकर होते हैं और इसमें अशुद्धियाँ भी कम होती हैं। अतः प्राथमिक अवस्था में 'डाइरेक्ट मेथड' के आधार पर शिक्षक छात्रों के वातावरण से संबद्ध कतिपय वस्तुओं का चयन कर उनके चित्रों की एक-एक करके छात्रों के समक्ष प्रस्तुत कर उनसे प्रश्न पूछ कर मौखिक कार्य कराये (जैसा कि 'मौखिक रचना' वाले पाठ में उल्लिखित है) और तदनन्तर उनसे लिखित कार्य कराये, यथा, विद्यालय जाते हुए बालक का चित्र उपस्थित कर शिक्षक उनसे प्रश्न पूछे, "अयम् कः ? अयम् किम् करोति ? अयम् कुत्र गच्छति ? जब छात्र उसके इन प्रश्नों का समुचित उत्तर दे लें और

वह सन्तुष्ट हो जाय कि छात्र अब इससे संबद्ध सभी प्रकार के उत्तरों से भली-भाँति अवगत हो गये हैं तब वह उन्हें इसके संबन्ध में लिखने का आदेश दे और तब छात्र लिखें "अयम् रमेशः। अयम् गच्छति। अयम् पाठशालां गच्छति आदि।" इस तरह के अन्य अभ्यासों का स्वरूप निम्नलिखित ढंग का होना चाहिए—

(1) चित्रों के आधार पर रिक्त स्थानों की पूर्ति, यथा एषः (पक्षी का चित्र) अस्ति (खगः); तत्र (हरिण का चित्र) चरति (मृगः), तत्र (मयूर का चित्र) नृत्यति (मयूरः)। छात्रों को आदेश दे दिया जाय कि वे इन चित्रों को देखें और उनके स्थान पर कोष्ठ में दिए हुए शब्दों का प्रयोग कर वाक्य को पूरा करें। ऐसा कराने के पूर्व उनके समक्ष ऐसे ही उदाहरण प्रस्तुत कर उन्हें भलीभाँति समझा दिया जाय।

(2) चित्रों के आधार पर छात्रों से प्रश्न पूछ कर उनसे उन चित्रों के विषय में कुछ वाक्य लिखवाना, यथा घास चरते हुए मृग का चित्र उपस्थित कर अध्यापक निम्नलिखित प्रश्न पूछे और फिर छात्रों से उनके उत्तरों को अपनी अभ्यास-पुस्तिका पर लिखने को कहे—

अयम् कः ? अयम् मृगः।
मृगः किं करोति ? मृगः चरति।
मृगः कुत्र चरति ? मृगः वने चरति।

(3) कहानी भी रचना-अभ्यास का एक प्रमुख अंग है। इसके आधार पर रचना कराना बड़ा ही रुचिकर कार्य समझा जाता है क्योंकि बालक स्वभाव से ही कहानी प्रिय होते हैं। पहले कहानी को अच्छी तरह से कह दिया जाय और लड़कों से उसे कहला दिया जाय। जब इस प्रकार बालक कहानी के प्रसंग, पात्र, वस्तुविषय, शब्दावली आदि से परिचित हो जायँ तो उनसे इस कहानी को लिखने के लिए कहा जाय।

(4) कभी-कभी कहानी कह कर तथा छात्रों से उसे कहलवा कर उसमें प्रयुक्त शब्दों के आधार पर उन्हें कहानी लिखने का आदेश दिया जाय। जैसे 'शेर और चूहे' की कहानी को उसमें प्रयुक्त निम्नलिखित शब्दों के आधार पर पूरी कहानी लिखायी जा सकती है—

एकदा, एकस्मिन्, सिंहः, कस्यचित्, अस्वपत्, मूषकाः, शरीरे, अनृत्यम्, प्रबुद्धः, धृत्वा, उद्यतः, राजा, क्षुद्रजन्तुः क्षमस्व, साहाय्यम्, गच्छता कालेन,

व्याधः, प्रासारयत्, जालम्, पतितः, मोचयामि, अलं भयेन, दशनैः, अकृन्तत्। कृतज्ञः।

(5) छात्र चित्र प्रिय भी होते हैं। यदि इन कहानियों की प्रमुख घटनाओं को विभिन्न चित्रों द्वारा प्रदर्शित कर एक-एक करके उनके समक्ष प्रस्तुत किया जाय, उन पर उनसे प्रश्न पूछा जाय और तदनन्तर पूरी कहानी उन्हीं से कहलवाकर उसे लिखने को कहा जाय तो लिखने का कार्य और भी सरल हो जायगा।

(6) कभी-कभी इन कहानियों को कह कर एतत्सम्बन्धी चित्र छात्रों के समक्ष प्रस्तुत किये जायँ और उनसे इनके आधार पर पूरी कहानी लिखने के लिए कहा जाय।

(7) कक्षा-स्तर के अनुकूल कहानी को संवादात्मक रूप भी दिया जा सकता है और छात्रों को सुनी या पढ़ी हुई कहानी को संवाद रूप में लिखने के लिए कहा जा सकता है।

(8) कहानी को विभिन्न पुरुषों में लिखना लिखित रचना का एक सुन्दर अभ्यास है। इसके लिए कल्पना की आवश्यकता पड़ती है। छात्र को अपने को कहानी में आए हुए पात्रों में से एक पात्र मान कर कहानी लिखनी पड़ती है, यथा उपरिवर्णित कहानी को छात्रों को अपने को सिंह अथवा मूषक (चूहा) मान कर उत्तम पुरुष में लिखने को आदेश दिया जा सकता है। लड़का इसे इस प्रकार आरम्भ कर सकता है—एकदा ग्रीष्मे चण्डेनातपेन तापितोऽहं कस्यचित् वृक्षस्य शीतलायां छायायां सुखेनास्वपम्। तथा इस तरह वह पूरी कहानी लिख सकता है।

(9) पद्यबद्ध कहानी को गद्य में लिखने के लिए कहा जा सकता है, यथा "संस्कृत परिचय" नामक पुस्तक में उल्लिखित 'शिविराजोपाख्यानम्' नामक कहानी को इस प्रकार लिखाया जा सकता है—

उशीनरेषु शिविर्नाम एकः धार्मिकः, करुणापरः, दाता, धीरश्च राजाऽभूत्.....।

(10) चाहे कहानी गद्य में हो अथवा पद्य में, उन्हें सुना कर उन पर छोटे-छोटे प्रश्न दे दिये जायँ और छात्रों से उनका उत्तर लिखने को कहा जाय, यथा, उपरिवर्णित कहानी को सुना कर निम्नलिखित प्रश्न पूछे जा सकते हैं और उनका उत्तर लिखने को कहा जा सकता है—

1— यदा भीतः कपोतः शिवेरंकं समाश्रयत्, तदा श्येनः राजानं किमब्रवीत् ?

2—तदनन्तरं शिविः श्येनं किम् अब्रवीत् ? इत्यादि

(11) ऊँची कक्षाओं के छात्रों से कहानी में आये हुए पात्रों का चरित्र-चित्रण करने अथवा कहानी की आलोचना तथा उसका सार लिखने के लिए कहा जा सकता है। एक ही लेखक अथवा विभिन्न लेखकों की दो कहानियों की आपस में तुलना भी करायी जा सकती है।

(12) इसके अतिरिक्त कक्षा के स्तर के अनुकूल शब्दों एवं मुहाविरों का चयन कर उन्हें स्वरचित वाक्यों में प्रयोग करने का अभ्यास कराना, यथा, सुधांशुः, अभिनन्दन, प्रणम्य, एकदा, दीर्घसूत्रता, कृत्वा, शनैः शनैः।

(13) दिये हुए शब्दों का विपरीतार्थक शब्द लिखवाना, यथा, अल्पः, अपावनः, अग्रजः, आसन्नम्, अनुरक्तिः, आस्तिकः, अमृतम्, उदयः आदि।

(14) निम्नलिखित वाक्यों में रिक्त स्थानों में कोष्ठ में दिये हुए शब्दों को यथोचित विभक्तियों में प्रयोग करो—

रामः—गच्छति (वन); सः—पश्यति (गिरि); वयं—क्रीडामः (कन्दुक); यमुना—सह मिलति (गंगा); नरेशः—काणः (नेत्र); राजा—वस्त्रं ददाति (पंडित); ते—अन्नं ददति (वृद्ध);—पतिः (तारक); फलानि—पतन्ति (वृक्ष)

(15) पुरुष, वचन और लकार परिवर्तित करा कर वाक्य रचना करायी जा सकती है, यथा,

"मोहनः भिक्षुकाय वस्त्रं ददाति" वाले वाक्य में 'मोहनः' के स्थान पर त्वं, युवाम्, यूयम्, अहम्, आवाम्, वयम् आदि का, भिक्षुकाय के स्थान पर भिक्षुकाभ्याम्, भिक्षुकेभ्यः, अथवा किसी अन्य शब्द का, तथा 'ददाति' के स्थान पर इसी क्रिया के किसी अन्य लकार के रूपों का प्रयोग कर वाक्य रचना करायी जा सकती है।

(16) कर्त्ता, कर्म तथा क्रिया को तीन अलग-अलग स्तम्भों में असंगत ढंग से लिख कर उनमें परस्पर संगत ढंग से सम्बन्ध स्थापित कराकर वाक्य रचना सम्बन्धी अभ्यास दिये जा सकते हैं, यथा,

अध्यापकः	बीजम्	वपति
नृपः	चौरान्	लिखति
कृषकः	पत्रम्	दण्डयति

(17) अपूर्ण वाक्यों को पूर्ण करा कर लिखाने का कार्य दिया जा सकता है, यथा,

क—राजा दरिद्राय धनम्.....।

ख —.....कार्याणि सिध्यन्ति ।

ग—सत्यं—प्रियं—न ब्रूयात्.....।

घ—रमते न मरालस्य.....मानसं विना ।

(18) विभिन्न कारकों से सम्बद्ध नियमों के आधार पर वाक्य रचना के के अभ्यास दिये जा सकते हैं और उनका अनुवाद कराया जा सकता है।

यथा, राम बकरी का दूध दुहता है ।
बन्दर वृक्ष पर चढ़ता है ।
वह आँख से काना है ।
शिव ने अर्जुन को अस्त्र दिया ।
कृष्ण को मक्खन अच्छा लगता है ।
अनुवाद पद्धति की चर्चा अध्याय 6 में विस्तार के साथ की गयी है ।

(19) सरल श्लोकों का अन्वय करना ।

(20) लम्बे गद्य खण्डों का सारांश लिखना ।

(21) विभिन्न प्रकार के पत्र लिखना ।

(22) विभिन्न विषयों पर निबन्ध लिखना ।

लिखने का पर्याप्त अभ्यास न होने के कारण छात्र लिखने में बड़ी भयानक भूलें कर डालते हैं, जिनके फलस्वरूप उनके लेखों में अनेक अशुद्धियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । उनकी सबसे बड़ी भूल अक्षर-विन्यास की होती है। इसका प्रमुख कारण उनका अशुद्धोच्चारण है यथा,

1. उ और ऊ की मात्रा संबन्धी अशुद्धियाँ जैसे पुजा, दयालू, कृपालू, शुन्य, शुद्र आदि ।

2. इ और ई की मात्रा संबन्धी अशुद्धियाँ जैसे परिच्छा, प्रदर्शिनी इती, तिथि, कवी, पूजनिय, परीश्रम आदि ।

3. ऋ, र् तथा अर् संबन्धी अशुद्धियाँ, जैसे, क्रिया, त्रितीयः, व्रतांत; प्रकृतिः, अनुग्रहीतः, परियाप्तम् आदि ।

4. ब और व संबन्धी अशुद्धियाँ, जैसे, वर्षा, बेश, विवरण विस्तृत, वस्तु आदि ।

5. स, ष, और श संबन्धी अशुद्धियाँ, जैसे, प्रशादः शेशः, सासकः, विसयः, संतोशः, दोशः, निश्फलम् आदि ।

6. न और ण संबन्धी अशुद्धियाँ, जैसे, सर्वणाम्, अर्चणा, शरनम्, कारनम्, साधारनम् आदि ।

7. छ और क्ष संबन्धी अशुद्धियाँ, जैसे, इक्षा, क्षाल, छमा, स्वक्ष, आदि ।

8. वर्ण-विपर्यय संबन्धी अशुद्धियाँ जैसे, ब्रम्हा, ब्राह्मण, चिन्ह, प्रल्हाद, विव्हल आदि ।

9. अल्पप्राण तथा महाप्राण संबन्धी अशुद्धियाँ, जैसे अव्यासः, कष्ठम्, रामा व्याभाम्, जधाम, द्यानम् आदि ।

10. विभिन्न शब्दों के सादृश्य के आधार पर की जाने वाली अशुद्धियाँ, जैसे, दोषी के आधार पर निर्दोषी, सन्मार्ग के आधार पर सन्मुख आदि ।

11. एक से शब्दों के अन्तर का ज्ञान न होने के कारण उनके प्रयोग में की जाने वाली अशुद्धियाँ, जैसे, अनल के स्थान पर अनिल, प्रमाण के स्थान पर प्रणाम, परिमाण के स्थान पर परिणाम आदि ।

12. शुद्ध-शुद्ध सन्धि न करने के कारण उनमें उत्पन्न अशुद्धियाँ, जैसे, महानात्मा उपरोक्तः, निरसः, जगतमालम् आदि ।

13. अशुद्ध समास संबन्धी अशुद्धियाँ, यथा, पंचरात्रः, सुखदुखम् आदि ।

14. अशुद्ध तद्धित संबन्धी अशुद्धियाँ, यथा, कोशलम्, व्यवहारिकम्, एतिहासिकम् आदि ।

अशुद्धियों को दूर करने के उपाय

उपर्युक्त अशुद्धियों को ठीक करने के निमित्त अध्यापक प्रत्येक छात्र की व्यक्तिगत कठिनाइयों को समझ कर उनको दूर करने का यत्न करे। यदि उनके लिखने और उच्चारण करने में विभिन्नता है तो उनमें साम्य स्थापित करे क्योंकि संस्कृत भाषा में जो कुछ उच्चारण किया जाता है वही लिखा भी जाता है। इस प्रकार उच्चरित ध्वनि के अनुसार लिखने का अभ्यास कराया जाय। ध्वनि और अक्षर विन्यास में सामञ्जस्य स्थापित किया जाय।

ध्वनि, अर्थ तथा वर्तनी में सीधा सम्बन्ध स्थापित होने पर लिखने में अशुद्धि नहीं हो सकती है। साधारणतया अशुद्ध लिखे जाने वाले शब्दों पर विशेष ध्यान दिया जाय और छात्रों को उन्हें शुद्ध-शुद्ध लिखने के प्रति सावधान कर दिया जाय। ऐसे शब्दों की एक तालिका बना ली जाय और छात्रों को उनके संबन्ध में की जाने वाली अशुद्धियों से अवगत करा दिया जाय। ऐसा करने से अध्यापक का संशोधन-कार्य सरल हो जाता है और वह व्यर्थ का श्रम करने से बच जाता है। इसके लिए शुद्ध-शुद्ध उच्चारण करने, शुद्ध-शुद्ध सुनने, शुद्ध-शुद्ध देखने तथा इनके अनुसार शुद्ध-शुद्ध लिखने का अभ्यास कराया जाय। यह एक चतुर्मुखी प्रक्रिया है। आजकल आकाशवाणी के माध्यम से जो संस्कृत-शिक्षण-योजना प्रचलित है, उसका मुख्य उद्देश्य यही है कि छात्र इसके माध्यम से शुद्ध-शुद्ध शब्द उच्चरित शब्दों को सुने, तदनुकूल अपने उच्चारण को ठीक करें, तद्वत् अपनी पाठ्यपुस्तक को पढ़े तथा तद्वत् लिखें भी। इस तरह छात्रों के स्वर यंत्रों (जिह्वा आदि), कर्णों, नेत्रों तथा हाथों को भलीभाँति प्रशिक्षित कर दिया जाय जिससे वे शुद्ध-शुद्ध बोलें, सुनें, देखें तथा लिखें। लिखने की कड़ी तो इस लड़ी की अन्तिम कड़ी है जिसे इसमें सुगुम्फित करने के पूर्व प्रथम तीन कड़ियों को सुधारना आवश्यक है। इसके लिए विभिन्न उपकरणों यथा चल चित्रों, रेडियो, टेलीविजन, ग्रामोफोन, टेपरिकार्डरों आदि का शुद्ध-शुद्ध उच्चारण करने, सुनने तथा सूक्ष्म दृष्टि से देखने का अभ्यास कराने के निमित्त प्रयोग किया जाय। श्यामपट्ट का तो अवसरानुकूल खूब प्रयोग किया जाय। इस पर शब्दों को शुद्ध-शुद्ध लिख कर उनके लिखाने का अभ्यास कराया जाय। वर्तनी चार्टों, संयुक्ताक्षर-चार्टों, ध्वनि वर्गीकरण तालिकाओं आदि को दिखाया जाय। इनके अनुकूल शब्दों को लिखने का आदेश दिया जाय। लिखने के निरन्तर अभ्यास से ही इस कला में पूर्णता आती है। इसके लिए श्रुत लेख तथा अनुलेख लिखने का खूब अभ्यास कराया जाय। इसके अतिरिक्त छात्रों से अन्त्याक्षरी के माध्यम से भी शब्दों की शुद्ध वर्तनी का ज्ञान कराया जाय। कोई एक छात्र एक अक्षर कहे, दूसरा दूसरा तथा तीसरा तीसरा। जिससे एक सार्थक शब्द बन जाय। इस प्रकार खेल-खेल में ही छात्र बहुत से नये शब्द सीख सकते हैं, उन्हें उनकी शुद्ध वर्तनी का ज्ञान हो जाता है और उनके शब्द भाण्डार में एक नया शब्द और जुड़ जाता है। कभी-कभी अध्यापक कठिन शब्दों को श्यामपट्ट पर लिख दें और उनका सूक्ष्म निरीक्षण करने के निमित्त छात्रों को कुछ समय देकर उन्हें मिटा दें। इसके पश्चात् उन्हें उन शब्दों को

लिखने का आदेश दें। किसी एक शब्द के आधार पर उनसे अधिक से अधिक शब्द तैयार करने का आदेश दिया जाय, यथा भव शब्द से विभव, पराभव, अनुभव आदि शब्द तैयार कराये जायँ। अशुद्ध शब्दों को देकर उन्हें शुद्ध-शुद्ध लिखने का आदेश दिया जाय। कभी-कभी विभिन्न शब्द समूहों में से प्रत्येक शुद्ध शब्द को छाँटने संबन्धी अभ्यास दिये जायँ।

संशोधन

इन अभ्यासों के संशोधन का कार्य बड़ा ही कठिन होता है। शिक्षक प्रायः छात्रों द्वारा की गयी अशुद्धियों को शुद्ध अथवा अंकित करने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। यह कार्य तो संशोधन का एक अंग है। संशोधन का वास्तविक कार्य तो इससे गुरुतर है और इसका इससे कहीं अधिक दायित्व शिक्षक के ऊपर है। इसमें तो छात्र के दृष्टिकोण को समझ कर तदनुकूल आवश्यक सुझाव, निर्देश, प्रोत्साहन आदि देने की आवश्यकता है। विचारों की लड़ी तथा उनके पूर्वापर संबन्ध को समझ कर उनके बारे में उचित परामर्श देना वास्तविक संशोधन है। इसमें क्या रखा जाय तथा इसमें से क्या निकाल दिया जाय—इन बातों की ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित करना अपेक्षित है। संशोधन का कार्य कठिन ही नहीं अपितु अरुचिकर एवं श्रमसाध्य भी है। शिक्षा सिद्धान्त की दृष्टि से अशुद्धियों को शुद्ध करने की अपेक्षा इन्हें रोकना उचित है। बालकों की कठिनाइयों को समझना अध्यापक का परम कर्त्तव्य है। भाषा की विशेषताओं एवं विचित्रताओं के समुचित ज्ञान के अभाव में भूल हो जाती है। भ्रान्तीयता भी अपना प्रभाव बनाये रहती है जिसके फलस्वरूप अशुद्धियाँ होती हैं। छात्रों की योग्यता से कठिन अभ्यास देने के कारण भी भूलें होती हैं। अशुद्धियों के इन कारणों को निम्नलिखित चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

क— अभ्यास संबन्धी निर्देशों के प्रति शंका का उत्पन्न हो जाना।

ख—अज्ञानता।

ग—अनवधानता, शीघ्रता एवं उदासीनता।

घ—विस्मरण।

इन कारणों को रोकना अध्यापक का मुख्य कर्त्तव्य है। इसके अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण अशुद्धियों को तत्काल शुद्ध कर दिया जाय और उन्हें अच्छी तरह

अशुद्धियों के कारणों को दूर करने के उपाय

समझा दिया जाय। यदि संशोधन को भलीभाँति न समझा दिया गया तो इसके लिए प्रयुक्त समय एवं श्रम का कोई मूल्य न होगा। अभ्यास संबन्धी निर्देशों के प्रति उत्पन्न शंकाओं का तत्क्षण समाधान कर दिया जाय। यदि अनवधानतावश अशुद्धि हुई हो तो छात्र को स्वत: उसे शुद्ध करने का अवसर दिया जाय, किन्तु जिन अशुद्धियों को अध्यापक को ठीक करना है, उन्हें शुद्ध करने में शिथिलता न की जाय। कापी को रंग देना भी उचित नहीं है। इससे बालक घबरा जाते हैं। अत: अनावश्यक संशोधन भी न किया जाय। अत्यधिक संशोधन से बचने के लिए छात्रों से शुद्ध रूपों का प्रचुर अभ्यास कराया जाय। इस बात पर विशेष बल दिया जाय कि छात्र अध्यापक द्वारा अंकित अशुद्धि को ठीक कर लें। अध्यापक छात्रों द्वारा लिखे गये शुद्ध रूपों को अवश्य देख लें। उसे अपनी सुविधा के अनुसार संशोधन संबन्धी कुछ चिह्न भी बना लेने चाहिए। इससे श्रम और समय दोनों की बचत होती है। ये चिह्न इस प्रकार हैं—

संशोधन सम्बन्धी चिन्ह

∧ = कुछ छूट गया है। '×' = अनावश्यक बात ? = अमुक बात क्यों और कैसे कही गई है। ! = बात को अतिरंजित कर कहा गया है। अ = अप्रासंगिक बातें कही गयी हैं। व्या = व्याकरण संबन्धी अशुद्धियाँ। रच = रचना संबन्धी अशुद्धियाँ। भा = भाषा संबन्धी अशुद्धियाँ। वि = विराम चिह्नों संबन्धी अशुद्धियाँ। व = विभक्ति संबन्धी अशुद्धियाँ। ल = लोप करना। + = सन्धि करना। स = समास संबन्धी अशुद्धियाँ। क = कारक संबन्धी अशुद्धियाँ। इनके अतिरिक्त अपनी सुविधा के अनुसार और भी सांकेतिक चिह्न बनाये जा सकते हैं। इन चिह्नों का प्रयोग करने से संशोधन-कार्य सरल हो जाता है। सामूहिक संशोधन विधि से यह कार्य और भी सरल हो जाता है। इस विधि के अनुसार शिक्षक बालकों से शुद्ध रूप पूछता तथा बताता चलता है और छात्र उन्हें अपनी अभ्यास पुस्तिकाओं पर लिखते जाते हैं। यह विधि वाक्य-पूर्ति करने, विलोम एवं पर्यायवाची शब्द बताने, वाक्यांशों को जोड़ कर पूर्ण वाक्य बनाने, श्रुतलेख अनुलेख आदि में अधिक उपयोगी सिद्ध होती है। छात्रों को भी एक दूसरे की अशुद्धियों को ठीक करने का अवसर दिया जाय, किन्तु इस दशा में भी शिक्षक बालकों की अभ्यास पुस्तिकाओं को अवश्य देखें। साधारण भूलों को समझा देने से भी संशोधन कार्य सरल हो जाता है।

सारांश

'रचना' का शाब्दिक अर्थ है सजाना, सँवारना, लिखना आदि। यह दो प्रकार की होती है लिखित रचना तथा मौखिक रचना। दोनों का ही हमारे सामाजिक जीवन में बड़ा ही महत्त्व है। लेखक तो मर कर भी अमर रहता है और उसकी रचनाएँ लोगों को प्रेरणा प्रदान करती रहती हैं।

स्वतंत्र आत्म-प्रकाशन लिखित रचना का प्रधान उद्देश्य है। इसी उद्देश्य की पूर्ति कर बालक अपनी एक स्वतंत्र शैली अपनाता है और भविष्य में एक स्थायी साहित्य का सृजन करता है। लिखना व्यक्तिगत कार्य है, न कि सामूहिक। अतः प्रत्येक छात्र पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान दिया जाय। अध्यापक को विद्यार्थियों के बैठने, कलम पकड़ने, मात्रा लगाने, कागज पर उपयुक्त स्थान छोड़ने, विरामादि का प्रयोग करने, एक वर्णनीय बात को एक ही अनुच्छेद में लिखने आदि पर विशेष ध्यान देना चाहिए। उन्हें भावानुकूल ही भाषा तथा भाषानुकूल भावों का प्रयोग करने का अभ्यास कराना चाहिए। लिखित कार्य का पाठ्य-पुस्तक और मौखिक कार्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः पाठ्य-पुस्तकों में पढ़ी हुई और मौखिक रचना में व्यवस्थित सामग्री का ही लिखने में प्रयोग करना चाहिए।

मौलिकता स्वतंत्र रचना का मुख्य लक्ष्य है। अत्यधिक अध्ययन से ही इसका प्रादुर्भाव होता है। अतः छात्रों को अधिक से अधिक पुस्तकों को पढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया जाय।

लिखित रचना संबन्धी अभ्यास कई प्रकार के होते हैं। कक्षानुकूल इनका स्वरूप बदलता रहता है। प्रारम्भिक कक्षाओं में अनुलेख, श्रुतलेख आस-पास की वस्तुओं के नाम लिखने एवं संज्ञाओं के अनुकूल उचित विशेषणों तथा विशेषणों के अनुकूल विशेष्यों के चयन का अभ्यास कराना चाहिए। आगे चल कर कर्त्ता-क्रिया संबन्धी अभ्यास भी कराये जा सकते हैं। कहानी भी रचना-अभ्यास का एक प्रमुख अंग है। वर्णनात्मक लेख, पत्र-लेख, जीवन-चरित्र एवं विचारात्मक लेख भी लिखित रचना के प्रमुख अभ्यास हैं।

इन लेखों के संशोधन का कार्य अत्यन्त कठिन और अरुचिकर है किन्तु छात्रों के दृष्टिकोण को समझ कर तदनुकूल उन्हें आवश्यक सुझाव, निर्देश, प्रोत्साहन आदि देने से यह कार्य सरल हो जाता है। अज्ञता, अनवधानता, शीघ्रता, उदासीनता, विस्मरण, अभ्यास सम्बन्धी निर्देशों के प्रति शंका आदि

उत्पन्न हो जाने के कारण अशुद्धियाँ होती हैं। अतः इन्हें रोकना अध्यापक का मुख्य कर्त्तव्य है। अत्यधिक संशोधन से बचने के लिए छात्रों से शुद्ध रूपों का खूब अभ्यास कराया जाय। अध्यापकों को संशोधन संबन्धी चिह्नों का भी प्रयोग करना चाहिए।

प्रश्न

1. रचना से आप का क्या तात्पर्य है ? यह कितने प्रकार की होती है ? इसके महत्त्व का विशद विवेचन कीजिए।
2. लिखित रचना की उपेक्षा के कारणों पर प्रकाश डालिए।
3. 'रचना' शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुए उसके उद्देश्यों का उल्लेख कीजिए।
4. रचना संबन्धी विशिष्टताओं पर एक निबन्ध लिखिए।
5. रचना संबन्धी अभ्यासों के स्वरूप का विशद विवेचन कीजिए तथा कक्षा छः के लिए एतत्सम्बन्धी एक पाठ संकेत तैयार कीजिए।
6. लिखित रचना सम्बन्धी संशोधनों के बारे में एक छोटा-सा निबन्ध लिखिए।

सहायक पुस्तकें

1. भाषा-शिक्षण—श्री विजय नारायण चौबे।
2. संस्कृत-शिक्षण—डा० रामशकल पाण्डेय।
3. भाषा शिक्षा—श्री सीताराम चतुर्वेदी।
4. संस्कृत शिक्षण विधि—श्री रघुनाथ सफाया।

●

(1) अनुलेख-पाठ-योजना

विद्यालय का नाम— दिनांक—

अध्यापक का नाम— कक्षा-6

घण्टा— चतुर्थ अवधि 40 मिनट

विषय—संस्कृत अनुलेख

सामान्य उद्देश्य—1. छात्रों को इस योग्य बनाना कि वे संस्कृत गद्य खण्डों अथवा श्लोकों को देखकर शुद्ध-शुद्ध लिख सकें, उनके अक्षरों की बनावट सुडौल हो सके और वे सही ढंग से संयुक्ताक्षरों को लिख सकें।

2. वे सही ढंग से विरामादि का प्रयोग करते हुए शिरो रेखा, चन्द्र विन्दु, अनुस्वार, हलन्त आदि को उचित स्थान पर लगा सकें।

3. हाथ साध कर सावधानी के साथ लिखने के लिए अभ्यस्त हो जायँ।

4. कठिन शब्दों की वर्तिनी को जान लें और उनके लिखने में कोई अशुद्धि न कर सकें।

मुख्य उद्देश्य—1. छात्रों को पन्द्रह अगस्त के महत्त्व को समझाना।

2. उन्हें स्वतन्त्र रूप से इस विषय पर लेख लिखने के योग्य बनाना।

3. प्रस्तुत गद्य खण्ड को शुद्ध-शुद्ध लिखने का अभ्यास कराना।

4. प्रस्तुत गद्य खण्ड में आये हुए सप्तमी विभक्ति के एक वचन के रूपों को अवगत कराना।

सहायक-सामग्री— लपेट श्यामपट्ट पर लिखी हुई अनुलेख की सामग्री।

पूर्व-ज्ञान—छात्र अपनी हिन्दी की पाठ्य-पुस्तक में 15 अगस्त के विषय में पढ़ चुके हैं और इस पर्व को अपने विद्यालय में मना चुके हैं।

प्रस्तावना—1. बच्चो ! हम लोग कब स्वतंत्र हुए थे ?

2. हम लोग इसे कैसे मनाते हैं ?

उद्देश्य कथन—आज हम लोग इसी विषय पर एक अनुलेख लिखेगें।

विषय-प्रवेश—अध्यापक छात्रों को यथा स्थान लिखने के लिए सही ढंग से बैठा कर उनके समक्ष अनुलेख सामग्री को ऐसे स्थान पर टाँगेगा जिससे सभी छात्र उसे अच्छी तरह देख सकें। तदनन्तर वह सम्पूर्ण सामग्री का आदर्श वाचन करेगा और उसमें आये हुए निम्नलिखित शब्दों को एक-एक करके श्याम-पट्ट पर लिख कर उनका सन्धि-विच्छेद करेगा।

सप्तचत्वारिंशदधिके कोनविंशतितमे = सप्त + चत्वारिंशत् + अधिक + एक + उन + विंशतितमे = 1947।

मिष्टान्नवितरणञ्च = मिष्ट + अन्न + वितरणम् + च

(मिठाई बाँटना) ऐसा कर लेने के पश्चात् छात्रों को अनुलेख लिखने के लिए आदेश दिया जायगा। जिस समय छात्र लिखने लगेगें, अध्यापक कक्षा में घूम-घूम कर छात्रों की कठिनाइयों को दूर करेगा और उनके लेख में यथोचित सुधार करेगा।

अनुलेख सामग्री—अस्माक राष्ट्रस्य **इतिहासे** अगस्त-मासस्य पञ्चदशी तारिका चिरस्मरणीया अस्ति। **आस्यां तारिकायां** सप्तचत्वारिंशदधिके कोनविंशतितमे वर्षे वयं स्वतंलाः अभवाम। अतः इयं तारिका अस्माकं **राष्ट्रे** महत् पर्व इति मन्यते।

यदा इयं तारिका आगच्छति वयं सर्वे मोदामहे। **अस्मिन् दिने** वयं प्रातरेव उत्थाय **स्वकीये नगरे** गायन्तः परिभ्रमन्तश्च इमं दिवसम् अभिनन्दामः। अनन्तरं **स्थाने स्थाने** क्रीडां, नाटकं, वाद-विवाद-प्रतियोगितां, संगीतादिकञ्च कुर्मः।

अस्मिन् दिने गृहाणि स्वच्छीक्रियन्ते भूष्यन्ते च, सन्ध्यायां दीपकावलिः प्रज्वाल्यते, मिष्टान्नवितरणञ्च क्रियते ।

संशोधन—जब छात्र इसे लिख चुकेगें तो परस्पर एक दूसरे की अभ्यास पुस्तिका को बदल लेगें और उनका संशोधन करेगें । अध्यापक अन्त में सबकी अभ्यास पुस्तिका लेकर उनमें वांछित सुधार करेगा ।

गृह-कार्य—अनुच्छेद में रेखांकित पदों की विभक्ति के आधार पर निम्नलिखित शब्दों के सप्तमी एक वचन के रूप लिखो ।

विद्यालय, छात्रालय, पुस्तकालय, लता, प्रतियोगिता ।

●

(2) श्रुतलेख-पाठ-योजना

विद्यालय का नाम— दिनांक—

अध्यापक का नाम— कक्षा-7

घण्टा—चतुर्थ अवधि 40 मिनट

विषय—संस्कृत श्रुतलेख

सामान्य उद्देश्य—1. छात्रों को इस योग्य बनाना कि वे संस्कृत में व्यक्त बातों को सुनकर समझें और समझ कर तेजी के साथ शुद्ध-शुद्ध लिखने की क्षमता प्राप्त करें ।

मुख्य उद्देश्य—छात्रों को श्री राजेन्द्र प्रसाद की जीवनी से परिचित कराना तथा इससे सम्बद्ध संस्कृत गद्य खण्ड को शुद्ध-शुद्ध लिखने का अभ्यास कराना ।

पूर्व-ज्ञान—छात्र अपनी हिन्दी कक्षा में राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद के बारे में पढ़ चुके हैं तथा संस्कृत के श्रुतलेख अपनी कक्षा में लिख चुके हैं ।

सहायक-सामग्री—डा० राजेन्द्र प्रसाद का चित्र, लपेट श्यामपट्ट पर श्रुतलेख की सामग्री ।

प्रस्तावना—अध्यापक छात्रों के समक्ष डा० राजेन्द्र प्रसाद जी का चित्र प्रस्तुत कर निम्नलिखित प्रश्न पूछेगा।

1. इदं कस्य चित्रम् अस्ति ? (डा० राजेन्द्रप्रसादस्य)
2. सः कः आसीत् ? (सः अस्माकम् राष्ट्रपतिः आसीत्)

उद्देश्य कथन—आज हम इन्हीं के संबन्ध में संस्कृत के एक गद्य खण्ड को श्रुत लेख के रूप लिखायेगें। मैं सर्व प्रथम इसका सस्वर वाचन कर रहा हूँ। तुम लोग इसे ध्यानपूर्वक सुनो और जब मैं तुम्हें लिखने के लिए आदेश दूंगा तब तुम लिखना प्रारम्भ करना।

विषय-प्रवेश—अध्यापक प्रस्तावित अंश का सस्वर पाठ करेगा जिसे छात्र ध्यानपूर्वक सुनेगें। तत्पश्चात् वह निम्नलिखित कठिन शब्दों को एक-एक करके श्यामपट्ट पर लिख कर छात्रों को उनका उच्चारण अभ्यास करायेगा तथा उनका अर्थ बतावेगा। इसके बाद उन्हें मिटा देगा क्योंकि लिखने के समय छात्रों को किसी भी तरह की सहायता अपेक्षित नहीं है। छपरामण्डलान्तर्गत, गौरवशालिनश्च, सुचरितानाम्।

छात्रों के लिए निर्देश :—बच्चों ! अब मैं प्रस्तावित गद्य खण्ड को धीरे-धीरे बोल रहा हूँ। तुम इसे ध्यानपूर्वक सुनो और लिखो। लिखते समय तुम्हारा कान मेरी ओर तथा आँख और हाथ अभ्यास-पुस्तिका पर रहे। एक बार में जितना बोला जायगा, उसे फिर दुहराया नहीं जायगा। सम्पूर्ण अंश को बोल लेने पर मैं तुम्हें पूरे अंश को फिर से पढ़ कर सुनाऊँगा, तब तुम अपने छूटे हुए अंश को इसके आधार पर पूरा कर लेना।

प्रस्तावित गद्यखण्ड

भारतीय गौरवं। प्रसाद मूर्तिं। देशरत्नं। राष्ट्रपतिं। श्री राजेन्द्रप्रसादं। को न जानाति। सर्वप्रथमं। अयमेव। अस्माकं। राष्ट्रस्य। धुरीण इव। अतिष्ठत्। वैदेशिकाः अपि। इमं पूजयन्ति। अनेनैव। इदं जगत्। शान्ति पाठः। पाठितः। अयमेव। स्वसंस्कृतेः। अचल स्तम्भः।

अस्य महाभागस्य । जन्म । विहार प्रान्तस्य । छपरा-मण्डलान्तर्गत । जीरादेईति । नाम्निनगरे । अभवत् । अस्य पूज्याः । आदितः एव । सदाचारिणः । गौरवशालिनश्च । आसन् । तेषां । शुद्ध हृदयनां । सुचरितानां । संसर्गेण । अयं शैशवात् । सौम्यः आसीत् ।

अध्यापक द्वारा पुनः संपूर्ण गद्य खण्ड वाचन किया जायगा । छात्र उसे सुनकर अपनी त्रुटियों को सुधारेगें ।

संशोधन—छात्र परस्पर एक दूसरे की अभ्यास-पुस्तिका वदल लेगें और अपनी-अपनी पुस्तक अथवा लपेट श्यामपट्ट को देख कर संशोधन करेगें । ऐसा करने के पश्चात् अपनी-अपनी अभ्यास पुस्तिका वापस ले लेगें और अशुद्ध शब्दों को कम से कम पाँच बार अपनी कापी पर लिखेंगे । तदनन्तर अध्यापक उनकी कापी लेकर उनका पुनः संशोधन करेगा और उन पर अपना हस्ताक्षर करेगा ।

गृह-कार्य—उपर्युक्त गद्यखण्ड को घर पर पुनः लिखो और इसका हिन्दी में अनुवाद करो ।

•

(3) अनुवाद पाठ-योजना

विद्यालय का नाम— दिनांक

अध्यापक का नाम— कक्षा-6

घण्टा—तृतीय अवधि 40 मिनट

विषय—कर्त्ता-क्रिया सम्बन्ध

सामान्य उद्देश्य—1. छात्रों को छोटे-छोटे हिन्दी वाक्यों का संस्कृत में अनुवाद करने के योग्य बनाना तथा,

2. इनके आधार पर संस्कृत वाक्यों की रचना कर अपने भावों की संस्कृत में व्यक्त करते की क्षमता प्रदान करना ।

मुख्य उद्देश्य—छात्रों को कर्त्ता-क्रिया संबन्धों का विश्लेषण कर यह बतलाना कि जिस पुरुष और वचन का कर्त्ता होगा, उसी पुरुष और वचन की क्रिया होगी। उन्हें इसके आधार पर अनुवाद करने के लिए प्रेरित करना।

सहायक-सामग्री—लपेट श्यामपट्ट पर लिखे हुए निम्नलिखित वाक्य—

1. सः पठति (वह पढ़ता है)
2. त्वम् पठसि (तू पढ़ता है)
3. अहम् पठामि (मैं पढ़ता हूँ)
4. तौ पठतः (वे दोनों पढ़ते हैं)
5. यूयम् पठथ (तुम सब पढ़ते हैं)
6. वयम् पठामः (हम सब पढ़ते हैं)

पूर्व-ज्ञान—छात्र सभी पुरुषों के प्रथमा विभक्ति के सभी वचनों के रूप जानते हैं। उन्हें कुछ धातुओं के लट् लकार के सभी पुरुषों एवं वचनों के रूपों का भी ज्ञान है।

विषयोपस्थापन—अध्यापक लपेट श्यामपट्ट पर लिखे हुए वाक्यों में से अलग-अलग एक-एक वाक्य की ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित कर उनसे निम्न प्रकार के प्रश्न पूछेगा—

1. प्रथम वाक्य में कर्त्ता कौन है ? (सः)
2. वह किस पुरुष और किस वचन का है ? (वह प्रथम पुरुष एक वचन का है)
3. इस वाक्य की क्रिया कौन है ? (पठति)
4. यह क्रिया किस पुरुष और किस वचन की है ? (प्रथम पुरुष एक वचन की है)
5. इसके कर्त्ता और क्रिया में क्या संबन्ध है (कर्त्ता और क्रिया दोनों प्रथम पुरुष और एक वचन के हैं)
6. अन्य वाक्यों के कर्त्ता और क्रिया में क्या संबन्ध है ?
7. इससे तुम किस सिद्धान्त पर पहुँचते हो ?

सिद्धान्त निरूपण—जिस पुरुष और जिस वचन का कर्त्ता होगा, उसी पुरुष और वचन की क्रिया होगी। कर्त्ता और क्रिया में यही संबन्ध होता है।

प्रयोग—संस्कृत में अनुवाद करो।

वे पढ़ते हैं। हम दोनों लिखते हैं। वे पीते हैं। हम सब जाते हैं। आप जाते हैं। वे दोनों हँसते हैं। वे लिखते हैं। तुम जाते हो। वे खेलते हैं। वह नाचती है।

अध्यापक उपरिलिखित वाक्यों का उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर छात्रों से मौखिक रूप से अनुवाद कराये।

अनुवाद लेखन—प्रत्येक वाक्य का मौखिक अनुवाद करा लेने के पश्चात् अध्यापक छात्रों को इन्हें अपनी-अपनी अभ्यास-पुस्तिकाओं पर लिखने का आदेश दे और स्वयं इनका निरीक्षण करे।

संशोधन—इनके संशोधन का कार्य कक्षा में यथा संभव कर ले।

गृह-कार्य—(क) निम्नलिखित वाक्यों का संस्कृत में अनुवाद करो।

(1) राम जाता है। (2) वह देखती है।
(3) वे खेलते हैं। (4) तू लिखता है।
(5) आप खाते हैं। (6) तुम सब जाते हो।

(ख) निम्नलिखित वाक्यों में प्रयुक्त कर्त्ता और क्रिया के पुरुष और वचन का उल्लेख करो।

(1) रामः लिखति। (2) मोहनः गच्छति।
(3) तौ हसतः। (4) ते गच्छन्ति।
(5) रमा गायति। (6) नरेशः धावति।

4. चित्र के आधार पर लिखित रचना सम्बन्धी पाठ-योजना

विद्यालय का नाम— दिनांक—

अध्यापक का नाम— कालांश—

विषय—उद्यानम् कक्षा—7 अ

सामान्य उद्देश्य—1. छात्रों को प्रश्नोत्तर प्रणाली के आधार पर मौखिक रूप से अपने भावों को अभिव्यक्त करने की क्षमता प्रदान करना।

2. उन्हें संस्कृत में पूछे हुए प्रश्नों का संस्कृत में ही उत्तर देने के योग्य बनाना।

3. उन्हें किसी चित्र को देख कर उसमें व्यक्त भावों को अपनी संस्कृत में व्यक्त करने की क्षमता प्रदान करना।

4. उन्हें इस योग्य बनाना कि वे अपने भावों को संस्कृत में लिख कर व्यक्त कर सकें।

मुख्य उद्देश्य—छात्रों को 'उद्यान' पर कुछ वाक्य लिखने की योग्यता प्रदान करना।

सहायक सामग्री—एक उद्यान का चित्र जिसमें एक ओर गोविन्द नामक एक बालक खड़ा हो और दूसरी ओर उसकी माता पेड़ों को सींच रही हो। सूर्योदय हो रहा हो तथा खिले हुए पुष्पों पर भौंरे घूम रहे हों। चित्र के ऊपर "गोविन्दस्य उद्यानम्" लिखा हुआ हो। लपेट श्यामपट्ट पर इस विषय पर संस्कृत में एक लेख।

पूर्व-ज्ञान—छात्र नित्य अपने उद्यान से फूल ला कर सरस्वती की वन्दना करते हैं।

प्रस्तावना—1. तुम नित्य प्रातः काल किसकी वन्दना करते हो ?

2. उनकी पूजा के लिए तुम फूल कहाँ से लाते हो ?

3. इस चित्र में तुम क्या देखते हो ? (चित्र दिखाकर)

उद्देश्य कथन—आज हम लोग इसी उद्यान के विषय में संस्कृत में कुछ वाक्य बोलने और लिखने का यत्न करेगें ।

विषयोपस्थापन—'उद्यान' का चित्र दिखाकर अध्यापक निम्नलिखित प्रश्न पूछेगा—

1. इदम् कस्य उद्यानम् अस्ति ?
   (इदम् गोविन्दस्य उद्यानम् अस्ति)
2. इदम् उद्यानम् कीदृशम् अस्ति ?
   (इदम् उद्यानम् सुन्दरम् अस्ति)
3. अत्र अयम् कः उदयति ?
   (अत्र अयम् सूर्यः उदयति)
4. अनेन कः भवति ।
   (अनेन प्रकाशः भवति)
5. अधुना वायुः कीदृशं वहति ?
   (अधुना वायुः मन्दं मन्दं वहति ?
6. तेन केषां गन्धः प्रसरति ?
   (तेन पुष्पाणां गन्धः प्रसरति)
7. भ्रमराः कुत्र भ्रमन्ति ?
   (भ्रमराः पुष्पाणाम् उपरि भ्रमन्ति)
8. कोकिलाः कुत्र कूजन्ति ?
   (कोकिलाः वृक्षाणाम् उपरि कूजन्ति)
9. कः उद्यानम् रक्षति ?
   (रक्षकः उद्यानम् रक्षति)
10. कस्य माता पादपान् सिञ्चति ?
    (गोविन्दस्य माता पादपान् सिञ्चति)

नोट :—यदि छात्र प्रश्नों का उत्तर संस्कृत में न दे पायें तो अध्यापक उनकी सहायता कर दे और उन्हें इनका उत्तर हिन्दी में भी दे देने की छूट दे दे तथा स्वयं इनका उत्तर संस्कृत में बता दें ।

पाठ आरम्भ करने से पूर्व यदि आवश्यकता हो तो लपेट श्यामपट्ट पर लिखे हुए लेख को पढ़ कर छात्रों को सुना दिया जाय।

अध्यापक-कार्य—प्रश्न पूछ लेने के पश्चात् अध्यापक लपेट श्यामपट्ट पर लिखे हुए लेख को पढ़ कर छात्रों को सुनाये, फिर उसे कतिपय छात्रों से पढ़वाये और अन्त में छात्रों से चित्र के आधार पर 'उद्यान' विषय पर दस वाक्य सक्रम बोलने के लिए कहे। ऐसा कर लेने के पश्चात् उनसे चित्र को देख कर लेख लिखने के लिए कहो।

कक्षा-कार्य—चित्र के आधार पर छात्र 'उद्यानम्' शीर्षक पर दस वाक्यों का एक लेख लिखेगें।

निरीक्षण-कार्य—जिस समय छात्र लेख लिख रहे होंगे, अध्यापक कक्षा में घूम-घूम कर उनके कार्यों का निरीक्षण करेगा और उनकी गलतियों को दूर करेगा।

गृह-कार्य—'मम उद्यानम्' शीर्षक पर संस्कृत में दस वाक्यों का एक निबन्ध लिखो।

लपेट श्यामपट्ट पर लिखा हुआ लेख

इदम् गोविन्दस्य उद्यानम् अस्ति। इदम् उद्यानम् सुन्दरम् अस्ति। अत्र अयम् सूर्यः उदयति। अनेन प्रकाशः भवति। अधुना वायुः मन्दं मन्दं वहति। तेन पुष्पाणां गन्धः प्रसरति। भ्रमराः पुष्पाणाम् उपरि भ्रमन्ति। कोकिलाः वृक्षाणाम् उपरि कूजन्ति। रक्षकः उद्यानम् रक्षति। गोविन्दस्य माता पादपान् सिञ्चति।

विशेष—इसी ढंग से "मौखिक रचना" सम्बन्धी पाठ-योजना तैयार की जा सकती है।

●

5. पुरुष वचन एवं लकार परिवर्तन के आधार पर लिखित रचना सम्बन्धी पाठ-योजना

विद्यालय का नाम— दिनाङ्क--

अध्यापक का नाम— कालांश--

विषय—दिये हुए वाक्यों में पुरुष, वचन और लकार परिवर्तन। कक्षा--8 ब

सामान्य उद्देश्य—1. छात्रों से 'कर्त्ता-क्रिया सम्बन्ध' के सिद्धान्त का प्रयोग करा कर उन्हें स्वतंत्र रूप से संस्कृत-वाक्य रचना करने के योग्य बनाना।

2. इस प्रकार संस्कृत वाक्यों की रचना कर उन्हें अपने भावों को संस्कृत में व्यक्त करने की क्षमता प्रदान करना।

मुख्य-उद्देश्य--छात्रों को दिये हुए वाक्यों में पुरुष, वचन और लकार परिवर्तन के योग्य बना कर उन्हें संस्कृत में लिखने में दक्ष बनाना।

सहायक सामग्री--लपेट श्यामपट्ट पर लिखे हुए निम्नलिखित वाक्य—

1. सः तण्डुलान् ओदनम् पचति।
2. नृपः चौरम् शतम् दण्डयति।
3. पथिकः गोविन्दम् पन्थानम् पृच्छति।
4. बालकाः कन्दुकेन क्रीडन्ति।
5. वयं नासिकया जिघ्रामः।

पूर्व-ज्ञान--छात्र कर्त्ता-क्रिया सम्बन्ध के सिद्धान्त तथा विभिन्न पुरुषों, वचनों एवं लकारों के प्रयोग को जानते हैं।

विषयोपस्थापन--अध्यापक लपेट श्यामपट्ट पर लिखे हुए वाक्यों को एक-एक करके छात्रों के समक्ष प्रस्तुत कर उनसे निम्न प्रकार के प्रश्न पूछेगा।

1. प्रथम वाक्य में कर्त्ता कौन है ?

2. उसके स्थान पर 'अहम्' का प्रयोग करने पर उसमें क्या परिवर्तन हो जायगा ?
3. दूसरे वाक्य में क्रिया बताओ ?
4. इसके स्थान पर विधिलिङ् प्रथम पुरुष बहुवचन की क्रिया का प्रयोग करो।
5. तीसरे वाक्य में 'पथिकः' शब्द किस वचन का है ?
6. इसका प्रयोग बहुवचन में करो।
7. चौथे और पाँचवे वाक्य की क्रियाओं का प्रयोग क्रमशः लट् और लृट् लकारों में करो।

लेखन-कार्य—प्रत्येक वाक्य के सम्बन्ध में प्रश्न पूछ लेने तथा उनमें वाञ्छित परिवर्तन करा लेने के पश्चात् अध्यापक छात्रों को इन्हें तदनुकूल अपनी-अपनी अभ्यास पुस्तिकाओं पर लिखने का आदेश दे और स्वयं इनका निरीक्षण करे।

संशोधन—इनके संशोधन का कार्य कक्षा में यथासम्भव कर लें।

गृह-कार्य—निम्नलिखित वाक्यों में पुरुष, वचन तथा लकार परिवर्तन करो।

1. सीता रामेण सह वनम् अगच्छत् (त्वम् का प्रयोग कर)
2. सीता रामेण सह वनम् अगच्छत् (लृट् लकार का प्रयोग कर)
3. दुर्जनेन समम् वैरं न कूर्यात् (बहुवचन का प्रयोग कर)

अध्याय 10

मौखिक रचना अथवा

मौखिक आत्म-प्रकाशन

जैसा कि 'लिखित रचना' वाले पाठ में इस बात का उल्लेख किया गया है कि रचना दो प्रकार की होती है--मौखिक रचना तथा लिखित रचना। यहाँ पर मौखिक रचना अथवा मौखिक आत्म-प्रकाशन की चर्चा की जा रही है। कुछ लोग लिखित कार्य के पूर्व अथवा पाठ्य-पुस्तक-पठन के साथ जो मौखिक कार्य होते हैं उन्हीं को ही मौखिक रचना संबन्धी कार्य मानते हैं, किन्तु यह उनका भ्रम है। मौखिक आत्म-प्रकाशन की तो एक पृथक् स्वतंत्र प्रक्रिया है और इसका अस्तित्व भी स्वतंत्र है। कुछ समय तक किसी विषय पर सक्रम बोलने को मौखिक आत्म-प्रकाशन कहते हैं। सभी शिक्षा-शास्त्री इस बात पर सहमत हैं कि किसी भी तरह के भाषा-शिक्षण का आरम्भ मौखिक कार्य से ही किया जाय। हेराल्ड ई पामर, प्रो० पी० गैरी प्रभृति विद्वानों के मतानुसार किसी भी तरह के वचन का आरंभ करने के पूर्व शुद्ध-शुद्ध बोलने का पर्याप्त अभ्यास करा लिया जाय। एम० एम० लेविस भी इसी मत के मानने वाले हैं। इनके मतानुसार भाषा शिक्षक को स्वयं एक अच्छा वक्ता होना चाहिए। वास्तविकता तो यह है कि छात्र प्रारम्भिक दशा में भाषा इकाइयों का अपने मस्तिष्क में संग्रह करता है और अवसरानुकूल उसका प्रयोग करता है। इसीलिए 'वाईल्डर पेनफील्ड' मौखिक आत्म-प्रकाशन को मातृभाषा से भिन्न दूसरी भाषा को सीखने का सर्वोत्तम साधन मानते हैं। प्रोफेसर गुरी भी इसी सिद्धान्त के पोषक हैं। इनके मतानुसार बोली हुई भाषा ही वास्तविक भाषा है। बालकों को चलना सिखाने के पूर्व दौड़ना सिखाने का कोई औचित्य नहीं है, उसी प्रकार बोलने के पूर्व पढ़ना सिखाने का भी कोई औचित्य नहीं है। यह न तो स्वाभाविक ही है और न उचित

मौखिक आत्म-प्रकाशन की परिभाषा

पढ़ने से पूर्व मौखिक कार्य का सिद्धान्त

ही। पढ़ने से पूर्व मौखिक कार्य का सिद्धान्त प्रत्येक भाषा के लिए उपयोगी है। पढ़ते समय छात्रों को अक्षरों का ज्ञान, शब्दों की परख तथा उनका ध्वनियों के साथ संबन्ध स्थापित करना पड़ता है। लिखते समय उनको अक्षरों की बनावट की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है, पर बोलने के लिए उसे दूसरों का अनुकरण करना पड़ता है और इस तरह उसे पढ़ने तथा लिखने की अपेक्षा बोलने में कम प्रयत्न करना पड़ता है। बालक स्वभाव से ही अनुकरणशील और प्रयत्न लाघव का प्रेमी होता है। जब वह सीखी हुई भाषा में अपने भावों को व्यक्त करने लगता है तो उसे एक विशेष प्रकार की सान्त्वना मिलती है और वह अपनी सफलता पर प्रसन्न होता है। अतः मौखिक प्रकाशन पर अधिक बल देना चाहिए। हमारी प्राचीन शिक्षा पद्धति मौखिक विवेचन पर केन्द्रित थी। ऐतरेयोपनिषद् के "अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्', मीमांसा सूत्र के "श्रोत्रग्रहणे हि अर्थे लोके शब्द शब्दः प्रसिद्धः" तथा तैत्तिरेयोपनिषद् के "आचार्य पूर्वरूपम्, अन्तेवास्युत्तररूपम् विद्या सन्धिः, प्रवचनम् संधानम्" आदि वाक्य इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इसके सम्बन्ध में "शुद्धोच्चारण-शिक्षण" वाले पाठ में विस्तृत चर्चा की गई है।

मौखिक आत्म-प्रकाशन का महत्त्व

'बातहिं हाथी पाइये, बातहिं हाथी पाँव' की कहावत इसके महत्त्व को स्वयं चरितार्थ करती है। अमुक्त व्यक्ति तो बातों का ही धनी है और वह बातों की ही रोटी खाता है—आदि कहावतें भी तो इसी संबन्ध में सुनने को मिलती हैं। संस्कृत परिचय नामक पुस्तक की 'वाक्चातुर्यम्' नामक कहानी से इसके महत्त्व पर और भी प्रकाश पड़ता है। इस कहानी का हिन्दी-अनुवाद इस प्रकार है—कहा जाता है कि किसी राजा के पास एक हाथी था। जब वह वृद्ध एवं मरणासन्न हो गया तो राजा ने उसे गाँव में भेज दिया और यह कहला दिया कि इस हाथी के बारे में सारी बातें उसे नित्य बता दी जाया करें, किन्तु जो व्यक्ति यह कहेगा कि हाथी मर गया, वह मार डाला जायगा। राजाज्ञानुसार सारे ग्रामवासी यत्नपूर्वक उस हाथी का पालन-पोषण करने लगे। पर इतना करने पर भी अन्त में हाथी मर ही गया। अब तो ग्रामवासी बहुत ही घबराये और सोचने लगे कि कौन म्याऊँ का ठौर पकड़ेगा और जाकर राजा से हाथी के मरने का समाचार कहेगा। सभी लोग इसी उधेड़-बुन में पड़े हुए थे कि उनमें से एक व्यक्ति धीरे से उठा और उसने कहा कि आप लोग निश्चिन्त रहें। इस बात का बीड़ा मैं उठाऊँगा और जाकर

राजा से यह समाचार कहूँगा। जब वह राजा के पास पहुँचा तो उसने उनसे कहा कि 'राजन् ! बड़े दुःख की बात है कि आज न तो हाथी खा रहा है, न पानी पी रहा है और न साँस ही ले रहा है। अधिक क्या कहूँ, वह तो चेतन की तरह व्यवहार भी नहीं कर रहा है।" इसे सुन कर चकित हो राजा ने कहा, "क्यों रे ! क्या हाथी मर गया ?" "देव ! यह तो आप ही कह रहे हैं। मैं नहीं कह रहा हूँ" उसने विनम्रतापूर्वक कहा। यह सुन कर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उसे बहुत-सा धन इनाम देकर बिदा कर दिया। यदि इस व्यक्ति को बात करने का ढंग न आता तो वह मारा जाता और सारे ग्रामवासी कष्ट में पड़ जाते।

भर्तृहरि नीतिशतक[1] में इसके महत्त्व के संबन्ध में तो यहाँ तक कहा गया है कि मनुष्य का एक मात्र भूषण उसकी वाणी है—उसी से उसकी शोभा है—केयूर, चन्द्रोज्ज्वल हार, स्नान, विलेपन, पुष्प, केश आदि से उसकी शोभा नहीं होती है, ये सब तो क्षीण होते रहते हैं। कुछ लोगों का यह कथन है कि मुख का भूषण पान है, किन्तु उनका यह कथन सत्य नहीं है, मनुष्य के मुख की शोभा तो सरस्वती है। कहा भी गया है कि "मुखस्य भूषणं पुस्यं स्यादकैव सरस्वती"।

मौखिक रचना के लाभ

विश्व की समस्त भाषाएँ मौखिक रूप में ही आरंभ की जाती हैं। बच्चा अपनी मातृभाषा को घर पर मौखिक रूप में ही सीखता है। माता-पिता, बन्धु-बान्धव आदि घर के सभी प्राणी उसे सर्व प्रथम बोलना ही सिखाते हैं। इस प्रकार मौखिक आत्म-प्रकाशन की शिक्षा उसके शैशव से ही आरम्भ हो जाती है। पढ़ना-लिखना तो मानवीय सभ्यता की उत्तरावस्था की देन है। अतः शिक्षण में भी इसी क्रम का अनुसरण करना चाहिए अर्थात् मौखिक रचना से प्रारम्भ करके क्रमशः पढ़ने और लिखने की ओर अग्रसर होना चाहिए। यही एक स्वाभाविक एवं ऐतिहासिक क्रम है। मौखिक कार्यों द्वारा छात्र के कान

---

1. केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला,
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते,
क्षीयन्तेऽखिलभूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्॥
[भर्तृहरि नीतिशतक]

संस्कृत ध्वनियों को सुनने और समझने में अभ्यस्त हो जाते हैं। उनकी जिह्वा भी संस्कृत ध्वनियों का उच्चारण करने में प्रशिक्षित हो जाती है। जिन शब्दों एवं वाक्यों को अपनी ही ध्वनि में सुना अथवा बोला जाता है, वे शीघ्र ही चिरस्थायी हो जाते हैं। मौखिक रचना नवीन शब्दों को समझने तथा उन्हें वाक्यों में प्रयोग करने में सहायक होती है। इससे नवीन भाषा सीखने में प्रेरणा और प्रोत्साहन मिलता है तथा उस पर विश्वास और अधिकार प्राप्त हो जाता है। इतना ही नहीं अपितु शुद्धोच्चारण सीखने में भी सहायता मिलती है। एक बार के सीखे हुए उच्चारण में परिवर्तन लाना एक कष्ट साध्य प्रक्रिया है। भाषा के किसी अन्य तत्त्व में ऐसा करना तो सुकर है किन्तु उत्तरावस्था में अशुद्धोच्चारण को शुद्ध करना एक कठिन कार्य है। अतः प्रारम्भिक अवस्था में ही इसके प्रति सतर्क रहना चाहिए। मौखिक कार्य पठन एवं लेखन प्रक्रियाओं में भी सहायक होते हैं। मौखिक कार्य तो लेखन कार्य के पूर्वरूप हैं। इनसे लिखित रचना का कार्य सरल हो जाता है।

मौखिक आत्म-प्रकाशन के उद्देश्य

छात्रों को शुद्ध संस्कृत में अपने भावों को एक क्रम में व्यक्त करने तथा सार्वजनिक वक्तृता एवं वाद-विवाद के लिए तैयार करना मौखिक रचना का प्रधान उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त इसके अन्य उद्देश्य भी हैं, जो इस प्रकार हैं--(1) छात्रों को इस योग्य बनाना कि वे संस्कृत ध्वनियों का ठीक-ठीक शुद्ध उच्चारण कर सकें। (2) उनमें नवीन शब्दों को अपने वाक्यों में प्रयोग करने की क्षमता आ जाय। (3) उनसे जो कुछ भी पूछा जाय, उनका उत्तर वे उचित ढंग से शुद्ध संस्कृत में दे सकें। (4) उनमें इस प्रकार की क्षमता उत्पन्न करना कि वे अपरिचित व्यक्ति के साथ भद्रतापूर्ण व्यवहार कर सकें और उनके साथ वार्तालाप करते समय शुद्ध, मधुर एवं संयत भाषा का प्रयोग कर सकें। (5) उनमें पढ़ी, देखी, सुनी अथवा अनुभव की हुई बातों को क्रमिक, युक्ति संगत तथा शुद्ध संस्कृत भाषा में व्यक्त करने की क्षमता उत्पन्न करना। (6) उन्हें इस योग्य बनाना जिससे वे अपने मन की शंकाओं को निःशंक हो दूसरों के समक्ष विशुद्ध संस्कृत में व्यक्त कर सकें। (7) तथा उनमें अपने भावों को व्यक्त करने की क्षमता आ जाय।

मौखिक रचना में निम्नलिखित प्रक्रियाएँ होती हैं--

1. अध्यापक नवीन ध्वनियों, शब्दों आदि का उच्चारण करता है।
2. छात्र उन्हें सुनते और समझते हैं।

मौखिक रचना की प्रक्रियाएँ

3. वे इनके स्वरूपों को स्मरण रखते हैं।
4. छात्र इन्हें तद्वत् अभिव्यक्त करते हैं।
5. वे इन्हें हृदयंगम करते हैं तथा 6. इनका अपने सरल वाक्यों में प्रयोग करते हैं। शुद्धता, बोधगम्यता, उचित हाव-भाव के साथ अभिव्यक्ति, गति, एकरूपता, सहयोग, प्रभावोत्पादकता आदि मौखिक रचना के आवश्यक अंग हैं।

लिखित एवं कथित वस्तु में अन्तर

कुछ लोगों की यह धारणा है कि लिखित वस्तु भी इसी प्रकार का महत्त्व रखती है; पर उन्हें यह ज्ञात होना चाहिए कि लिखित एवं कथित वस्तुओं में अन्तर होता है। लेख निर्जीव होता है और कथन सजीव। लेख तो उस प्रतिमा के समान है जिसमें रूप है, रंग है, आकर्षण है, पर वह निष्प्राण है। कथन हमारी भावनाओं, भावभङ्गिमाओं तथा हमारे व्यक्तित्व से ओत-प्रोत और हमारे हाव-भाव, अंग संचालन आदि से गतिमान रहता है। लेख कृत्रिम होता है और कथन स्वाभाविक। इसीलिए उसकी अपेक्षा यह अधिक प्रभावशाली भी होता है। जिसे यह कला आती है, वह फाँसी के तख्ते से भी अपने को उतार सकता है। पोर्शिया ने अपने प्रेमी की और सावित्री ने अपने पति की रक्षा इसी से की थी। शेक्सपीयर के सुप्रसिद्ध नाटक जूलियर सीजर के तृतीय अंक के द्वितीय दृश्य में सीज़र की अन्त्येष्टि क्रिया के अवसर पर दिये गये अण्टोनी के ओजस्वी भाषण से कौन नहीं परिचित है ? उसकी भाषण-शैली का ही यह प्रभाव था कि शत्रुओं के मध्य उसने भाषण दिया और सम्पूर्ण विद्रोही जन-समूह को अपनी मुट्ठी में कर लिया। महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय के प्रभावोत्पादक भाषण को सुनकर कौन नहीं दंग रह जाता था ? श्रोता तक अपने कथन के सन्देश को पहुँचाना और उससे उसे प्रभावित करना ही भाषण का एक मात्र उद्देश्य रहता है। इसके लिए सार-गर्भित एवं प्रभावोत्पादक भाषा का होना अत्यन्त आवश्यक है। पर ऐसी भाषा तभी हो सकती है जब कि उसमें प्रयुक्त शब्दों का उच्चारण शुद्ध हो, तथा वह स्पष्ट, मुहाविरेदार, मधुर एवं आरोहावरोह युक्त हो। इन गुणों को प्राप्त करने का एक मात्र साधन मौखिक रचना है।

भाषा की शुद्धता के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। सर्वप्रथम यह व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध हो, उसमें प्रयुक्त शब्द व्यावहारिक हों और यह उच्चारण संबन्धी दोषों से सर्वथा मुक्त हो।

भाषा की शुद्धता बोलने में प्रायः उच्चारण संबन्धी अशुद्धियों की भरमार रहती है। श, स, व, ब, इ, ई आदि में तो मानो कोई अन्तर ही नहीं रहता है। इस प्रकार के दोष पूर्वी जिलों के लोगों के बोलने में अधिकतर पाये जाते हैं। अतः बोलते समय इन बातों पर ध्यान देना चाहिए और प्रान्तीय दोषों तथा घरेलू बोली को छोड़ कर शुद्ध भाषा का प्रयोग करना चाहिए।

व्यावहारिकता भाषा-शुद्धता की दूसरी कसौटी है। इसके लिए उपयुक्त पुस्तकों का अध्ययन करना और अच्छे लोगों की संगति करना अत्यन्त आवश्यक है। इसी प्रसंग में लोगों को कहते हुए सुना गया है कि अमुक व्यक्ति पढ़ा तो कम है पर कढ़ा अधिक है। यहाँ पर कढ़े हुए होने का तात्पर्य उसके व्यावहारिक होने से है। ऐसे लोगों की भाषा बड़ी ही व्यावहारिक होती है। काव्य प्रकाश में काव्यं यशसे, अर्थकृते, व्यवहारविदे आदि का उल्लेख कर मम्मट ने इसी व्यावहारिकता के महत्व पर प्रकाश डाला है। व्यावहारिकता के अतिरिक्त भाषा आकांक्षा, सन्निद्धि आदि गुणों से युक्त हो।

भाषा की शुद्धता के अतिरिक्त कथन की शैली भी सुन्दर होनी चाहिए। इसी सन्दर्भ में प्लुतार्क ने किसी से कहा था कि तुम बात तो वही कहते हो जो तुम्हें कहनी चाहिए पर जिस ढंग से कहनी चाहिए

शैली उस ढंग से नहीं कहते हो। उनका कथन आज भी सत्य सिद्ध हो रहा है क्योंकि लोगों के बोलने में प्रायः स्वाभाविकता का अभाव रहता है। इसके लिए तो हृदय से बोलने की आदत डालने की आवश्यकता होती है। जो बात हृदय से निकलती है उसका प्रभाव अमिट होता है। कुछ लोग अशिष्ट शब्दों एवं बेतुकी भाषा का प्रयोग करने लगते हैं और कुछ लोग चिल्ला-चिल्ला कर बोलने लगते हैं; पर ऐसा करना सर्वथा अनुचित है। ऐसा करने से कथन प्रभावहीन और नीरस हो जाता है। कथन के लिए तो स्वरों के आरोहावरोह का होना आवश्यक है जिससे प्रत्येक शब्द श्रोता के हृदय में मोती की भाँति अंकित हो जाय। मुँह से फूल चुने वाली कहावत ऐसे ही कथनों के लिए चरितार्थ होती है जिनका लोगों पर जादू का सा प्रभाव पड़ता है। इसीलिए कहा भी है कि उसकी जबान क्या है, जादू है जिसको सुनकर लोग मन्त्रमुग्ध से हो जाते हैं।

कथन मधुर भी होना चाहिए। इसकी सार्थकता गोस्वामी तुलसीदास की अग्रांकित उक्ति से स्वयं सिद्ध हो जाती है—

कथन की मधुरता

तुलसी मीठे वचन ते, सुख उपजत चहुँ ओर।
बसीकरन एक मंत्र है, तजि दे वचन कठोर॥

कविवर रहीम ने भी इसका समर्थन किया है और कहा भी है—

ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरन को सीतल करै, आपहुँ सीतल होय॥

कथन अत्यन्त प्रांजल, परिमार्जित, परिष्कृत और प्रसाद गुणयुक्त हो। इसमें क्लिष्टता या दूरान्वय दोष न हो। बीच-बीच में ऐसे चुस्त और मुहाविरेदार वाक्यों का प्रयोग हुआ हो जिनसे भाषा में एक अपूर्व सजीवता आ जाय। उदाहरणार्थ जब अनसूया प्रियंवदा से यह कहती है कि दुर्वासा के शाप की बात शकुन्तला के कानों तक न पहुँचने पाये, तब प्रियंवदा उत्तर देती है कि 'क इदानी मुष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति' अर्थात् भला कौन ऐसा होगा जो जूही की लता को खौलते हुए गर्म जल से सींचेगा ? अभिज्ञान शाकुन्तल से उद्धृत इसी प्रकार के कुछ और चुने हुए वाक्य नीचे दिये जाते हैं--सागरं वर्जयित्वा कुल वा महानद्यवतरति, क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते, सतां हि सन्देहपदेषुवस्तुषु प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः आदि।

कथन पात्रानुकूल भी होना चाहिए, यथा यज्ञयागादि तथा अध्यापन कार्य में सदा संलग्न रहनेवाले महर्षि कण्व के मुख से निकली हुई निम्नलिखित उक्तियाँ उनके पद के सर्वथा अनुरूप हैं—दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता (हर्ष है कि धूम से आकुल दृष्टिवाले यजमान की आहुति अग्नि में ही गिरी।) वत्से ! सुशिष्यपरिदत्तेव विद्याऽशोचनीयासि संवृत्ता (बेटी ! सुपात्र शिष्य को दी गई विद्या के समान तू भी अशोच्य है आदि।)

वार्तालाप और भाषण

भाषण कथन का एक प्रमुख अंग है। दो या उससे अधिक व्यक्तियों के बीच किसी विषय पर होनेवाले विचार-विनिमय को वार्तालाप कहते हैं। दो व्यक्तियों की बात-चीत में प्रत्येक एक दूसरे के सम्मुख अपने हृदय को खोलकर रख देने का यत्न करता है और उनकी प्रत्येक बात एक दूसरे के हृदय पर अंकित होती जाती है। ऐसी बात-चीत पिता-पुत्र, माता-पुत्र, पति-पत्नी, दो मित्रों आदि के बीच हुआ करती है। तीन व्यक्तियों की बात-चीत तो

त्रिभुज की तीन भुजाओं के समान होती है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण कोण का कार्य करते हैं। इससे अधिक व्यक्तियों की परस्पर बात-चीत तो रम-रमौवल कहलाती है। परन्तु भाषण में वक्ता किसी विषय पर उसके पक्ष या विपक्ष में अपने भावों को व्यवस्थित ढंग से श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत करता है। इसका महत्त्व सर्वविदित है। विधानमण्डलों में, न्यायालयों में और वाद-विवाद के अवसरों पर इसकी आवश्यकता का अनुमान होता है। जिन गुणों की भाषण में आवश्यकता होती है, वे ही गुण वार्तालाप में भी अपेक्षित हैं।

मौखिक आत्म-प्रकाशन के साधन

वार्तालाप एक कला है। इसे सीखने के लिए अभ्यास की आवश्यकता है। अभ्यास ऐसे हों जिनसे बालकों को आपस में, शिक्षक से, कक्षा के समक्ष तथा अन्य लोगों से वार्तालाप करने का अवसर मिल सके। उनके सम्मुख वार्तालाप संबन्धी सिद्धान्तों की चर्चा अनावश्यक सिद्ध होगी। इन अवसरों के अतिरिक्त उनके सामने बोलने के सुन्दर से सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये जायँ, जिससे बालक उनका अनुकरण कर सकें। वे स्वभाव से ही अनुकरणशील होते हैं और हम प्रायः अनुकरण करके ही भाषा सीखते हैं। ऐसा करते समय प्रान्तीय दोषों, घरेलू भाषा तथा लिखित भाषा की कृत्रिमता से बचना चाहिए। आत्म-प्रकाशन के लिए तैयारी आवश्यक है जो स्वतः एक तरह की शिक्षा है; किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि छात्र अपने भाषण को कण्ठस्थ कर लें। उन्हें तो शब्दों की अपेक्षा भावों को ही स्मरण करना चाहिए। भावों के स्मरण हो जाने पर शब्द तो स्वतः स्मरण हो जाते हैं। किसी अज्ञात शिक्षाविद के मतानुसार प्रथम और अन्तिम वाक्यों के कण्ठस्थ कर लेने से बोलने में बड़ी सहायता मिलती है। प्रथम वाक्य से आत्मविश्वास उत्पन्न होता है और अन्तिम से श्रोता प्रभावित होते हैं।

अभ्यासों के आधार-भूत सिद्धान्त

अभ्यास उद्देश्य पूर्ण हों तथा प्रत्येक अभ्यास का पृथक्-पृथक् उद्देश्य हो। इन अभ्यासों का क्रम इस प्रकार का हो कि एक बार में एक से अधिक कठिनाई-का अनुभव छात्र न करें और इनकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहे। छात्र बिना समझे-बूझे ही इन अभ्यासों को न दोहरायें। इनकी योजना तैयार करते समय बालकों की आवश्यकता और उनकी रुचि के विषयों का ध्यान रखा जाय और वे इस प्रकार तैयार किये जायँ जिससे छात्र उन विषयों पर कुछ समय तक सक्रम बोल सकें।

उक्त अभ्यासों को सुचारु रूप से कराने के लिए टाइम टेबुल में समय निश्चित हो। इस घण्टे में केवल मौखिक ही कार्य हो। विद्यालय के सामूहिक अधिवेशनों में तो बहुत ही कम छात्रों को भाग लेने का अवसर मिल पाता है यद्यपि इनसे उन्हें अत्यधिक प्रेरणा और सहायता मिलती है। पाठ्य संबन्धी कार्य-क्रमों के अतिरिक्त पाठ्येतर कार्य-क्रमों का भी यदा-कदा आयोजन किया जाना चाहिए यथा, वाद-विवाद प्रतियोगिता, कविता पाठ, अन्त्याक्षरी प्रतियोगिता, कहानी कथन प्रतियोगिता, शास्त्रार्थ प्रतियोगितादि।

मौखिक आत्म-प्रकाशनार्थ पाठ्य एवं पाठ्येतर कार्य-क्रमों का प्रबन्ध

उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में संस्कृत का पठन-पाठन कक्षा छः से आरंभ होता है। इस समय छात्रों को मातृभाषा का पर्याप्त ज्ञान रहता है। अतः बच्चों के इस पूर्व-ज्ञान के आधार पर ही अध्यापक को मौखिक आत्म-प्रकाशन संबन्धी अभ्यास तैयार करें। इसके पूर्व वे उन्हें इस बात से भलीभाँति अवगत करा दें कि संस्कृत भारतीय संस्कृति की खान है, रामायण, महाभारत, वेद, गीता आदि सद्-ग्रन्थों की रचना संस्कृत भाषा में ही हुई है, उनके सभी संस्कार संस्कृत में ही संपन्न होते हैं, राम तथा कृष्ण की मातृभाषा संस्कृत ही थी, संस्कृत के ही माध्यम से वे भारतीय दर्शन, धर्म, साहित्य आदि का अवगाहन कर सकते हैं, संस्कृत भारत की अधिकांश भाषाओं की जननी है तथा इसी से राष्ट्रभाषा हिन्दी की अभिवृद्धि होगी। प्रोफेसर वोकिल के शब्दों में "संस्कृत ग्रन्थों में प्रदर्शित आर्य-संस्कृति के प्रतिबिम्ब की ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित किया जाय, उनकी धार्मिक भावना को जागरित किया जाय, जिससे संस्कृत ग्रन्थों में व्यक्त हिन्दू धर्म का उन्हें ज्ञान हो जाय, विश्व विख्यात संस्कृत साहित्य की रमणीयता, कलात्मक अभिव्यक्ति आदि की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया जाय तथा उन्हें यह बात अच्छी तरह से समझा दी जाय कि यह साहित्य राम, कृष्ण, सीता, सावित्री आदि के उदात्त चरित्रों से परिपूर्ण हैं।

मौखिक-कार्य-स्थापन-क्रम

1. प्रस्तावना

इस प्रकार छात्रों को जिज्ञासु बनाकर तथा उनमें संस्कृत पढ़ने की रुचि उत्पन्न कर अध्यापक अपने उद्देश्य को व्यक्त करे और कहे कि बच्चों ! मैं आज तुम लोगों को इसी भाषा संस्कृत के सिंहः, बालः, मूषकः वृक्षः आदि शब्दों का ज्ञान कराऊँगा। वह खड़िया,

2. उद्देश्य कथन एवं

3. **सहायक सामग्री** झाड़न, प्वाइण्टर आदि सामान्य शैक्षिक उपकरणों के अतिरिक्त इन शब्दों के चित्र एकत्र कर ले तथा निम्न-लिखित ढंग से इन चित्रों को एक-एक कर छात्रों के समक्ष प्रस्तुत करे और उनसे इस प्रकार प्रश्न पूछे। सिंह का चित्र उपस्थित कर वह पहले हिन्दी में पूछे कि यह क्या है ? छात्र उत्तर दें कि यह शेर है। फिर अध्यापक उन्हें बताये कि संस्कृत में इसे 'एषः सिंहः' कहते हैं। ऐसा

4. **प्रस्तुतीकरण** कर वह उनसे फिर पूछे कि 'एषः कः' और छात्र उत्तर

5. **श्यामपट्ट-कार्य** दें कि एषः सिंहः। तदनन्तर वह इसे श्यामपट्ट पर लिख दे और छात्रों को उसे पढ़ने का आदेश दे। इसी क्रम से वह प्रत्येक शब्द का छात्रों को ज्ञान कराये। वह उन्हें पढ़ने, खड़े होने, बैठने आदि के लिए संस्कृत में ही पठ, उत्तिष्ठ, उपविश' आदि का प्रयोग करने का आदेश भी दे। उनसे यह भी पूछे कि 'सिंह' शब्द का उच्चारण करने पर अन्त में किस स्वर की ध्वनि निकलती है तथा उसे संस्कृत शब्द बनाने के लिए उसके आगे क्या जोड़ दिया गया है। जब वे बता दें कि ऐसा करने पर अन्त में 'अ' स्वर की ध्वनि निकलती है यह किस लिङ्ग का है और उसे संस्कृत शब्द बनाने के लिए उसके आगे विसर्ग जोड़ दिया गया है—उपरिलिखित प्रत्येक शब्द के संबन्ध में इसी प्रकार का प्रश्न पूछ कर अन्त में उन्हें बताये कि संस्कृत में प्रत्येक अकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्द के आगे

6. **सिद्धान्त निरूपण गृह कार्य** विसर्ग लगा देने से उसका प्रथमा विभक्ति एक वचन का रूप बन जाता है। उन्हें इस सिद्धान्त का प्रयोग करने के निमित्त गृह-कार्य दें और आदेश दे कि निम्नलिखित अकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों का प्रथमा विभक्ति एक वचन का रूप लिखो। विडाल, कुक्कुर, गज, चन्द्र, छात्र, सर्प, अध्यापक, आचार्य आदि।

इसी प्रकार प्रथमा विभक्ति द्विवचन, बहुवचन तथा अन्य विभक्तियों के विभिन्न वचनों के रूप बनाने के सिद्धान्त उन्हें मौखिक आत्म-प्रकाशन के माध्यम से बताये जायँ। इससे 'एक पंथ दो काज' की कहावत चरितार्थ होगी। छात्र मौखिक आत्म-प्रकाशन संबन्धी कार्यों का अभ्यास भी करेंगे और विभिन्न लिङ्गों के विभिन्न विभक्तियों एवं वचनों के स्वरूप को भी जान जायँगें। क्रियाओं के विभिन्न पुरुषों, लकारों, वचनों आदि के स्वरूप का भी इसी तरह ज्ञान कराया जा सकता है। इस संबन्ध में डा० अरविन्द कुमार चतुर्वेदी द्वारा लिखित तथा प्रकाशन केन्द्र न्यू बिल्डिंग, अमीनाबाद, लखनऊ द्वारा प्रकाशित

'प्रदीप संस्कृत रचना प्रवेश" भाग 1, 2 और 3 में विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

विभिन्न विशेषणों, कारकों आदि का ज्ञान भी इसी तरह से कराया जा सकता है—यथा नीलम् कमलम्, कृष्णः सर्पः आदि तथा पुस्तकम् पठामि, पत्रम् लिखामि आदि। छात्रों के शब्द-भाण्डार की वृद्धि के लिए इसी पद्धति का अनुसरण कर विशेष विषयों पर विशेष पाठ तैयार कर छात्रों से वार्त्तालाप के आधार पर उन्हें निम्नलिखित बातों का ज्ञान कराया जा सकता है--सम्बन्धियों के नाम, घरेलू वस्तुओं, खाद्य-पदार्थों के नाम, विद्यालय-वस्तुओं, विभिन्न वृक्षों, समय, दिन, मास, ऋतु, मुद्रा, माप आदि। वार्तालाप का माध्यम प्रश्नोत्तर ही है। इसके लिए छात्रों को सर्वनाम शब्दों यथा अस्मद्, युष्मद्, तत्, यत्, किम् आदि के रूपों तथा अव्यय शब्दों (यत्=कि, यतः=क्योंकि, कुतः, अतः, कथम्=कैसे, वरम्=अच्छा, विना, अपि=भी, क्या, इत्थम्=इस प्रकार आदि) का ज्ञान अवश्य करा देना चाहिए और इन्हें कण्ठस्थ करा दिया जाना चाहिए। ऐसा करने से अध्यापक और छात्र दोनों का कार्य सरल हो जायगा। प्रश्नों को श्यामपट्ट पर लिख देने से भी छात्रों को उनके समझने तथा समझ कर उत्तर देने में सरलता हो जाती है। प्रश्नों के उत्तरों को भी श्यामपट्ट पर लिख देने से छात्रों की कठिनाई दूर हो जाती है। प्रश्नों का स्तर क्रमशः उन्नत किया जाय अर्थात् इसके निर्माण में सरल से कठिन की ओर के सिद्धान्त का अनुसरण किया जाय। प्रश्नोत्तर प्रणाली पर आधारित मौखिक कार्य से सम्बद्ध कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं--

किम् ते नाम, कुतो आगच्छसि, कस्ते पिता, सः किम् करोति, एतत् कस्य पुस्तकम्, कस्याम् श्रेण्याम् पठसि, कस्मिन् नगरे निवससि आदि।

"विभिन्न संस्कृत शिक्षण विधियाँ (भाग-2)"वाले पाठ में 'डाइरेक्ट मेथड में वार्तालाप प्रणाली का स्थान' वाले शीर्षक के अन्तर्गत वार्तालाप के और भी उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

मौखिक आत्म-प्रकाशन की अग्रिम अवस्था सरल वर्णन की होनी चाहिए। एतत्सम्बन्धी विषय छात्रों के निकटतम् वातावरण से सम्बद्ध हों यथा कक्षा वर्णनम्, अध्यापक वर्णनम्, मित्रवर्णनम् आदि। अध्यापक इनके संबंध में छात्रों से ऐसे क्रमिक प्रश्न पूछें जिनके उत्तर में तद्विषयक सम्पूर्ण बातें निहित हों। यथा, तव मित्रस्य किं नाम ? तस्य पितुः किं नाम ? सः जात्या कः ? सः कुत्र निवसति ? तस्य का

सरल वर्णनम्

विशेषता ? आदि । इसी प्रकार इन वर्णनात्मक विषयों से सम्बद्ध चित्र अथवा अन्य दृश्य सामग्री उपस्थित कर छात्रों से प्रश्न पूछ कर उनके सम्बन्ध में मौखिक वर्णन कराया जा सकता है । अध्यापक छात्रों के उच्चारण, वाक्य रचना आदि की ओर भी ध्यान देता रहे तथा उनकी एतत्सम्बन्धी अशुद्धियों को ठीक करता रहे । उनसे प्रश्नों के उत्तरों को दोहरवाता भी रहे । इस प्रकार जब प्रस्तुत विषय का पूर्ण वर्णन करा ले तो उसे किसी एक अच्छे छात्र से उसका आद्योपान्त वर्णन कराये, यथा अयं मम विद्यालयः अस्ति । अस्य भवनं अति सुन्दरम् अस्ति । अस्मिन् बहवः छात्राः पठन्ति । अहं सप्तम्यां श्रेण्यां पठामि । अस्याः द्वौ वर्गौ स्तः, क वर्गः, ख वर्गश्च । अहं अस्याः क वर्गे पठामि आदि ।

कहानी कथन

कहानी कथन भी मौखिक आत्म-प्रकाशन का एक सुन्दर और सरल साधन है । संस्कृत साहित्य ऐसी सरल कहानियों से भरा पड़ा है । इनके संबन्ध में कहानी कथन पद्धति वाले पाठ में विस्तृत चर्चा की गई है । हितोपदेश, पंचतंत्र आदि ग्रन्थों से शशकसिंह कथा, वायसदम्पति कथा, लोलुपकुक्कुर कथा तथा इस तरह की दूसरी कथाएँ लेकर इनके चित्रों के आधार पर प्रश्न कर मौखिक आत्म-प्रकाशन के अभ्यास कराये जा सकते हैं । इस प्रकार के अभ्यासों के संबन्ध में लिखित रचना वाले पाठ में विस्तृत चर्चा की गई है । कहानी-कथन-पद्धति वर्णन पद्धति की तरह होती है । अध्यापक कहानी विशेष से संबद्ध चित्र का उपयोग करता है जिसमें एतत्सम्बन्धी एक अथवा अनेक शृंखलाबद्ध दृश्य होते हैं । अध्यापक इन्हीं दृश्यों के संबन्ध में बारी-बारी से छात्रों से प्रश्न पूछता जाता है और छात्र उनका उत्तर देते जाते हैं । वह उनके इन उत्तरों को आवश्यकतानुसार शुद्ध भी करता जाता है । वह कहानी में आये हुए कठिन शब्दों एवं वाक्य खण्डों को श्यामपट्ट पर अवश्य लिख दें । इस प्रकार जब पूरी कहानी पर प्रश्नोत्तर पूरा हो जाय तो छात्रों से बारी-बारी से कहलाया जाय । उदाहरणार्थ 'लोलुपकुक्कुरस्य कथा' का चित्र छात्रों के समक्ष प्रस्तुत कर इस प्रकार प्रश्न पूछे जायँ, चित्र की ओर संकेत करके,

अत्र कः तिष्ठति ? अस्य मुखे किम् अस्ति ? जले कस्य प्रतिविम्बम् अस्ति ? तत् दृष्ट्वा सः कथम् चिन्तयति ? सः तदानीम् किं करोति ? भणनेन तस्य का हानिः अभवत् ? अस्याः कथायाः का शिक्षा अस्ति ?

कहानी-कथन के अतिरिक्त भाषण तथा वाद-विवाद भी मौखिक आत्म-प्रकाशन के प्रमुख साधन हैं । भाषण किसी भी रोचक विषय पर हो सकता है,

भाषण एवं वाद-विवाद

यथा, संस्कृतभाषायाः महत्त्वम्, शिक्षायाः महत्त्वम्, गुरु महिमा, सर्वं आत्मवशं सुखम्, आदि। अध्यापक ऐसे विषयों पर लिखे हुए लेखों को छात्रों को पढ़ने का आदेश दे, यदि वे इन्हें पढ़ने में किसी भी तरह की कठिनाई का अनुभव करें तो वह उनकी उन कठिनाइयों को दूर करने का प्रयास करे और इस प्रकार जब छात्र किसी प्रस्तावित विषय के संबन्ध में पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लें तो उन्हें उस विषय पर स्वतंत्र रूप से कक्षा अथवा विद्यालय की संस्कृत-परिषद के समक्ष भाषण देने का आदेश दे। इस संबन्ध में इस बात पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाय कि छात्र इन भाषणों को कण्ठस्थ न कर लें, उन्हें इन लेखों में व्यक्त भावों को अपनी भाषा में व्यक्त करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। इसी प्रकार वाद-विवाद की भी व्याख्या की जा सकती है। इसके लिए उपयुक्त विषयों का चयन कर लिया जाय, यथा विज्ञानम् वरदानस्वरूपम् अथवा अभिशापस्वरूपम्, वरं धनवान् मूर्खः न च निर्धनपण्डितः आदि। इन पर कुछ छात्र पक्ष में तथा कुछ विपक्ष में अपनी-अपनी वक्तृता तैयार करें और संस्कृत परिषद् के तत्वाधान में अपने पक्ष का समर्थन करें। यद्यपि इस प्रकार के वाद-विवाद में सभी छात्र भाग नहीं ले सकते हैं, फिर भी वे अपने साथियों को अपने भावों को व्यक्त करते हुए देखेगें, उनके तर्क-वितर्क को सुनेगें और ऐसा करने के लिए उनसे प्रेरणा प्राप्त करेंगे। इनमें विजयी छात्रों को पुरस्कृत किया जाय और उन्हें प्रशंसा-पत्र, वैजयन्ती, कप, पदक आदि पुरस्कार स्वरूप दिये जायँ। इस प्रकार का आयोजन विद्यालय, जनपद तथा प्रदेश स्तर पर भी किया जा सकता है।

मौखिक आत्म-प्रकाशन को प्रोत्साहन देने के निमित्त विद्यालयों में सस्वर वाचन की भी व्यवस्था होनी चाहिए। सुन्दर-सुन्दर मंत्रों, श्लोकों आदि का चयन कर छात्रों को इस तरह कण्ठस्थ करा दिया जाय

सस्वर वाचन

कि वे अवसरानुकूल उनका सस्वर वाचन कर सकें। इस प्रक्रिया का आरम्भ छठीं कक्षा से ही किया जाय। सस्वर वाचन बड़ा ही मधुर होता है। इसमें छात्र बड़ी तत्परता एवं रुचि के साथ भाग लेते हैं। इसके लिए सामग्री इस प्रकार की हो यथा वैदिक मन्त्र तत्सवितुर्वरेण्यम् ……, असतो मा सद्गमय, ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव, यद् भद्रं तन्न आ सुव। आदि, सरस्वती वन्दना--करेण वीणां परिवादयन्तीं, तथा जपन्तीमपरेण मालाम्। मराल-पृष्ठासन-सन्निविष्टां, सरस्वतीं तां शिरसा नमामि।

गुरु वन्दना--अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥

भक्ति स्तोत्र--नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

इस प्रकार के और भी सुन्दर-सुन्दर मन्त्र, स्तोत्र, वन्दना आदि का चयन किया जा सकता है ।

सस्वर वाचन दो तरह का होता है--व्यक्तिगत एवं सामूहिक । सर्वप्रथम व्यक्तिगत सस्वर वाचन को प्रोत्साहित किया जाय । जब कक्षा के कुछ छात्र इस प्रकार का वाचन करने में दक्ष हो जायँ तो सामूहिक सस्वर पाठ कराया जाय । ऐसा करते समय निम्नलिखित बातों की ओर अवश्य ध्यान दिया जाय—

यदि कक्षा बड़ी हो तो उसे दो भागों में विभक्त कर लिया जाय और पहले एक भाग से फिर दूसरे भाग से सस्वर वाचन कराया जाय । इस प्रकार का वाचन कराते समय इस बात का ध्यान रखा जाय कि छात्र शोर न करें । शोर होने से दूसरी कक्षाएँ प्रभावित होती हैं और उनके पठन-पाठन में बाधा पहुँचती है । ऐसा करते समय यदि छात्र किसी प्रकार की उच्चारण सम्बन्धी अशुद्धियाँ करें तो उसे तुरत ठीक करा कर उसका कई बार अभ्यास करा दिया जाय । इस अवसर पर अध्यापक केवल निरीक्षक, सहायक एवं पथ-प्रदर्शक का कार्य करे । सामूहिक गान लय विशेष के साथ कराया जाय । संस्कृत के विभिन्न छन्दों की विभिन्न लय है । इसका अवश्य पालन किया जाय और आवश्यकतानुसार संगीत यंत्रों का भी उपयोग किया जाय । संस्कृत श्लोकों का इतना अभ्यास करा दिया जाय कि ये चलचित्रों के अश्लील गीतों का स्थान ग्रहण कर लें और छात्र हर समय इन्हीं की धुन में मस्त रहें जिससे उनका मन सदैव पवित्र बना रहे और इनकी उस पर हर समय छाप पड़ती रहे । इनके द्वारा सुख-दुःख, प्रेम-घृणा, क्रोध, दया, भय, आश्चर्यादि भावों को व्यक्त करने का सुन्दर अभ्यास हो जाता है ।

नाटक

मौखिक आत्म-प्रकाशन के प्रमुख साधनों में नाटकों का एक विशेष स्थान है । कक्षास्तर के अनुकूल इनमें से अभिनय-योग्य दृश्यों का चयन कर अथवा उनको कक्षास्तर के अनुसार परिवर्तित कर उनका अभिनय कराया जाय । संस्कृत नाटकों में रुचिकर, मर्म-स्पर्शी, एवं आकर्षक दृश्यों का बाहुल्य है । यथा, अभिज्ञान शाकुन्तल का शकुन्तला का पतिगृह गमन, उत्तररामचरित का सीता-लक्ष्मण

सम्वाद, कन्दुमाला का लवकुशराम सम्वाद आदि। इन दृश्यों तथा इस प्रकार के रूपान्तरित दृश्यों का अभिनय करने से कक्षा में सीखी हुई भाषा परिष्कृत एवं परिमार्जित हो जाती है। इसके सम्बन्ध में संस्कृत नाटक वाले पाठ में विस्तृत चर्चा की गई है। अभिनय कराने के पूर्व इसके लिए तैयारी कराना आवश्यक है किन्तु तत्काल पढ़े हुए पाठ का बिना तैयारी के भी अभिनय कराया जा सकता है। इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि बालक पाठ में प्रयुक्त भाषा का ही प्रयोग करें। उन्हें इन भावों को व्यक्त करने के लिए अपनी भाषा का भी प्रयोग करने की पूरी छूट दी जाय। विचार होने पर उन्हें व्यक्त करने के लिए भाषा तो अपने आप आ जायगी। किन्तु इसके लिए पर्याप्त अभ्यास की आवश्यकता होती है। अभ्यास होने पर ही इसके लिए छूट दी जाय। हो सकता है कि ऐसे अभिनय प्रारम्भ में सफल न हों किन्तु जैसे-जैसे अभ्यास होता जायगा वैसे-वैसे इसमें सफलता मिलती जायगी।

गोष्ठियाँ

उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त ऊँची कक्षाओं में गोष्ठियों का भी आयोजन किया जाय। इसके लिए शिक्षक कोई विषय दे दें जिसे छात्र तैयार कर लायें और गोष्ठियों में उस पर विचार-विनिमय हो। इनमें छात्र प्रस्तावित विषय पर एक-दूसरे से प्रश्न पूछें और किसी भी समस्या पर अपना मत व्यक्त करें। वाद-विवाद से यह ढंग अधिक उपयोगी है क्योंकि इसमें अधिक से अधिक छात्र भाग ले सकते हैं। लिखित रचना के लिए दिये गये विषयों की भी इस गोष्ठी में चर्चा की जा सकती है।

संशोधन

भाषा सम्बन्धी अशुद्धियों के संशोधन के लिए छात्रों को बीच में ही टोक देना अच्छा नहीं होता। ऐसा करने से विषय का प्रवाह रुक जाता है और छात्र के आनन्द में भी बाधा पहुँचती है। किन्तु भूलों को छोड़ देना भी उचित नहीं है। यह तो भाषा सीखने के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। अतः ऐसी दशा में इन भूलों को सुधारने की सर्वोत्तम विधि यह है कि जिस समय छात्र बोलते रहें उस समय अध्यापक तथा दूसरे छात्र उन भूलों को नोट करते रहें और अन्त में इन भूलों के संबन्ध में विचार विनिमय कर उनका सुधार कर दें और उनका अभ्यास करा दें। ऐसा करते समय यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि किसने किस प्रकार की भूल की है। जहाँ बीच-बीच में ही सुधार आवश्यक हो वहाँ इस प्रकार की चेतावनियों का प्रयोग किया जाय जिससे छात्र को अपनी भूल सुधारने का

अवसर अपने आप मिल जाय, यथा, फिर तो कहो, जो कह रहे हो उसे दुहराओ, इसी बात को दूसरे शब्दों में कहो, जोर से कहो, यह उत्तर तो नहीं है, क्या कहा, पहला शब्द क्या है ? आदि। उचित समय पर दिये गये अभ्यास के कारण कम भूलों के होने की संभावना रहती है। शिक्षक छात्रों के लिए आदर्श होता है। उसके उच्चारण और उसकी भाषा की अमिट छाप बालकों की भाषा और उनके उच्चारण पर पड़ती है। बालक माता-पिता तथा शिक्षक की भाषा का अनुकरण करते हैं। शिक्षक जब तक यह न जान ले कि छात्र का भाषा पर आवश्यक अधिकार हो गया है, तब तक वह उसे स्वतंत्र अभ्यास न दे। इन अभ्यासों की शब्दावली भी निश्चित कर दी जाय और उनका उचित अभ्यास करा दिया जाय। विषय से संबद्ध शब्दों के अतिरिक्त नित्यप्रति व्यवहृत होने वाले शब्दों का ज्ञान अवश्य करा दिया जाय, जैसे, धन्यवाद, आभारी, अनुगृहीत, कृतार्थ आदि। इससे छात्रों को विषय संबन्धी शब्दों के साथ-साथ इन शब्दों का भी ज्ञान हो जायगा और वे इनका अवसरानुकूल प्रयोग भी कर सकेंगे।

सारांश

कुछ समय तक, किसी विषय पर, सक्रम बोलने को मौखिक आत्म-प्रकाशन कहते हैं। हेराल्ड ई पामर, प्रो० पी० गैरी, एम० एम० लेविस प्रभृति पाश्चात्य शिक्षा-शास्त्री पढ़ने से पूर्व मौखिक आत्म-प्रकाशन के सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। इनके मतानुसार बोलने के पूर्व पढ़ना सिखाने का कोई औचित्य नहीं है। बोलने में बालक को केवल दूसरों का अनुकरण करना पड़ता है और उसे पढ़ने तथा लिखने की अपेक्षा बोलने में कम प्रयत्न करना पड़ता है। हमारी प्राचीन शिक्षा-पद्धति मौखिक आत्म-प्रकाशन पर अधिक बल देती थी। विश्व की समस्त भाषाएँ मौखिक रूप में ही आरम्भ की जाती हैं। मौखिक आत्म-प्रकाशन की शिक्षा छात्र के शैशव से ही आरम्भ हो जाती है। पढ़ना-लिखना तो मानवीय सभ्यता की उत्तरावस्था की देन हैं। मौखिक कार्य पठन एवं लेखन प्रक्रियाओं के पूर्व रूप हैं।

छात्रों को शुद्ध-शुद्ध उच्चारण करने, अपने भावों को शुद्ध संस्कृत भाषा में व्यक्त करने आदि के योग्य बनाना मौखिक आत्म-प्रकाशन के प्रमुख उद्देश्य हैं। शुद्धता, बोधगम्यता, अभिव्यक्ति, गति, एकरूपता, सहयोग, प्रभावोत्पादकता आदि मौखिक रचना के आवश्यक अंग हैं। लिखित एवं कथित वस्तुओं में

अन्तर है। लेख निर्जीव और कथन सजीव होता है। कथन लेख की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता है। कथन शुद्ध, मधुर, परिमार्जित परिष्कृत और प्रसाद गुण युक्त हो। यह पात्रानुकूल भी हो।

मौखिक आत्म-प्रकाशन के लिए वार्तालाप सर्वोपयोगी है। इसके लिए टाइम टेबुल में विशिष्ट घंटे हों जिनमें छात्र संस्कृत में वार्तालाप कर सकें। कहानी-कथन, व्याख्यान, कविता पाठ, अन्त्याक्षरी आदि से इसमें बड़ी सहायता मिलती है।

मौखिक आत्म-प्रकाशन सम्बन्धी भूलों का सुधार करना बड़ा ही आवश्यक है किन्तु बीच में टोक देना अच्छा नहीं होता। अध्यापक तथा छात्र इन भूलों को नोट कर लें और अन्त में विचार विनिमय कर उन्हें दूर करें। जहाँ बीच में ही सुधार आवश्यक हो वहाँ चेतावनी मात्र से ही काम चलाया जाय।

प्रश्न

1. 'मौखिक आत्म-प्रकाशन' की परिभाषा का उल्लेख कर इसके उद्देश्यों का विशद विवेचन कीजिए।
2. मौखिक आत्म-प्रकाशन के महत्त्व पर प्रकाश डालिये और इसके गुणों का उल्लेख कीजिए।
3. मौखिक आत्म-प्रकाशन के साधनों के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त कीजिए और बतलाइए कि इसके आधारभूत सिद्धान्त क्या हैं?
4. मौखिक आत्म-प्रकाशन के कौन-कौन से अभ्यास आवश्यक हैं, उनका विस्तृत वर्णन कीजिए।
5. मौखिक आत्म-प्रकाशन का किस प्रकार संशोधन किया जाय, इस पर एक लेख लिखिए।

सहायक पुस्तकें

1. A. Gardinar--Theory of speech and Language.
2. Unesco--Teaching of Modern Languages.
3. Unesco--Methodology of Language Teaching.
4. Gurry--Gral work in Elementary class.

5. Board of Education--Suggestions for the teaching of classics.

6. Hagboldt--Language Learning--University of Chicago.

7. Bokil and Parasnis--A new Approach to Sanskrit.

8. ऐतरेयोपनिषद् ।

9. मीमांसा सूत्र ।

10. तैत्तिरेयोपनिषद् ।

11. भाषा शिक्षण—श्री विजय नारायण चौबे ।

12. संस्कृत-शिक्षण--डा० राम शकल पाण्डेय ।

13. संस्कृत-शिक्षण-विधि—श्री रघुनाथ सफाया ।

14. अभिज्ञान शाकुन्तलम् ।

अध्याय 11

रचना-शिक्षण-विधियाँ

रचना शिक्षण के उद्देश्य, एतत्संबन्धी अभ्यासों के स्वरूप तथा इन अभ्यासों के संशोधन के ज्ञान के साथ-साथ रचना-शिक्षण-विधियों से अवगत हो जाना भी आवश्यक है जिनका विवरण इस प्रकार है—

देखो और रचो विधि

देखो और रचो विधि के आविष्कारक प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री आचार्य श्री सीताराम चतुर्वेदी हैं। उन्होंने 'भाषा की शिक्षा' नामक अपनी पुस्तक में इसका विस्तृत वर्णन किया है जो इस प्रकार है—"इस विधि का आधार एक लकड़ी की पिटारी है जिसे लब्ध प्रतिष्ठ शिक्षा-शास्त्री तथा काशी विश्वविद्यालय के संस्थापक महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय जी के नाम पर 'मोहन-पेटी' कहते हैं। इस पेटी में टकने के पीछे एक सलेट लगी रहती है। उसी पर एक पुस्तक फँसी रहती है जिसके सामने दायें हाथ की ओर खाँचीदार पटरियाँ लगी रहती हैं। उनके नीचे तीन सरकने वाले डिब्बे लगे रहते हैं जिनमें गत्ते के टुकड़ों पर छपे हुए देवनागरी के अक्षर, अंक, मात्राएँ तथा कुछ अति प्रचलित शब्द भरे रहते हैं। इसकी शिक्षा की चार अवस्थाएँ हैं जो इस प्रकार हैं—

पहली अवस्था में पुस्तक देख कर विद्यार्थी सरकौआ डिब्बों के छोटे घरों में से अक्षर निकाल कर खाँचीदार पटरियों में लगाता है और पूरा पृष्ठ रच चुकने पर अक्षर निकाल कर उन्हीं घरों में यथास्थान डाल देता है। इस प्रयोग से बालक की उँगलियाँ सधती हैं, उसे अक्षरों की पहचान होती है और बार-बार देखते रहने से अक्षरों का शुद्ध रूप उसके सामने आता रहता है।

दूसरी अवस्था में विद्यार्थी अपने रचे हुए पृष्ठ की प्रतिलिपि सलेट पर करता है। इससे उसे लिखने का अभ्यात भी होता रहता है और अक्षरों की बनावट तथा उनके अंगों का अनुपात भी आ जाता है।

तीसरी अवस्था में अध्यापक श्यामपट्ट पर ऐसे शब्दों के संयोग से वाक्य बनाकर लिखता है जिन्हें बालक सीख चुका रहता है। उन वाक्यों को बालक खाँचीदार पटरियों के अक्षरों से रचता चलता है। इस अभ्यास के द्वारा छात्र का परिचय लिखे हुए अक्षरों से भी हो जाता है और वह तेजी के साथ उसकी रचना भी करता चलता है। चौथी अवस्था में अध्यापक की बोली सुनकर छात्र गत्ते के अक्षरों से शब्द रचता है तथा सलेट पर लिखता है।[1]

इस विधि में निम्नलिखित मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का समावेश किया गया है—

ज्ञानेन्द्रियों का शिक्षण (Sense Traning), करो और सीखो (Learning by doing), अनुकरण द्वारा शिक्षा (Learning by Imitation), और स्वतः शिक्षा (Auto-Education) मॉंटेसरी पद्धति तथा फ्रोबेल की किण्डरगार्टेन पद्धति भी इन्हीं सिद्धान्तों पर आश्रित है। इस विधि को खेल-पद्धति की भी संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि इसके द्वारा बालक खेल-खेल में ही सब सीख लेता है।

यद्यपि इस मोहन पेटी का आविष्कार हिन्दी-शिक्षण के लिए किया गया है किन्तु इसका प्रयोग संस्कृत-शिक्षण में भी किया जा सकता है। इस पेटी को केवल संस्कृत के लिए उपयोगी बनाने की आवश्यकता है जो थोड़े से ही हेर-फेर से सुविधापूर्वक हो सकता है। हिन्दी और संस्कृत दोनों में ही देव-नागरी लिपि का प्रयोग होता है। अतः जहाँ तक इसके द्वारा संस्कृत के छात्रों को वर्णों के सिखाने का प्रश्न है, वह आसानी से हो सकता है। वाक्य रचना की दृष्टि से इसमें संस्कृत शब्दों एवं क्रियाओं का समावेश किया जाय जिनके आधार पर छात्र संस्कृत के छोटे-छोटे वाक्यों की रचना कर सकें। इस विधि द्वारा संस्कृत के छात्रों को देवनागरी अक्षरों का ज्ञान, उनके लिखने का अभ्यास तथा अनुलेख, श्रुतलेख, वाक्य रचना आदि का अभ्यास कराया जा सकता है।

भाषा-यंत्र-विधि

रचना-शिक्षण की दूसरी विधि भाषा-यन्त्र-विधि है। इस विधि का प्रयोग पहले यूरोपीय भाषाओं के शिक्षण में होता था किन्तु अब इसका प्रयोग हिन्दी-शिक्षण में भी किया जाने लगा है। इसमें थोड़ा सा परिवर्तन कर देने पर इसका प्रयोग संस्कृत-शिक्षण में भी हो सकता है। ग्रामोफोन की मशीन, लिग्वाफोन का

1. 'भाषा की शिक्षा'—आचार्य सीताराम चतुर्वेदी पृष्ठ 137.

तवा, इलस्ट्रेटिव चित्र तथा गाइड बुक इस यंत्र के प्रमुख अंग हैं। अन्तिम तीन अंगों को संस्कृत शिक्षण के अनुकूल बनाने की आवश्यकता है। इलस्ट्रेटिव चित्र को दीवार पर टाँग कर ग्रामोफोन की मशीन पर लिग्वाफोन के तवे को रख कर उसे चला दिया जाता है। अध्यापक प्वाइण्टर से चित्र पर व्यक्त सभी वस्तुओं एवं घटनाओं को इंगित करता चलता है। इस प्रकार जब तवा बज चुकता है तब शिक्षक उन्हीं वस्तुओं तथा घटनाओं के संबन्ध में प्रश्न पूछता है। इसके पश्चात् सहायक पुस्तक की सहायता से छात्र अपने उत्तरों की जाँच कर उन्हें स्मरण कर लेते हैं और अपनी अभ्यास पुस्तिका पर लिख लेते हैं। संस्कृत-शिक्षण में इस विधि का प्रयोग कहानी रचने, किसी घटना का वर्णन करने, किसी का जीवन परिचय लिखने आदि के अवसर पर किया जा सकता है। व्यय साध्य होने के नाते अब इस विधि का प्रचलन कम है। आजकल आकाशवाणी के माध्यम से संस्कृत-शिक्षण का प्रबन्ध है जिसके द्वारा कक्षा छः और सात के छात्रों को संस्कृत की शिक्षा दी जाती है।

प्रश्नोत्तर विधि

रचना-शिक्षण की तीसरी विधि प्रश्नोत्तर विधि है। इस विधि का प्रयोग पहले भी होता था और आज भी इसका प्रयोग हो रहा है। पर अन्तर इतना है कि इस समय अध्यापक शिष्य से प्रश्न करता है और उस समय शिष्य ही गुरु से प्रश्न करता था। उपनिषदों में जहाँ पर गहन विषयों का विवेचन किया गया है, इस प्रणाली के प्रयोग किये जाने का अधिक प्रमाण मिलता है। प्रश्नों का उत्तर देते समय अध्यापक उचित उदाहरणों, कथाओं और कहानियों का भी प्रयोग करते थे। कभी-कभी वे प्रश्नों का विस्तृत उत्तर न देकर उनका संकेत मात्र कर दिया करते थे विद्यार्थी उनके आधार पर विस्तृत उत्तर निकालने का यत्न करते थे। तैत्तिरीय उपनिषद् में वरुण ने अपने पुत्र भृगु को ब्रह्म के बारे में केवल संकेत कर दिया था। इस तरह के चार या पाँच बार के संकेत करने के पश्चात् वह ब्रह्म को समझ सका था। छान्दोग्य उपनिषद् में भी इस प्रकार का प्रमाण मिलता है। उपाध्याय का यह कर्त्तव्य था कि वह प्रत्येक विद्यार्थी की शंकाओं का समाधान करे। गृहस्थों की शंकाओं का भी गुरु लोग समाधान किया करते थे। गीता में प्रतिपादित सिद्धान्तों का उपदेश श्री कृष्ण ने अर्जुन को इसी प्रणाली के अनुसार दिया था। बौद्ध मठों में इस प्रणाली का खूब प्रचार था। बौद्ध भिक्षुओं के समक्ष उपासक लोग अपनी शंकाओं को रखते थे और वे उनका सन्तोषजनक उत्तर देते थे। मिलिन्द प्रश्न

नामक ग्रन्थ बौद्ध साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में मेनेण्डर के बौद्ध धर्म संबन्धी अनेक प्रश्नों का वर्णन है। नागसेन ने उसका यथोचित उत्तर दिया है।

इस विधि का प्रयोग मौखिक आत्म-प्रकाशन सम्बन्धी अभ्यासों की रचना के अवसर अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इसकी सफलता प्रश्नों की अच्छाई पर निर्भर करती है। इन प्रश्नों में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है—

1. सर्वप्रथम प्रश्नों की भाषा सरल, स्पष्ट एवं संक्षिप्त हो।

2. एक प्रश्न का एक ही उत्तर हो। एक ही प्रश्न के उत्तर में बहुत-सी बातों के आ जाने से छात्र सुचारु रूप से उत्तर देने में कठिनाई का अनुभव करते हैं।

3. प्रश्न सार्थक एवं उद्देश्य पूर्ण हों।

4. प्रश्न छात्रों के बौद्धिक स्तर के हों।

5. प्रश्न ऐसे न हों जिनके उत्तर हाँ या नहीं में दिये जा सकें।

6. प्रश्न स्पष्ट हों।

चित्रों के आधार पर रचना सिखाते समय यह विधि बड़ी ही उपयोगी सिद्ध होती है। आरम्भ में प्रश्नों के उत्तरों को श्यामपट्ट पर लिख देने से उनका असली स्वरूप बालकों के सामने आ जाता है किन्तु इन उत्तरों को पाठ समाप्त हो जाने पर मिटा देना चाहिए जिससे छात्र उन्हें नकल कर रट लेने के आदी न हो जायँ।

दृश्यों, जीवन चरित्रों, ऐतिहासिक घटनाओं, भौगोलिक तथ्यों, आत्म-कथाओं आदि के वर्णन के समय उद्बोधन विधि का प्रयोग करना चाहिए।

उद्बोधन विधि

उद्+बुध्+णिच्+ल्युट् प्रत्यय से बने हुए उद्बोधन शब्द का अर्थ ही है जगाना, चेताना आदि। इस विधि द्वारा छात्रों की कल्पना शक्ति को जमा कर उन्हें स्वतः सम्बद्ध विषय के विभिन्न पहलुओं के बारे में जानकारी प्राप्त करने के निमित्त प्रेरित किया जाता है और उनसे ही निर्दिष्ट विषय के संबन्ध में ज्ञातव्य बातें निकलवा ली जाती हैं। इस विधि का प्रयोग उस समय करना चाहिए जब कि छात्र वर्णनात्मक लेख लिखने में निपुण हो जायँ।

बड़ी-बड़ी बातों को सूत्र रूप में भी बतलाने की प्रथा है। प्राचीन काल में व्याकरण तथा दर्शन के गहन विषय इसी ढंग से पढ़ाये जाते थे। पाणिनीय सूत्र इस विधि के ज्वलन्त उदाहरण हैं। इन सूत्रों की व्याख्या के लिए टीका प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ था जिसके फलस्वरूप बड़े-बड़े ग्रन्थ रचे गये थे। इस विधि का प्रयोग रचना सिखाने में भी किया जा सकता है। अध्यापक सम्बद्ध विषय की मुख्य बातों को सूत्र रूप में श्यामपट्ट पर लिख दें और छात्र इनके आधार पर लेख तैयार कर लें। ये सूत्र क्रमिक हों और इनका प्रयोग जीवन चरितों कथाओं आदि के लिए किया जाय।

सूत्र विधि

प्रबोधन विधि के अनुसार अध्यापक प्रस्तावित विषय से सम्बद्ध मुख्य-मुख्य दो-चार बातें छात्रों को बता देते हैं। छात्र इन्हीं के आधार पर उसे विस्तृत कर लिखते हैं। इस विधि का प्रयोग उन विषयों के लिए किया जाता है जिनकी छात्रों को जानकारी नहीं होती है। अध्यापक ऐसे विषयों के लिए आवश्यक पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं का निर्देश भी कर दिया करते हैं जिससे छात्र उनका अध्ययन कर आवश्यक सामग्री स्वतः एकत्र कर लें और तदनन्तर उस विषय पर लेख लिखें। इस विधि का प्रयोग ऊँची कक्षाओं में किया जाय। इस विधि से छात्रों को स्वाध्याय की प्रेरणा मिलती है।

प्रबोधन विधि

पथ-प्रदर्शन विधि प्रबोधन विधि का दूसरा रूप है। इस विधि में अध्यापक उचित मन्त्रणा देकर छात्रों का पथ-प्रदर्शन करता है। वह केवल विषय से सम्बद्ध पुस्तकों, लेखों, पत्र-पत्रिकाओं के नाम बता देता है। छात्र इन्हें ढूँढ़ कर उस विषय के बारे में स्वतंत्र रूप से पढ़ते हैं, अपना नोट तैयार करते हैं और अपनी बुद्धि से लेख लिखते हैं। छात्र को इस प्रकार प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध सामग्री ही नहीं मिलती है अपितु उसे विभिन्न लेखकों के एक ही विषय से सम्बद्ध विभिन्न दृष्टिकोणों के अध्ययन करने का अवसर भी मिलता है और इस प्रकार वह अपना स्वतंत्र दृष्टिकोण बना लेता है। इस विधि से छात्रों के शब्द-भाण्डार की भी वृद्धि होती है। अध्यापक द्वारा मंत्रणा दिये जाने के कारण इस विधि को मंत्रणा-विधि भी कहते हैं।

पथ-प्रदर्शन-विधि

स्वाध्याय विधि पथ-प्रदर्शन विधि का ही विकसित रूप है। इस विधि के अनुसार छात्र स्वयं स्वतंत्र रूप से सारी बातों की खोज करता है और अपने

स्वाध्याय विधि

विषय के लिए आवश्यक सामग्री एकत्र करता है। चूंकि इसमें छात्र स्वयं सारी बातों की खोज करता है। अतः इस विधि को अनुसंधान विधि की संज्ञा दी जाती है। कुछ शिक्षाशास्त्री इसे विचार-प्रणाली भी कहते हैं। इस विधि के अनुसार सारा कार्य छात्र को ही करना पड़ता है। अतः इसका प्रयोग ऊँची कक्षाओं में ही किया जाना चाहिए। सच पूछा जाय तो उपरिलिखित तीनों विधियाँ—प्रबोधन विधि, पथ-प्रदर्शन विधि तथा स्वाध्याय विधि—एक लड़ी की तीन कड़ियाँ हैं जिनका क्रमिक प्रयोग किया जाना चाहिए। ये तीनों छात्र को रचना क्षेत्र में स्वावलम्बी बनाने में सहायक हैं। हमारे आचार्यों ने स्वाध्याय पर विशेष बल दिया है और 'स्वाध्यायात् मा प्रमद' का सन्देश भी दिया है। "शास्त्र सुचिन्तित पुनि-पुनि देखी" की उक्ति इसी की पोषिका है।

तर्क विधि

तर्क संगत विषयों के लिए जिनमें पक्ष और विपक्ष में बहुत-सी बातें कही जा सकती हैं, तर्क विधि बड़ी ही उपयुक्त है। संस्कृत राष्ट्रभाषा हो सकती है शक्ति ही शान्ति की धात्री है आदि ऐसे ही विषय हैं। इस प्रकार के सभी सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक विषयों पर लेख लिखाने के लिए इस विधि का अनुसरण करना उपयुक्त है। इस विधि को शास्त्रार्थ विधि की भी संज्ञा दी जा सकती है। लेख लिखाने के पूर्व छात्रों को दो दलों में विभक्त कर दिया जाय और उनमें से एक दल को पक्ष में तथा दूसरे दल को विपक्ष में ऐसे विषय को तैयार कर विद्यालय में दूसरे दिन आने के लिए कहा जाय। विद्यालय में उभय पक्ष के तर्कों को सुनकर तब उस विषय पर लिखने का आदेश दिया जाय। ऐसा करने से छात्रों को भाषण देने, विपक्ष की बातों का खण्डन करने तथा तथ्यपूर्ण तर्कों से अपने पक्ष का मण्डन करने का सुन्दर अवसर मिल जाता है।

अनुकरण विधि

किसी विशिष्ट लेख, आख्यान, कथानक, वर्णन, नाटक आदि को पढ़कर उसी शैली में किसी अन्य विषय पर मौलिक रचना करने में अनुकरण विधि का प्रयोग किया जाता है। अध्यापक उस विशिष्ट शैली से संबद्ध मूल तत्त्वों एवं गुणों को छात्रों को बता देते हैं और छात्र स्वतः विषय का चयन कर तदनुकूल लेख लिखते हैं। इससे छात्र उक्त शैली से पूर्णतया परिचित हो जाते हैं जो उनकी निजी शैली बनाने में सहायक होती है। इस विधि का प्रयोग ऊँची कक्षाओं के छात्रों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

आजकल विद्यालयों में रूप-रेखा-विधि का अत्यधिक प्रचलन है। अध्यापक निर्धारित विषय पर स्वकल्पित रूपरेखा श्यामपट्ट पर लिख देते हैं और बालक उसे अपनी अभ्यास पुस्तकाओं पर उतार कर तदनुकूल लेख लिख लाते हैं। किन्तु यह विधि दोष रहित नहीं है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस रूप-रेखा निर्धा- में बालक का कुछ भी हाथ नहीं रहता है। वह तो मूक एवं निष्क्रिय हो अध्यापक की लिखी हुई रूपरेखा को उतार कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेता है। पर ऐसा करना अनुचित है। इससे तो उसकी सोचने की शक्ति कुण्ठित हो जाती है और उसकी मौलिकता भी नष्ट हो जाती है क्योंकि रूप-रेखा निश्चित कर देने से उसका विचार क्षेत्र सीमित हो जाता है और वह संकुचित विचार क्षेत्र में पड़ कर परतंत्रता का अनुभव करने लगता है। अतः रूपरेखा लादी न जाय अपितु छात्रों को स्वतः अपने ढंग की रूपरेखा बनाने के लिए प्रेरित किया जाय क्योंकि सबकी सोचने की शैली अलग-अलग होती है। यह रूपरेखा सक्रम हो। इस विधि का प्रयोग वर्णनात्मक लेखों के लिए किया जाना चाहिए।

रूपरेखा-विधि

रचना-शिक्षण की सभी विधियों का अनुसरण करते समय अध्यापक तत्संबंधी आदर्श रचनाओं को भी छात्रों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। इस विधि का अनुसरण करते समय वह एक ही विषय पर विभिन्न शैलियों में लिखे हुए लेखों का आदर्श उपस्थित करे और छात्रों को इनमें से किसी एक शैली को स्वेच्छा से चुनने का आदेश दे। इस विधि के अनुसार लेख लिखाने में छात्रों को किसी भी शैली के अनुसार लेख लिखने की स्वतंत्रता रहती है। इस विधि का प्रयोग ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए किया जाना चाहिए। साधारण कक्षा के विद्यार्थी इस विधि का अनुसरण नहीं कर सकते।

आदर्श विधि

ऊँची कक्षाओं में प्रायः अध्यापक निर्धारित विषय पर एक लम्बा सा प्रवचन दे डालते हैं और फिर विद्यार्थियों को उस विषय पर लेख लिखने का आदेश देते हैं। यह विधि कहानियों एवं विवेचनात्मक विषयों पर लेख लिखाने के लिए प्रयुक्त की जानी चाहिए। इससे छात्रों की बुद्धि का विकास होता है। जहाँ तक समवाय विधि का प्रश्न है इस विधि के अन्तर्गत किसी विषय की चर्चा करते समय उससे सम्बद्ध अन्य विषयों का भी समावेश किया

प्रवचन एवं समवाय विधि

जाता है। इसलिए शिक्षण की व्यवस्था ऐसे ढंग से की जानी चाहिए कि विषय के सम्यक् ज्ञान के साथ-साथ अन्य विषयों के साथ पूर्ण समन्वय स्थापित हो सके। इस विधि का प्रयोग बेसिक शिक्षण-प्रणाली में खूब किया जाता है। कुछ शिक्षा शास्त्रियों ने इस विधि को अन्तर्योग विधि की संज्ञा दी है।

विषय-प्रबोधन एवं आदर्श विधि

विषय-प्रबोधन-विधि के अनुसार कविता करने, नाटक लिखने आदि की प्रारम्भिक शिक्षा में अध्यापक विषय, छन्द, अलंकार आदि का निर्देश दे दें जिससे छात्र उसी के आधार पर अपनी बुद्धि के अनुसार कविता अथवा नाटक की रचना कर सकें। उक्त प्रकार का निर्देश देने से छात्र केवल उस विषय को संजोने में ही अपनी कल्पना-शक्ति का प्रयोग करता है और इस प्रकार धीरे-धीरे सुन्दर से सुन्दर कविता करने तथा नाटक लिखने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। इस विधि का विकसित स्वरूप निर्देश विधि का है जिसके अनुसार छात्र को स्वतंत्र रचनात्मक साहित्य के लिए प्रेरणा दी जाती है।

उपर्युक्त विधियों में से किसी विधि का भी अनुसरण करते समय तत्संबंधी आदर्श निबन्ध छात्रों के समक्ष अवश्य प्रस्तुत किया जाय और विषय से संबद्ध शब्द-भाण्डार से भी उन्हें अवगत करा दिया जाय।

सारांश

रचना सिखाने की कई विधियाँ हैं जो इस प्रकार हैं—देखो और रचो विधि 'मोहनपेटी' पर आधारित है जिसकी चार अवस्थाएँ होती हैं—पहली में अँगुलियाँ सधती हैं, दूसरी में अक्षरों की बनावट का ज्ञान होता है, तीसरी में उनकी रचना का अभ्यास होता है और चौथी में अध्यापक की बोली सुनकर ही लिखने लगता है।

ग्रामोफोन की मशीन, लिग्वाफोन का तवा, इलस्ट्रेटिव चित्र तथा गाइड बुक भाषा यंत्र-विधि के प्रमुख अंग हैं किन्तु इन यंत्रों के बहुमूल्य होने के कारण इस विधि का बहुत ही कम प्रयोग होता है।

प्रश्नोत्तर विधि का प्रयोग प्राचीन समय में भी होता था किन्तु उस समय छात्र ही प्रश्न किया करते थे। आजकल इसके विपरीत होता है। अध्यापक छात्रों से प्रश्न पूछते हैं। इस विधि की सफलता प्रश्नों पर ही निर्भर करती है।

दृश्यों, जीवन-चरित्रों, ऐतिहासिक घटनाओं, भौगोलिक तथ्यों आत्म-कथाओं आदि के वर्णन के समय उद्‌बोधन विधि का प्रयोग होता है। बड़ी-बड़ी बातों को सूत्र रूप में बतलाने की विधि को सूत्र-विधि कहते हैं।

प्रबोधन विधि के अनुसार अध्यापक प्रस्तावित विषय से संबद्ध मुख्य-मुख्य बातें छात्रों को बता देते हैं। छात्र इन्हीं के आधार पर उसे विस्तृत कर लिखते हैं। पथदर्शन विधि इसी का दूसरा रूप है। अध्यापक द्वारा मन्त्रणा दिये जाने के कारण इस विधि को मन्त्रणा-विधि भी कहते हैं। इसी विधि के विकसित रूप को स्वाध्याय विधि कहते हैं जिसके अनुसार छात्र स्वतंत्र रूप से सम्पूर्ण बातों की खोज कर लेख लिखता है। इसी से इसे अनुसन्धान विधि भी कहते हैं।

तर्कसंगत विषयों के लिए तर्क विधि उपयुक्त है जिनमें विषय के पक्ष और विपक्ष में बहुत-सी बातें कही जा सकती हैं किसी विशिष्ट लेख, आख्यान, कथानक, वर्णन, नाटक आदि को पढ़कर उसी शैली में किसी अन्य विषय मौलिक रचना करने को अनुकरण विधि कहते हैं। रूपरेखा विधि, आदर्श विधि, प्रवचन विधि, समवाय विधि, विषय प्रबोधन विधि, निर्देश विधि आदि का भी रचना शिक्षण में प्रयोग होता है।

प्रश्न

1. रचना-शिक्षण की विभिन्न विधियों पर एक निबन्ध लिखिए।
2. प्रारम्भिक कक्षाओं में किन-किन शिक्षण विधियों का प्रयोग किया जाना चाहिए और क्यों, सोदाहरण अपने कथन की पुष्टि कीजिए।
3. ऊँची कक्षाओं में रचना सिखाने की विधियों का उल्लेख करते हुए उनकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

सहायक ग्रन्थ

1. भाषा-शिक्षण—श्री विजय नारायण चौबे।
2. भाषा शिक्षा—आचार्य सीताराम चतुर्वेदी।
3. संस्कृत शिक्षण—डा० रामशकल पाण्डेय।

अध्याय 12

पठन (पढ़ना)

पठन-शिक्षण का महत्त्व

भाषा-शिक्षण में पठन-शिक्षण का विशेष महत्त्व है। यह उसका प्रमुख अंग है। तीन 'आर' (थ्री आर[1]) में भी पढ़ने का प्रथम स्थान है। पढ़ने ही पर अन्य विषयों का अधिकांश ज्ञान निर्भर करता है। वस्तुतः ज्ञान-प्राप्ति के दो ही साधन हैं—सत्संग करना तथा पढ़ना। बहु-विद् और बहु-पठ् का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जो बहु-पठ है वही बहु-विद् है और जो बहु-विद् है वही बहु-पठ् भी। हम पढ़ कर ही व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, वाण प्रभृति विद्वानों की रचनाओं में निहित ज्ञान-निधि को प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं। इसी में हमारा संवेगात्मक एवं मानसिक विकास निहित है। यथोचित पठन-अभ्यास पर ही बालक की समस्त मानसिक और भावात्मक उन्नति आश्रित है। अतः पढ़ना साध्य भी है और साधन भी। यह एक कला है, एक शक्ति है तथा दूसरे विषयों की ज्ञान-प्राप्ति का आधार भी है। इसे शिक्षा का समानार्थी भी माना जाता है। संस्कृत आचार्यों ने 'स्वाध्यायान्माप्रमदः' का सिद्धान्त इसी आशय से प्रतिपादित किया था। छात्रों की शब्द-भाण्डार-वृद्धि, ज्ञान-वृद्धि तथा भाषा-शक्ति इसी पढ़ने पर ही अवलम्बित है। इस दृष्टि से लिखने और बोलने की अपेक्षा पढ़ने का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। लिखने और बोलने की क्रिया पठन-क्रिया पर ही निर्भर करती है। यह क्रिया इन दोनों की पथ-प्रदर्शिका है। जो बहु-पठ् है वही अच्छा लेखक और वक्ता भी हो सकता है। शिक्षा का समानार्थी होने के नाते, प्रायः देखा जाता है कि साक्षात्कार तथा इसी प्रकार के अन्य अवसरों पर लोगों की ज्ञान-परीक्षा के निमित्त उनके समक्ष समाचार पत्र, पुस्तक आदि पठन-सामग्री प्रस्तुत कर दी जाती है और उनसे पढ़ने के लिए कहा जाता है। लोगों को यह भी पूछते हुए सुना गया है कि आप ने कहाँ तक पढ़ा है। पठन भावों के आदान-प्रदान का भी प्रमुख साधन है। हम दूसरों

---

1. थ्री आर = रीडिंग, राइटिंग तथा रिथमेटिक।

के लिपिबद्ध भावों को पढ़ कर ही ग्रहण करते हैं। आजकल के यांत्रिक जगत् के अत्यन्त व्यस्त जीवन में जहाँ लोगों को वार्त्तालाप करने का बहुत कम अवसर मिल पाता है, लोग अपने भावों को लिख कर ही व्यक्त करते हैं जिन्हें दूसरे पढ़ कर ही समझते हैं। अतः पठन-क्रिया का हमारे जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

पठन की परिभाषा

लिपिबद्ध भावों के अर्थ-ग्रहण करने की प्रक्रिया को पढ़ना कहते हैं। यह क्रिया बड़ी ही संश्लिष्ट है। शब्दों के उच्चारण करने और उनके अर्थ समझ लेने को ही पढ़ना नहीं कहा जा सकता। शब्दों के अर्थों को मिला कर पूरे वाक्य का तथा वाक्यों के अर्थों को मिला कर पूरे पाठ का अर्थ समझ लेना पठन-क्रिया के लिए आवश्यक है। यह क्रिया उद्देश्यपूर्ण होती है। उद्देश्य-पूर्ण पठन भी कई प्रकार का होता है, जैसे सूचना के लिए, मनोरंजन के लिए, कहानी का कथानक ज्ञात करने के लिए, सूक्ष्म अध्ययन के लिए पढ़ना आदि। इसमें कुशलता प्राप्त करने के लिए कोश देखने, पत्र-पत्रिकाओं से सहायता लेने, अनुक्रमणिका का उपयोग करने, पुस्तकालयों से उचित पुस्तकों को लेकर अध्ययन करने, पुस्तक संग्रह करने तथा पढ़कर उचित सामग्री ढूँढ़ लेने के ढंग से परिचित होना भी आवश्यक है। किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि विद्यालयों में इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता।

पठनारम्भ का समय

जैसा कि मौखिक आत्म-प्रकाशन वाले पाठ में इस बात की चर्चा की गई है कि भाषा-शिक्षण में मौखिक आत्म-प्रकाशन, पठन तथा लेखन सक्रम क्रियाएँ हैं, पठन-शिक्षण का आरम्भ मौखिक आत्म-प्रकाशन के पश्चात् किया जाना चाहिए। हेराल्ड ई पामर, प्रो० पी० गैरी, एम० एम० लेविस, वाईल्डर पेन फील्ड प्रभृति विद्वान भी इसी मत के पोषक हैं। बालकों को चलना सिखाने के पश्चात् ही दौड़ना सिखाया जाता है। इसी प्रकार उन्हें मौखिक आत्म-प्रकाशन में अभ्यस्त हो जाने के पश्चात् ही पढ़ने की शिक्षा देनी चाहिए। पढ़ते समय छात्रों को अक्षरों का ज्ञान, शब्दों की परख तथा उनका ध्वनियों के साथ संबंध स्थापित करना पड़ता है। अतः पढ़ने की शिक्षा देने के पूर्व अध्यापक भली-भाँति जान लें कि छात्रों में उक्त प्रकार की क्षमता आ गयी है कि नहीं। पढ़ने के समय छात्रों को तालु, जिह्वा, ओष्ठ, कण्ठ, दन्त आदि का प्रयोग करना पड़ता है। क्योंकि वर्णों एवं शब्दों के उच्चारण में इनके प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है।

हाई स्कूलों अथवा इण्टरमीडियट कालेजों में संस्कृत का आरम्भ कक्षा छः से होता है। उस समय तक छात्र पाँचवीं कक्षा तक मातृभाषा का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिये रहते हैं। वे अपने सम्बन्धियों, परिवार के लोगों, ग्राम, नगर, घरेलू वस्तुओं, विद्यालय उपकरणों आदि से परिचित रहते हैं। वे मातृभाषा के अनेक तत्सम एवं तद्भव शब्दों का भी ज्ञान रखते हैं। उन्हें सामाजिक जीवन एवं शिष्टाचार सम्बन्धी नियमों यथा प्रणाम, नमस्कार, आशीर्वाद, प्रार्थना, नम्रता आदि का बोध रहता है। वे अपनी मातृभाषा की पठन-शैली से भी अवगत रहते हैं। किन्तु इस पठन-शैली तथा संस्कृत-पठन-पद्धति में अन्तर होता है। संस्कृत में विभक्ति-युक्त, सन्धि-युक्त आदि पदों के अतिरिक्त समस्त-पदों की भी भरमार रहती है। अतः इनके पढ़ने में कठिनाई होती है। इसे समझने तथा दूर करने के निमित्त राष्ट्रीय शैक्षणिक एवं अनुसन्धान परिषद् द्वारा तैयार किये गये परीक्षणों द्वारा छात्रों की पठन-योग्यता की जाँच कर ली जाय और तदनुकूल व्यवस्था कर पठनारम्भ किया जाय।

पठन-क्रिया के चार प्रमुख अंग होते हैं—अर्थ बोध, पठन-गति, शब्द-भाण्डार की वृद्धि तथा व्यक्त पठन। अर्थ-बोध के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

पठन-क्रिया के विभिन्न अंग

1—निर्धारित तथा अन्य उपयुक्त सामग्री को पढ़कर सरलता से उसके अर्थ-ग्रहण की क्षमता प्राप्त करना तथा उसका दैनिक जीवन में प्रयोग करना। 2—केन्द्रीय भाव-ग्रहण के साथ ही साथ प्रस्तुत सामग्री के प्रत्यक्ष तथा प्रच्छन्न अर्थ का बोध अर्थात् उसके वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ का बोध। 3—पठित-अंश की विविध अन्वितियों के पारस्परिक अर्थ को समझ कर उसका सारांश ग्रहण करने की क्षमता। 4—बिखरे हुए विचारों को एक सूत्र में पिरोने की क्षमता। 5—तथ्यों को स्मरण कर सप्रसंग निष्कर्ष निकालना 6—प्रसंगानुसार कुछ शब्दों का अर्थ जाने बिना भी सामान्य, अर्थ-ग्रहण की क्षमता। 7—वर्णित सामग्री में कार्य-कारण-सम्बन्ध परखने की क्षमता, पात्रों के चरित्र-विषयक तथा अन्य प्रकार के निष्कर्ष निकालने एवं आवश्यक-अनावश्यक बातें समझते हुए विषय को ग्रहण करने की योग्यता। 8—पढ़कर समझे हुए अर्थ को अपने शब्दों में विस्तारपूर्वक व्यक्त करने की योग्यता, तथा 9—विषय-वस्तु की व्याख्या करना।

पठन-गति

पठन-क्रिया के प्रमुख अंगों में पठन-गति का द्वितीय स्थान है। इसके अन्तर्गत विषयानुसार एवं आवश्यकतानुसार पठन-कार्य में गति प्राप्त करना, मनोरंजन और ज्ञान-वृद्धि की दृष्टि से पढ़ने की प्रेरणा प्राप्त करना, एतत्सम्बन्धी सामग्री को शीघ्रता से पढ़ना आदि बातें आती हैं। शिक्षा-विशारदों की जाँच के आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि पाँच मिनट में सरल सामग्री के लगभग तीन पृष्ठ कक्षा छः में, चार पृष्ठ कक्षा सात में, और पाँच पृष्ठ कक्षा आठ में पढ़ने की गति होती है। इस प्रकार कक्षा सात और आठ के विद्यार्थियों को एक मिनट में लगभग एक पृष्ठ पढ़ लेना चाहिए।

शब्द-भाण्डार-वृद्धि का पठन-क्रिया के प्रमुख अंगों में तृतीय स्थान है। कोश, सन्दर्भ-पुस्तकों, पुस्तक-सूची, परिशिष्ट, अनुक्रमणिका आदि का प्रयोग करने की क्षमता प्राप्त करने, पठित विषय पर उपयुक्त सामग्री एकत्र करने तथा रेखा-चित्रों, ग्रैफिकल टाइम चार्टों, विविध-सारिणियों आदि को समझने की योग्यता प्राप्त करने आदि से सम्बद्ध बातें इसके अन्तर्गत निहित हैं।

स्पष्ट एवं शुद्धोच्चारण के साथ उचित गति से पढ़ना पठन-क्रिया का चतुर्थ महत्त्वपूर्ण अंग हैं। प्रारम्भिक अवस्था में निम्नलिखित वर्णों के उच्चारण पर विशेष बल दिया जाना चाहिए—

इ, उ, ऋ, ऐ (शान्ति, साधु, ऋषि, धैर्य आदि), प्रारम्भिक श और स (श्लोक, स्थान आदि), अन्तिम य, व (व्यय, द्वन्द्व आदि) छ, च्छ, क्ष (छात्र, इच्छा, क्षत्रिय आदि) ब, ब, ट, ठ (परिशिष्ट, ज्येष्ठ आदि)—इन बातों पर 'शुद्धोच्चारण-शिक्षण' वाले पाठ में विस्तार के साथ प्रकाश डाला गया है।

पठन-शिक्षण में इन उपर्युक्त अंगों का विकास किया जाना चाहिए पर तथ्य तो यह है कि हमारी पठन-शिक्षा में इनमें से बहुत से अंग अविकसित रह जाते हैं। फलतः ऊँची कक्षाओं में पहुँचने पर भी छात्र कोश देखना, अनुक्रमणिका देखना, कई पुस्तकों को पढ़कर नोट तैयार करना आदि बातें नहीं जानते। अतः स्वाध्याय करने को कौन कहे, उसके नाम को भी वे नहीं जान पाते हैं। यह सब दोष हमारी पाठशालाओं में प्रचलित वर्तमान पठन-शिक्षण-पद्धति का है। इसके अतिरिक्त पाठ्य-पुस्तकों पर अधिक महत्त्व देने की भ्रान्त धारणा, उपयुक्त पुस्तकों का अभाव, दूषित परीक्षा-प्रणाली, प्रारम्भिक अशिक्षा अथवा कुशिक्षा आदि भी इसके प्रमुख कारण हैं। प्रायः देखा जाता है कि शिक्षक स्वयं पाठ को पढ़कर उसका अर्थ बता देते हैं जिसके

कारण छात्रों को पढ़ने का सुअवसर ही नहीं मिल पाता है और न तो पढ़ने की उचित आदतें बन पाती हैं।

वस्तुतः पढ़ना एक व्यक्तिगत क्रिया है। उसका सम्बन्ध व्यक्ति विशेष से रहता है। प्रत्येक छात्र को उसका स्वतंत्र रूप से अभ्यास करने की आवश्यकता पड़ती है। इसका इतना अधिक महत्त्व था कि प्राचीन काल में गुरु शिष्य को व्यक्तिगत रूप से शिक्षा देते थे और इसे सिखाने के लिए अधिक से अधिक समय[1] देते थे। इस समय के शिक्षा विदों ने 'स्वाध्यायान्माप्रमद' का नारा बुलन्द किया था। पढ़ना, सीखने और इसे सुधारने के लिए इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त 'जान काटन डैना' के निम्नलिखित नियमों का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है—

पठन एक व्यक्तिगत प्रक्रिया

"पढ़ो, पढ़ो, कुछ और पढ़ो, कुछ भी पढ़ो, प्रत्येक वस्तु के विषय में पढ़ो, मनोरंजक सामग्री पढ़ो, रुचिकर सामग्री पढ़ो, पठित विषय के बारे में पढ़ो, कुछ वस्तुएँ सावधानी के साथ पढ़ो, अधिकांश वस्तुएँ सरसरी तौर से पढ़ो, पढ़ने के बारे में मत सोचो और केवल पढ़ो।" इन नियमों का यदि सूक्ष्म अध्ययन किया जाय, इनके अनुसार पढ़ा जाय और छात्रों को समुचित पठन-सामग्री दी जाय जिसे वे पढ़ें तथा जिसके बारे में वे चर्चा करें तो एतत् संबन्धी अधिकांश बातें सम्पन्न हो जायँगी।

पठन दो प्रकार का होता है—सस्वर पठन तथा मौन पठन। प्रारम्भ में सस्वर पठन की विशेष आवश्यकता होती है। यह वह आवश्यक सोपान है जहाँ लिपि-संकेतों से अर्थ का सीधा संबन्ध स्थापित होता है। वाक्-कला को विकसित करना भाषा-शिक्षण का मुख्य उद्देश्य होता है। इस दृष्टि से इस प्रकार के पठन का विशेष महत्त्व है क्योंकि इसके माध्यम से छात्र मौखिक आत्माभिव्यक्ति की कला सीखते हैं। वे संस्कृत बोलने में अभ्यस्त और निर्भीक होकर अपने भावों को व्यक्त करने में समर्थ हो जाते हैं। वाद-विवाद प्रतियोगिताओं के अवसर पर बोलने का उन्हें पर्याप्त अभ्यास हो जाता है। हमारे पूर्वजों ने इस विषय

सस्वर पठन

---

1. अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थं तु मध्यमाम्।
शिष्याणामुपदेशार्थं कुर्याद्वृत्तिं विलम्बिताम्॥
—याज्ञवल्क्य शिक्षा

के महत्त्व पर शिक्षा नामक वेदांग में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है। इस संबन्ध में निम्नलिखित श्लोक विशेष महत्त्व के हैं जिससे प्रायः सभी संस्कृतज्ञ परिचित हैं—

यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत, सकलं शकलं सकृच्छकृत्॥

यह पिता का पुत्र के प्रति वात्सल्यपूर्ण उपदेश है। सस्वर पठन में उच्चारण शुद्धि की प्रबल प्रेरणा देने वाला इससे अधिक महत्त्व का सम्भवतः कोई दूसरा उदाहरण हो। इसमें उपहास है, अज्ञता है, ग्लानि है और इन सबसे बचने के लिए एक सच्चा उपदेश है। पिता पुत्र से प्रेमपूर्वक कहता है कि पुत्र! तुम अधिक समय से तर्क-शास्त्र का अध्ययन कर रहे हो, फिर भी तुम व्याकरण अवश्य पढ़ो। व्याकरण का पूर्ण ज्ञान होने पर तुम अक्षरों तथा पदों का शुद्ध उच्चारण कर शुद्ध सस्वर पाठ कर सकोगे। इससे समाज में तुम्हारा अनादर नहीं होगा और तुम उपर्युक्त दोषों से मुक्त हो जाओगे।

सस्वर पठन के उद्देश्य

वस्तुतः सस्वर पठन का मुख्य उद्देश्य यह है कि छात्र प्रस्तावित अंश का शुद्ध-शुद्ध उच्चारण कर भावानुकूल आरोहावरोह के साथ उसे पढ़ सकें। वे अपनी वाणी को नियंत्रित कर सकें और उसमें अवसरानुकूल ओज, प्रसाद एवं माधुर्य गुणों का समावेश कर सकें। वे पाठ करते समय विशिष्ट शब्द-समूहों का ध्यान रख सकें। शिक्षा प्रकरण में इस संबन्ध में बहुत से उपदेश एवं निर्देश दिये गये हैं जिनकी जानकारी प्राप्त करना प्रत्येक शिक्षक के लिए नितान्त आवश्यक है। शिक्षा विशारद महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है कि पढ़ते[1] समय वर्णों का उच्चारण मधुर तथा स्पष्ट हो। वर्ण एक दूसरे से प्रभावित न हों। सभी वर्णों का उच्चारण इस प्रकार किया जाय कि वे एक दूसरे से मिले हुए न प्रतीत हों। जिस प्रकार मतवाला हाथी एक पैर रखने के पश्चात् दूसरा पैर सावधानी से रखता है, उसी प्रकार एक-एक पद को

---

1. मधुरं च न चाव्यक्तं व्यक्तं चापि न पीडितम्।
स नाथस्यैकदेशस्य न वर्णाः संकरं गताः॥
यथा सुमत्तो नागेन्द्रः पदात्पदं निधापयेत्।
एवं पदं पदाद्यंतं दर्शनीयं पृथक्-पृथक्॥
(याज्ञवल्क्य शिक्षा)

स्पष्ट बोलना चाहिए। इससे सम्बद्ध अन्य बातों की जानकारी के लिए शुद्धोच्चारण-शिक्षण वाले पाठ को भी देखें।

सस्वर-पठन संचालन-विधि

छात्रों द्वारा सस्वर पठन कराने के पूर्व अध्यापक को स्वयं प्रस्तावित अंश का आदर्श पाठ करना चाहिए। उसके द्वारा प्रस्तुत यह आदर्श पाठ वस्तुतः आदर्श पाठ हो क्योंकि इसी का अनुकरण कर छात्र इस अंश का सस्वर पाठ करते हैं। यदि एक बार के आदर्श पाठ करने पर भी छात्र तद्वत् पाठ करने में अपने को असमर्थ पाते हों तो अध्यापक को एक से अधिक बार भी आदर्श पाठ प्रस्तुत करना चाहिए। छात्र जब सस्वर पठन करने लगें तो उनकी अशुद्धियों का ध्यान रखा जाय और उन्हें बाद में शुद्ध कर दिया जाय। सर्वप्रथम अच्छे छात्रों से ही सस्वर पठन कराया जाय जिससे अन्य छात्रों को आदर्श पाठ का अनुकरण करने के लिए अधिक से अधिक अवसर मिल सके। इसके पूर्व कठिन शब्दों का उच्चारण-अभ्यास करा दिया जाय और सन्धि-विच्छेद तथा समास-विग्रह भी कर दिया जाय। बालक अनुकरणशील होते हैं। वे जैसा सुनते हैं वैसा ही कहते भी हैं। छात्र एक साथ मिलकर अध्यापक द्वारा उच्चारित शब्द का उच्चारण करें। इससे अयोग्य छात्रों को प्रोत्साहन मिलता है और वे फिर स्वतंत्र रूप से उच्चारण करने में संकोच नहीं करते। सबसे अन्त में अयोग्य छात्रों से सस्वर पठन करवाया जाय। जिस समय छात्र सस्वर पठन करते हों, उस समय पुस्तक उनके बाँये हाथ में हो और नेत्रों से लगभग एक फुट की दूरी पर हो तथा 45% का कोण बनाती हुई हो। छात्र के खड़े होने के ढंग पर भी ध्यान दिया जाय। जिस समय कोई एक छात्र पढ़ रहा हो, उस समय दूसरे छात्र उसी अंश को अपनी पुस्तक में देखते चलें।

सस्वर पठन-शोधन के उपाय

प्रायः देखा गया है कि कुछ अध्यापक एक शब्द के केवल एक ही अक्षर का उच्चारण ठीक कराने में उलझ जाते हैं, किन्तु यह पद्धति मनोवैज्ञानिक पद्धति के सर्वथा प्रतिकूल है। शब्द वर्णों का समूह है। अतः सस्वर पठन के समय उच्चारण संबन्धी दोषों को ठीक कराते समय सम्पूर्ण शब्द को लेना चाहिए न कि केवल एक अक्षर को। यथा कल्पना कर लीजिए कि कोई छात्र 'रमेश' को 'रमेस' कहता है। ऐसी दशा में केवल 'श' की ही नहीं अपितु पूरे 'रमेश' शब्द की विभिन्न प्रसंगों में आवृत्ति करानी चाहिए। 'रमेश' शब्द का

सन्धि-विच्छेद कर प्रत्येक पद का अलग-अलग अर्थ भी बता देना चाहिए जिससे छात्र पुनः इसका अशुद्ध उच्चारण न कर सके।

पाणिनि, याज्ञवल्क्यादि महर्षियों ने अपने ग्रन्थों में सस्वर-पठन संबन्धी दोषों का सुन्दर विवेचन किया है। याज्ञवल्क्य शिक्षा[1] में एतत्संबन्धी चौदह दोषों का उल्लेख है, जो इस प्रकार हैं—

1. शंकित होना,
2. भयभीत होना,
3. वर्णों को बीच-बीच में पकड़ते हुए बोलना,
4. स्पष्ट न बोलना,
5. नाक से बोलना,
6. काक स्वर में बोलना,
7. मूर्द्धा से बोलना,
8. स्थानादि का विचार न करते हुए बोलना,
9. स्वर रहित बोलना,
10. मिला-मिला कर स्पष्ट न बोलना,
11. नीरस ढंग से बोलना,
12. विषम स्वर में बोलना,
13. व्याकुल होकर बोलना,
14. तालुहीन की तरह बोलना।

पाणिनीय शिक्षा[2] में भी सस्वर पठन के दोषों का उल्लेख है जो इस प्रकार हैं---मन में ही गुनगुनाना, जीभ दबाकर बोलना, जल्दी-जल्दी पढ़ना, वर्णों को

---

1. शङ्कितं भीतमुद्धुष्टमव्यक्तमनुनासिकम्।
काकस्वरं मूर्द्धिन्गतं तथा स्थानविवर्जितम्॥
विस्वरं विरसं चैव विश्लिष्टं विषमाहतम्।
व्याकुलं तालुहीनं च पाठ दोषाश्चतुर्दश॥ (याज्ञवल्क्य शिक्षा)

2. उपांशु दृष्टं त्वरितं विलम्बितं गद्गदितं प्रगीतम्।
निष्पीडितं ग्रस्तपदाक्षरं च पठेन्नदीनं न तु सानुनास्यम्॥
गीती शीघ्री शिरःकम्पी यथालिखित पाठकाः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाऽधमाः॥ (पाणिनीय शिक्षा)

अच्छे एवं बुरे पाठकों के लक्षण

फेंकते हुए पढ़ना, देर करके पढ़ना, गा-गाकर पढ़ना, तुतलाकर एवं मुख के भीतर ही बुदबुदाना, वर्णों को चबा-चबाकर पढ़ना, अपूर्ण उच्चारण करना, दीन की तरह बोलना और नाक से बोलना, ये सस्वर पठन के दोष हैं। इन दोषों से युक्त पाठक अधम होते हैं। उत्तम पाठ करने वाले की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए याज्ञवल्क्य जी ने लिखा है कि इनके पाठ की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—मधुरता, अक्षरों का स्पष्ट उच्चारण, पदों का उचित विभाजन, सुन्दर स्वर, धैर्य तथा लय। इन गुणों से सम्पन्न पाठ करने वाले उच्च कोटि के पाठक होते हैं। जो लोग प्रसन्न चित्त होकर, कछुए की तरह अपने अंगों को समेट कर, चेष्टाओं को नियंत्रित कर, दृढ़ संकल्प, स्वस्थ, शान्त चित्त तथा निडर होकर पाठ करते हैं, वे ही अच्छे पाठक कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त कल्याणकारी प्रकृति वाले, सुन्दर दाँतों और ओठों वाले, उच्चारण करने में प्रगल्भ एवं विनीत व्यक्तियों की भी गणना अच्छे पाठकों में होती है किन्तु जिनकी आकृति भयंकर है, ओठ लम्बे हैं, स्वर गद्गद है, और जीभ बँधी हुई है, वे वर्णों का शुद्धोच्चारण नहीं कर सकते हैं। फलतः वे अच्छे पाठक नहीं हो सकते हैं। नाक से बोलने वाले भी सस्वर पठन सुचारु रूप से नहीं कर सकते हैं।[1]

मौन पठन के उद्देश्य

संस्कृत शिक्षण में सस्वर पठन का विशेष महत्त्व है किन्तु छात्र जब इस क्रिया में अभ्यस्त हो जाते हैं तो धीरे-धीरे यह गौण और मौन पठन मुख्य होता जाता है। उच्च कक्षाओं में सस्वर पठन अर्थ-ग्रहण करने का साधन न होकर अर्थाभिव्यक्ति का साधन बन जाता है। अर्थ-ग्रहण ज्ञान-प्राप्ति अथवा मनोरंजन आदि के लिए मौन पठन का अपना विशिष्ट स्थान होता है। यह तो मनोरंजन का प्रमुख साधन है—यथा कहानी, प्रहसन, उपन्यास आदि का पठन। साधारण ज्ञान-प्राप्ति हेतु भी मौन पठन आवश्यक है। विज्ञान, दर्शन, इतिहास आदि गहन विषयों के अध्ययन में भी मौन-पठन सहायक होता है। समाचार जानने की दृष्टि से भी यह उपयोगी है। लक्ष्य की दृष्टि से पठन-गति मन्द अथवा सवेग होती रहती है।

आजकल के यांत्रिक युग में विभिन्न विषयों पर विभिन्न प्रकार की पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएँ आदि प्रकाशित होती रहती हैं जिनका पढ़ना नागरिकता की दृष्टि

---

1. देखिए पाणिनीय शिक्षा।

मौन एवं सस्वर पठन में अन्तर

से परम आवश्यक है। इसके लिए मौन पठन ही अत्यधिक व्यावहारिक है क्योंकि समाज में हर समय एवं हर स्थान पर सस्वर पठन न तो वाञ्छनीय ही है और न व्यावहारिक ही। अतः मौन पठन की सामाजिक जीवन में सस्वर पठन की अपेक्षा अधिक उपयोगिता है। इसमें इसकी अपेक्षा समय भी कम लगता है। नेत्र संचालन की गति तीव्र और वाणी की गति धीमी होती है। स्वर उच्चारण में समय अधिक लगता है। मौन पठन में इनके उच्चारण की आवश्यकता ही नहीं होती है। अतः मौन पठन में समय और शक्ति दोनों की बचत होती है। सस्वर पठन में वाणी, नेत्र और मस्तिष्क तीनों ही सक्रिय रहते हैं जबकि मौन पठन में केवल नेत्र तथा मस्तिष्क ही क्रियाशील रहते हैं। भावों को हृदयङ्गम करने की दृष्टि से भी सस्वर पठन की अपेक्षा मौन पठन का अधिक महत्त्व है। प्रथम में उच्चारण एवं ध्वनि पर विशेष ध्यान रखना पड़ता है जबकि दूसरे में केवल भाव पर ही ध्यान केन्द्रित रहता है। अतः भाव ग्रहण की दृष्टि से मौन पठन का सर्वाधिक महत्त्व है।

इस पाठ के आरम्भ में पठन क्रिया के चार मुख्य अंगों की चर्चा की गयी है। इनमें प्रथम तीन के अन्तर्गत उल्लिखित बातें मौन पठन के ही आवश्यक तत्त्व हैं। इनके अतिरिक्त मौन-पठन की क्रिया को सुसम्पन्न करने के लिए चक्षुगति के प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है जिससे वह लयपूर्ण गति के साथ बायीं ओर से दाहिनी ओर को शीघ्रतापूर्वक बढ़ती चले। पढ़ते समय आँख बीच-बीच में रुकती हुई आगे बढ़ती है। इसी रुकाव की बेला में ही पढ़ने का वास्तविक कार्य होता है। इस क्रिया में ज्यों-ज्यों कुशलता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों इन चक्षु-विश्रामों की अवधि कम होती जाती है और चक्षु गति भी लयपूर्ण होती जाती है। चक्षु गति को समुचित रूप से विकसित करना मौन पठन का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। मौन पठन की अपेक्षा सस्वर पठन में अधिक चक्षु-विश्राम होते हैं और विश्राम का समय भी अधिक होता है। इसीलिए इसकी गति भी इसकी अपेक्षा मन्द होती है। सस्वर पठन में आँख वाणी के आगे रहती है और मौन पाठ में आँख अर्थ-बोध-स्थल से आगे रहती है। इस वाणी तथा अर्थ-बोध-बिन्दु से दृष्टि केन्द्र को अधिक से अधिक दूरी पर रखने का प्रयास करना चाहिए। अध्यापक को इस बात का प्रयास करना चाहिए कि छात्रों को मन्द चक्षुगति का अभ्यास न हो जिसमें आँख आगे बढ़ कर पीछे लौट आती है। इससे पठन-गति में बाधा उत्पन्न होती है।

मौन पठन के आवश्यक तत्त्व

मौन पठन संचालन विधि

प्रायः देखा गया है कि छात्र मौन-पाठ करते समय गुनगुना कर पढ़ते हैं। यह एक बुरी आदत है। इसे दूर करने की आवश्यकता है। इससे कक्षा में गुन-गुनाहट उत्पन्न हो जाती है जिससे दूसरों के पढ़ने तथा पठन गति में बाधा उत्पन्न होती है। पढ़ना सिखाने में मौन पाठ का विशेष स्थान है। सस्वर पठन के पूर्व भी मौन पठन आवश्यक है। पाठ्य-पुस्तक और द्रुत पाठ्य-पुस्तक दोनों का मौन पठन होना चाहिए। मौन पठन के पूर्व छात्रों को आवश्यक निर्देश दे दिये जायँ और यह बतला दिया जाय कि उन्हें कहाँ से कहाँ तक पढ़ना है। मौन पाठ करते समय छात्र मुख से कुछ भी न कहें। यहाँ तक कि अपने ओठों तक को भी न हिलायें और न गुनगुनायें। वे केवल आँखों से पढ़ें और शान्तिपूर्वक पढ़ें। पढ़ते समय पंक्तियों पर न तो उँगली चलायें और न पेन्सिल। इस समय कक्षा में जितनी अधिक शान्ति होगी, पाठ भी उतना ही अधिक सफल होगा। अतः कक्षा में शांत वातावरण उत्पन्न कर ही मौन-पठन-कार्य दिया जाय। इसके पूर्व छात्रों के समक्ष कोई न कोई प्रश्न अथवा समस्या अवश्य रख दी जाय जिसका उत्तर वे पढ़ कर ढूँढ़ें। यह प्रश्न सरल और सामान्य हो। यदि कोई कठिन बात हो और बालकों की समझ से बाहर हो तो उसे पहले से ही छात्रों को बता दिया जाय। छात्रों को यह भी आदेश दे दिया जाय कि जब वे निर्धारित अंश को पढ़ लें तो अध्यापक की ओर देखें। इससे यह ज्ञात हो जायगा कि लड़कों ने पढ़ना समाप्त कर लिया है।

जब बालक पढ़ना आरम्भ कर दें तो उस समय शिक्षक केवल अपने स्थान पर खड़े होकर निरीक्षण करें और यह देखें कि कौन छात्र ठीक ढंग से पढ़ रहा है और कौन नहीं। जो छात्र ठीक ढंग से न पढ़ रहें हों उनके पास जाकर उन्हें टोकें और उनसे ठीक ढंग से पढ़ने के लिए कहें। वे यह भी देखें कौन से बालक मनोयोग से पढ़ रहे हैं, कौन शीघ्रता के साथ पढ़ रहे हैं और कौन पिछड़े हुए हैं। ऐसा करने से उन्हें बालकों की योग्यता और अयोग्यता का अभास हो जायगा और वे उनका उचित मार्ग-दर्शन कर सकेंगे। पढ़ने के उपरान्त ऐसे प्रश्न पूछे जायँ जिससे यह ज्ञात हो जाय कि बालक कहाँ तक समझ गये हैं।

जहाँ तक द्रुत पाठ्य-पुस्तकों के पठन का प्रश्न है इनको घर पर या विद्यालयों में पढ़ने के लिए आदेश देने के पूर्व प्रस्तावित पाठ के सम्बन्ध में कुछ इस प्रकार से चर्चा कर दी जाय जिससे छात्रों की जिज्ञासा जागरित हो जाय। पढ़ने

का सारा कार्य विद्यालय में ही नहीं हो सकता। अतः लड़कों में घर पर ठीक ढंग से पढ़ने की आदत डालना वांछनीय है।

पढ़ने की परीक्षा

पढ़ने के बारे में बालकों की परख के लिए समय-समय पर उनकी परीक्षा ली जाय जिसमें समझ, शब्द-भाण्डार, गति, उच्चारण, उतार, चढ़ाव आदि सभी तत्त्वों का समावेश हो। प्रश्नों के उत्तर देना, कहानी सुनाना, कहानी को चिह्नों, संकेतों आदि के आधार पर पूर्ण करना, अनुच्छेदों के शीर्षक देना, सत्यासत्य बताना, रिक्त स्थानों की पूर्ति करना आदि इस परीक्षा की कुछ विशिष्ट विधियाँ हैं। इस परीक्षा से यह ज्ञात हो जायगा कि कौन-से बालक पिछड़े हुए हैं। इस प्रकार के छात्र बार-बार पिछली पढ़ी हुई पंक्तियों को पढ़ते हैं। उनकी चक्षु-गति में लय नहीं होती है। वे पृष्ठों को बड़ी देर से उलटते हैं और सस्वर पठन में शब्दों का अस्पष्ट उच्चारण करते हैं। ऐसे बालक पंक्तियों के अनुसरण में उँगली अथवा पेंसिल का प्रयोग करते है। वे आँखों के स्थान पर सिर को आगे बढ़ाते हैं। उनकी पठन-गति मन्द होती है और वे अपनी 'सीट' पर बड़े चंचल दिखाई पड़ते है। यदि अधिकांश लड़कों में यही बात पायी जाय तो समझ लेना चाहिए कि पठन-सामग्री इस कक्षा के लिए उपयुक्त नहीं है और उसमें परिवर्तन वाञ्छनीय है।

पिछड़े हुए बालक

पढ़ने में छात्रों के पिछड़ेपन का ज्ञान हो जाने पर उसे दूर करना आवश्यक है। उसे दूर करने के लिए निम्नलिखित उपाय हैं—

उपचार

'सरल से कठिन' तथा 'स्थूल से सूक्ष्म' के सिद्धान्त का अनुसरण कर तदनुकूल पठन-सामग्री दी जाय क्योंकि लय पूर्ण चक्षु-गति सरल सामग्री से ही उत्पन्न होती है। कार्डों पर शब्द, वाक्य अथवा वाक्यांश लिख कर बालकों को थोड़ी देर दिखा कर उनके बारे में प्रश्न पूछे जायँ क्योंकि हम शब्दों को उनकी सम्पूर्णता के आधार पर पढ़ते हैं। सत्यासत्य के प्रश्न अथवा वाक्य-पूर्ति सम्बन्धी अभ्यास से भी यह कमी दूर हो जाती है। पढ़ी हुई पुस्तकों अथवा शब्दों की सूची से भी पठन क्रिया का अभ्यास होता है। पठनीय सामग्री की रोचकता की चर्चा की जाय जिससे पढ़ने में रुचि उत्पन्न हो। इनके अतिरिक्त पढ़ने को सोद्देश्य बनाया जाय, अभिनय कराया जाय, निबन्ध लिखाया जाय, वाद-विवाद अथवा

व्याख्यान की तैयारी करायी जाय, कहानी कहलवायी जाय तथा अन्त्याक्षरी का आयोजन किया जाय।

प्रचुर मात्रा में पढ़वाना ही पढ़ने की शिक्षा देने का सबसे अच्छा साधन है। यह कार्य तभी हो सकता है जबकि विद्यालयों में सुन्दर पुस्तकालयों की व्यवस्था हो। पर खेद तो इस बात का है कि अधिकांश विद्यालयों में पुस्तकालय हैं ही नहीं और यदि हैं तो वे सुव्यवस्थित नहीं हैं। फलतः छात्र उनसे पर्याप्त लाभ नहीं उठा पाते हैं। उनके सामान्य ज्ञान और शब्द-भाण्डार की वृद्धि नहीं हो पाती तथा इससे पोषित होने वाले अंग पुष्ट नहीं हो पाते। ऐसी दशा में निम्नलिखित प्रकार के सुधार वाञ्छनीय हैं—

पुस्तकालय

प्रत्येक विद्यालय में एक केन्द्रीय पुस्तकालय हो जिसमें उपयोगी पुस्तकों के अतिरिक्त दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, पत्र-पत्रिकाओं की व्यवस्था हो जिन्हें छात्र सुविधापूर्वक पढ़ सकें। इस पुस्तकालय से कक्षा-स्तर के अनुकूल पुस्तकें लेकर कक्षा-पुस्तकालय की व्यवस्था की जाय जहाँ से छात्र सुविधानुसार पुस्तकें ले सकें और पढ़ सकें। पुस्तकों को खरीदने के लिए अधिक धनराशि स्वीकृत करने के निमित्त शिक्षा-विभाग से प्रार्थना की जाय। कभी-कभी विद्यालय में कोई मनोरंजक कार्य आयोजित कर शिक्षा-प्रेमी आगन्तुकों से पुस्तकालय के निमित्त दान के लिए प्रार्थना की जा सकती है। पुस्तक-दान द्वारा भी इस समस्या का समाधान हो सकता है। बालक अपने-आप कुछ-न-कुछ पढ़ना चाहते हैं। अच्छी पुस्तकों के न मिलने पर वे निम्न कोटि की पुस्तके पढ़ने लगते हैं। अतः अच्छी पुस्तकों की व्यवस्था कर उन्हें इस अवाञ्छित मार्ग से हटा कर सुपथ पर लाया जाय। अच्छी पुस्तकों की चर्चा करने, उनके कुछ अच्छे उद्धरणों को बालकों के समक्ष पढ़कर सुनाने आदि से पढ़ने की रुचि पोषित और पल्लवित हो सकती है। छात्रों से पढ़ी हुई पुस्तकों की एक सूची बनवायी जाय जिससे उनमें पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा तथा अपनी उन्नति से रोचकता की वृद्धि हो। समय-समय पर उन्हें कुछ रोचक एवं उपयुक्त पुस्तकें भी बता दी जायँ जिन्हें वे सुविधानुसार प्राप्त कर पढ़ सकें। ये पुस्तकें सरल और बोध-गम्य हों। कहानी, जीवन-चरित्र, रोचक यात्राएँ, नाटक आदि विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होंगे। इन पुस्तकालयों में संस्कृत की पत्र-पत्रिकाएँ भी सुलभ हों जिन्हें छात्र समयानुकूल पढ़ सकें।

कोश देखना भी पठन-कला का एक प्रमुख अंग है। इसके उपयोग करने का ढंग आरम्भ से ही सिखाया जाय जिससे आठवीं कक्षा तक पहुँचते-पहुँचते

कोश देखना

इसका देखना छात्रों को भलीभाँति आ जाय। उन्हें अमर-कोश से कक्षास्तरानुकूल कतिपय शब्दों के पर्याय-वाची शब्दों को भी कण्ठस्थ करा दिया जाय। उन्हें ऐसा अभ्यास करा दिया जाय कि लेशमात्र सन्देह होने पर वे बिना कोश देखे न रहें। कोश देखने से एक शब्द के एक से अधिक अर्थ तथा कुछ और शब्दों के अर्थ स्वतः छात्रों को आ जाते हैं। पर दुःख तो इस बात का है कि इसका उपयोग विश्वविद्यालय तक के छात्र भी बहुत कम कर पाते हैं और इसके देखने का उन्हें पर्याप्त ज्ञान नहीं रहता है। अतः इस दिशा में भी पर्याप्त ध्यान देने की आवश्यकता है।

प्रारम्भिक स्तर पर पठन-शिक्षण-सामग्री

हिन्दी का पर्याप्त ज्ञान हो जाने पर छात्र संस्कृत पढ़ते हैं, फिर भी उन्हें संयुक्ताक्षरों तथा तत्संबन्धी ध्वनियों के पढ़ने का ज्ञान कराया जाय, यथा क्क, क्ख, क्य, क्ल, क्व, क्ष, क्ष्य, क्न। ग्ध, ग्व। च्च, च्छ। ज्ज, ज्य, ज्व। ट्ट, ट्ठ। ड्ड, ड्ढ। त्क, त्थ, त्न, त्य। द्द, द्ध, द्य, द्व। न्त, न्द, न्द्र, न्ध, न्न, न्म, न्य, न्ह। प्प, प्य, प्र। फ्ल, फ्क, फ्र। ब्ब। म्प, म्म, म्य, म्ह। कं, खं, गं, चं तं, थं, दं, पं, फं, मं, यं, रं, शं, षं। ल्क, ल्द, ल्प, ल्ल, ल्ह। व्य। श्च, श्त, श्न, श्य, श्र। ष्ट, ष्ण, ष्प, ष्म, ष्य। स्क, स्ट, स्त, स्थ, स्न, स्प, स्य, स्ल, स्स। ह्म, ह्य, ह्व। इस स्तर पर सस्वर पठन की प्रधानता हो। छात्रों को अपने स्थान से तथा कक्षा के सम्मुख खड़े होकर सस्वर-पठन का अभ्यास कराया जाय। पठित अंश पर प्रश्नोत्तर के अतिरिक्त पाठों का वर्णन करने, उनका सारांश देने, पढ़ी हुई कहानियों के सुनाने का अभ्यास कराया जाय। शुद्धोच्चारण पर विशेष बल दिया जाय। पठन-सामग्री के आधार पर नये शब्दों के अर्थ-ज्ञान, वाक्य-प्रयोग, पर्याय, विलोम आदि का ज्ञान कराया जाय। रिक्त स्थानों की पूर्ति, दिये हुए शब्दों तथा वाक्यांशों के आधार पर कथा अथवा कहानी जोड़ सकने तथा सभी प्रकार की ध्वनियों एवं लिपि-संकेतों के अभ्यास दिये जायँ। छात्रों को घरेलू प्रसंगों, विद्यार्थी जीवन से सम्बद्ध विषयों, दैनिक उपयोग की वस्तुओं, सामाजिक वातावरण से सम्बद्ध विषयों आदि का ज्ञान संस्कृत के माध्यम से सुगम प्रणाली द्वारा कराया जाय। उन्हें सरल श्लोकों को कण्ठाग्र कराया जाय जिससे वे उनका सुन्दर ढंग से लयपूर्वक पाठ कर सकें।

हाई स्कूल तथा इण्टरमीडिएट स्तर पर भावग्रहण करते हुए शुद्ध उच्चारण तथा उचित आरोह-अवरोह के साथ सस्वर-पठन और अर्थ समझते हुए उचित

गति से मौन पठन का अभ्यास कराया जाय। आनन्द, मनोरंजन तथा ज्ञानार्जन हेतु आवश्यक सामग्री के अध्ययन पर बल दिया जाय। इस स्तर पर कोश, पुस्तक-सूची, अनुक्रमणिका आदि के प्रयोग की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाय। छात्रों को स्वाध्याय की उपयोगिता की शिक्षा दी जाय और उनमें पाठ्येतर पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएँ आदि पढ़ने की रुचि उत्पन्न की जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि छात्र इस स्तर पर पुस्तकालयों तथा वाचनालयों का उपयोग करना भली-भाँति सीख जायँ और गीता, रामायण आदि सद्ग्रन्थ पढ़ सकें।

सारांश

भाषा-शिक्षण में पठन-शिक्षण का विशेष महत्त्व है। तीन 'आर' में इसका प्रथम स्थान है। बहु-पठ ही बहु-विद् हो सकता है। लिखने और बोलने की क्रिया पठन-क्रिया पर ही निर्भर करती है। यह क्रिया शिक्षा की समानार्थी है। यह भावों के आदान-प्रदान का भी प्रमुख साधन है।

लिपिबद्ध भावों के अर्थ-ग्रहण करने की प्रक्रिया को पढ़ना कहते हैं। यह क्रिया उद्देश्यपूर्ण होती है। इसके शिक्षण का आरम्भ मौखिक आत्म-प्रकाशन के पश्चात् किया जाना चाहिए।

मातृभाषा की पठन-शैली तथा संस्कृत-पठन-शैली में अन्तर होता है। संस्कृत में विभक्ति-युक्त, सन्धि-युक्त तथा समस्त पदों की भरमार होती है। अतः इसके पढ़ने में कठिनाई होती है। इसे दूर करने के निमित्त राष्ट्रीय शैक्षणिक एवं अनुसन्धान परिषद् द्वारा तैयार किये गये परीक्षणों के माध्यम से छात्रों की पठन-योग्यता की जाँच कर तदनुकूल पठन-शिक्षण आरम्भ किया जाय।

अर्थ-बोध, पठन-गति, शब्द-भाण्डार की वृद्धि तथा व्यक्त-पठन इस प्रक्रिया के प्रमुख अंग हैं। अर्थ-बोध की आठ विशेषताएँ होती हैं जहाँ तक पठन-गति का संबन्ध है, इसमें विषयानुसार एवं आवश्यकतानुसार पठन-कार्य में गति प्राप्त करना, मनोरंजन और ज्ञान-वृद्धि की दृष्टि से पढ़ने की प्रेरणा प्राप्त करना, एतत्सम्बन्धी सामग्री को शीघ्रता से पढ़ना आदि निहित है। शब्द-भाण्डार-वृद्धि एवं स्पष्ट तथा शुद्धोच्चारण के साथ उचित-गति से पढ़ना पठन-क्रिया के क्रमशः तृतीय और चतुर्थ अंग हैं। इनको विकसित करने के

करने के लिए कोश देखने, अनुक्रमणिका का प्रयोग करने, कई पुस्तकों को पढ़कर नोट तैयार करने आदि पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

पठन दो प्रकार का होता है, सस्वर पठन एवं मौन पठन। सस्वर पठन में लिपि संकेतों से अर्थ का सीधा सम्बन्ध स्थापित होता है। इसके सम्बन्ध में शिक्षा नामक वेदांग में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। पढ़ते समय वर्णों का उच्चारण मधुर तथा स्पष्ट हो। इसके लिए पठन-सामग्री में आए हुए कठिन शब्दों का उच्चारण अभ्यास करा दिया जाय। अशुद्ध उच्चारण को ठीक कराते समय सम्पूर्ण शब्द को एक साथ लेना चाहिए।

मन में गुनगुनाना, जीभ दबा कर पढ़ना, जल्दी-जल्दी पढ़ना, वर्णों को फेंकते हुए पढ़ना, देर करके पढ़ना, गा-गाकर पढ़ना, तुतलाकर एवं मुख के भीतर भी बुदबुदाना, वर्णों को चबा-चबा कर पढ़ना, अपूर्ण उच्चारण करना, दीन की तरह पढ़ना तथा नाक से बोलते हुए पढ़ना—आदि सस्वर पठन के दोष हैं। मधुरता, अक्षरों का स्पष्ट उच्चारण, पदों का उचित विभाजन, सुन्दर स्वर, धैर्य तथा लय—ये अच्छे पाठकों के गुण हैं।

मौन पठन का अपना विशिष्ट स्थान होता है। यह तो मनोरंजन का प्रमुख साधन है। साधारण ज्ञान-प्राप्ति हेतु भी मौन-पठन आवश्यक है। सामाजिक दृष्टिकोण से भी इसका अधिक महत्त्व है। भाव-ग्रहण की दृष्टि से इसका महत्त्व और भी अधिक है।

मौन-पठन में कुशलता प्राप्त करने के लिए चक्षुगति के प्रशिक्षण की आवश्कता होती है जिससे वह लयपूर्ण गति से बायीं ओर से दाहिनी ओर को शीघ्रतापूर्वक बढ़ती चले। मौन-पठन करते समय छात्र मुख से कुछ भी न कहें, न गुनगुनायें और न ओंठ हिलायें। पढ़ते समय पंक्तियों पर न तो उँगली चलायें और न पेन्सिल। अध्यापक इस समय केवल निरीक्षण का कार्य करे।

पढ़ने के बारे में बालकों की परख के लिए उनकी परीक्षा ली जाय। ऐसा करने से यह ज्ञात हो जायगा कि कौन से बालक पिछड़े हुए हैं। ऐसे लड़कों की चक्षु-गति में लय नहीं होती है। वे पृष्ठों को बड़ी देर से उलटते हैं और आँखों के स्थान पर सिर को आगे बढ़ाते हैं। इनके इस पिछड़ेपन को दूर करने के लिए उन्हें उनके बौद्धिक-स्तर के अनुकूल पठन-सामग्री पढ़ने को दी जाय तथा सरल से कठिन के सिद्धान्त का अनुसरण किया जाय। उनसे खूब पढ़वाया जाय। विद्यालयों में अच्छे पुस्तकालयों की व्यवस्था की जाय जिसमें प्रचुर मात्रा में पठन सामग्री हो। छात्रों को कोश देखने का भी अभ्यास कराया जाय।

प्रश्न

1. पठन-शिक्षण के महत्त्व पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।
2. पठन-क्रिया के विभिन्न अंगों का सम्यक् विशद विवेचन कीजिए।
3. सस्वर-पठन और मौन पठन में क्या अन्तर है, स्पष्ट कीजिए।
4. सस्वर-पठन के उद्देश्यों का उल्लेख करते हुए उसके गुण-दोषों का विस्तृत विवेचन कीजिए।
5. मौन पठन के उद्देश्य, आवश्यक तत्त्व, उसकी संचालन-विधि आदि पर एक लेख लिखिए।

सहायक-पुस्तकें

1. याज्ञवल्क्य शिक्षा।
2. पाणिनीय शिक्षा।
3. प्रायोगिक मनोविज्ञान—डा० सरयू प्रसाद चौबे।

अध्याय 13

कथा साहित्य का उद्गम, प्रचार-प्रसार

तथा इसकी रचना के उद्देश्य

भारतीय कथा साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात करने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि संस्कृत साहित्य ही भारतीय कथा साहित्य का उद्गम-स्थान है और भारतवर्ष ही कहानी साहित्य की जन्म-भूमि है। इसका भ्रमण यहीं से प्रारम्भ हुआ और इसने विश्व के सभी देशों के साहित्य में अपना स्थान प्राप्त कर लिया। छठी शताब्दी में भारतवर्ष में ये कथाएँ लोक-प्रिय रही हैं जो आज भी पंचतंत्र में संगृहीत हैं। यह ग्रन्थ विश्व के सम्पूर्ण कहानी साहित्य को भारतीय साहित्य की एक अनुपम देन है। इसमें उल्लिखित कहानियों के भ्रमण की कहानी अत्यन्त रोचक एवं उपदेश-प्रद है। इसके सुप्रसिद्ध पात्र करकट और दमनक जिस सीमा तक भारतीयों को आनन्द देते रहे हैं, उसी सीमा तक वे अरब निवासियों को भी आत्म-विभोर करते रहे हैं। राजा शिवि के आत्म-त्याग की कहानी, राजा भोज के सभासदों की भाँति, फारस के बादशाह खुशरो नौशेरवाँ के दरबारियों को भी शिक्षा देती थी।

संस्कृत साहित्य भारतीय कथा-साहित्य का उद्गम-स्थान तथा भारतवर्ष ही इसकी जन्मभूमि

छठी शताब्दी में जब भारत और फारस में घनिष्ठ मित्रता थी, तब इन रोचक कहानियों की ओर फारस के इस बादशाह का ध्यान आकृष्ट हुआ। फलतः 'बुरजोई' नामक इसके एक प्रसिद्ध सभासद ने जो संस्कृत का ज्ञाता था, सर्वप्रथम सन् 533 ई० में पहलवी (पुराना फारसी) भाषा में पंचतंत्र का प्रथम अनुवाद किया। इसके कुछ ही वर्षों बाद बुदं नामक एक ईसाई पादरी ने 'कलिलग' और 'दमनग' के नाम से इसका पहलवी भाषा से सीरियन भाषा में अनुवाद किया। इसके पश्चात् अब्दुल्ला बिन अलमुकफ्फा नामक एक मुसलमान विद्वान् ने सीरियन भाषा से इसका अनुवाद अरबी में किया जो

पंचतंत्र का अरबी में अनुवाद

पंचतंत्र के करकट और दमनक नामक पात्रों के नाम पर 'कलीलह और दमनह' के नाम से आज भी विख्यात है। इसी शती (आठवीं शती) में इसका दूसरा भी अनुवाद हुआ जिसे अब्दुल्ला बिन हवाजी ने पहलवी से अरबी में किया था। इसी अनुवाद को 'याहिया बरमकी' की आज्ञा से सहज-बिन नवबख्त ने अरबी में पद्य-बद्ध कर दिया जिसके लिए उन्हें एक हजार स्वर्ण-दीनार पुरस्कार स्वरूप दिये गये थे। इसके पश्चात् पंचतंत्र के और भी अनुवाद हुए जिसके माध्यम से पश्चिमी जगत् में भारतीय कहानी यत्र-तत्र-सर्वत्र भ्रमण करती रही। इसके पहले ही भारतीय कथा साहित्य पूरब में भी भ्रमण कर चुका था। यह बात चीनी भाषा के दो विश्वकोशों में बहुत-सी भारतीय कहानियों के अनुवाद की प्राप्ति से सिद्ध हो जाती है क्योंकि इन विश्वकोशों का आधार बौद्ध ग्रन्थ ही थे। इस प्रकार सातवीं और आठवीं शताब्दी के भीतर ये भारतीय कहानियाँ अरब से लेकर चीन तक फैल गयीं।

ग्रीक, लैटिन, जर्मन, फ्रेंच, स्पैनिश, अंग्रेजी आदि भाषाओं में इन कहानियों का अनुवाद

अरबी भाषा के मध्ययुग को सभ्य भाषा होने के नाते इसमें इन कहानियों के अनुवाद होते ही ये कहानियाँ पश्चिमी जगत् के साहित्य में प्रवेश कर गयीं और विभिन्न देशों की भाषाओं में इनके अनुवाद होने लगे। इसी के फलस्वरूप इन कहानियों का अनुवाद ग्रीक, लैटिन, जर्मन, फ्रेंच, स्पैनिश, अंग्रेजी आदि भाषाओं में सोलहवीं शताब्दी तक होता रहा। ग्रीस के 'ईसाप की कहानियाँ' तथा अरब की "अरेबियन नाइट्ज" नामक कहानियों का आधार यही कहानियाँ हैं। मध्य युग में पश्चिम में ये कहानियाँ "विदापई की कहानियों" के नाम से इतनी प्रसिद्ध हुईं कि वहाँ के निवासियों को इनके भारतीय होने का लेश-मात्र भी ध्यान न रहा। बरलाम और जोजफ की कहानी तो इतनी प्रसिद्ध एवं शिक्षाप्रद हुई कि इसके पात्रों की गणना ईसाई सन्तों में होने लगी। यह जोजफ बुदसफ के रूप में 'बोधिसत्त्व' का अपभ्रंश है। इस प्रकार इन कहानियों के माध्यम से बुद्ध की ईसाई सन्तों में गणना होने लगी और बेचारे ईसाइयों को इस बात का लेश मात्र भी ध्यान नहीं रह गया कि वे जिस बुद्ध की गणना अपने सन्तों की श्रेणी में कर रहे हैं वह उनके नहीं अपितु किसी अन्य धर्म के संस्थापक थे।

मध्ययुग के पूर्व भी भारतीय कहानियों ने पश्चिम में अपना स्थान प्राप्त कर लिया था। "सालोमान के न्याय" की कहानी का मूलाधार भारतीय ही

है। ग्रीक, अरबी, हिब्रू, फारसी आदि भाषाओं में सिकन्दर की जितनी कहानियाँ सुलभ हैं, उनमें सर्वत्र उनकी माता के विषय में केवल एक ही कहानी दी गयी है। जिसका मूलाधार है 'कृशा गौतमी' का उपदेश। जब सिकन्दर की माता का पुत्र-शोक किसी प्रकार कम न हुआ तो किसी विद्वान ने उनसे कहा कि हे माता! यदि तुम ऐसे घर से सरसो ला दो जिसमें किसी की मृत्यु न हुई हो तो मैं तुम्हारे पुत्र को जिला दूँगा। इस पर वह बेचारी घर-घर भटकती फिरी, पर उसे एक भी ऐसा घर न मिला जिसमें किसी की मृत्यु न हुई हो। अन्त में उसे विश्वास हो गया कि यह देह नश्वर है। फलतः इस प्रकार उसका पुत्र-शोक जाता रहा। इन तथ्यों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि इस साहित्य ने अपनी महती महत्ता के ही कारण विश्व-साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था।

कथा-साहित्य अत्यन्त प्राचीन

पञ्चतन्त्र में जिन कथाओं का संग्रह है, वे अत्यन्त प्राचीन हैं। इससे भी पुराना कथा साहित्य जातकों में उपलब्ध है। इन जातकों का सम्बन्ध भगवान बुद्ध की प्राचीन जन्म कहानियों से है जिनकी संख्या 550 है। इनमें इस प्रकार की ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा सामाजिक सामग्री मिलती है जिनका अध्ययन करने से बुद्ध के समय के ही नहीं अपितु उससे भी प्राचीन काल के भारतीय इतिहास की बाँकी-झाँकी देखने को मिलती है। इन जातकों में प्राचीन काल से चली आने वाली दन्त कथाओं अथवा लोक कथाओं का अपूर्व संग्रह है।

जातकों से भी पुराना कथा-साहित्य वेदों में उपलब्ध है। ब्राह्मणों एवं उपनिषदों में विस्तार के साथ वर्णित कहानियाँ मूल रूप में ऋग्वेद में विद्यमान हैं। इसका संवाद-सूक्त इन कहानियों का उद्गम स्थान है। "द्या द्विवेद" द्वारा रचित नीतिमंजरी में इन कहानियों से प्राप्त की जाने वाली शिक्षाओं का सुन्दर संग्रह है। इस तरह ऐतिहासिक दृष्टिकोण से वेद को कहानियों का मूल-स्रोत मानना अत्यन्त समीचीन जान पड़ता है। वेदों में प्राप्त इन्हीं कहानियों का परिवर्तित एवं परिवर्द्धित रूप हमें रामायण, महाभारत तथा पुराणों में देखने को मिलता है। बौद्ध एवं जैन साहित्य में भी इन कहानियों की झलक मिलती है। इन कहानियों के परिवर्तन एवं परिवर्द्धन की कहानी अब भी एक गवेषणा का विषय है।

संस्कृत कथा साहित्य के दो मुख्य अंग हैं—(1) नीति-कथा और (2) लोक कथा। नीति-ग्रन्थों में पञ्चतन्त्र तथा हितोपदेश नामक ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पञ्चतन्त्र के अनेक संस्करण हुए किन्तु इनमें सबसे प्राचीन 'तन्त्राख्यायिका' नामक संस्करण आज भी सुलभ है जिसकी रचना कश्मीर में हुई थी। इस समय इसके चार संस्करण उपलब्ध हैं—(1) पञ्चतन्त्र का पहलवी भाषा वाला संस्करण, (2) गुणाढ्यकृत वृहत्कथा में समाविष्ट संस्करण, (3) तन्त्राख्यायिका नामक संस्करण और (4) दक्षिणी संस्करण।

संस्कृत कथा साहित्य के प्रमुख अंग

इसमें मित्र-भेद, मित्र-लाभ, सन्धि-विग्रह, लब्धप्रणाश तथा अपरीक्षित कारक नामक पाँच तन्त्रों का संग्रह है। प्रत्येक तन्त्र में एक ही प्रधान कथा है जिसकी पुष्टि में अनेक गौण कथाएँ कही गई हैं। इसकी रचना का मुख्योद्देश्य महिला रोप्य के राजा अमर शक्ति (कीर्ति) के अयोग्य पुत्रों को थोड़े ही समय में नीति निपुण तथा व्यवहारविद् बनाना था। राजा ने अपने शास्त्र-विमुख एवं विवेक-हीन पुत्रों को विद्वान् तथा नीतिवान् बनाने के लिए अपने मन्त्रियों से कहा कि आप लोग उस तरह का प्रबन्ध करें जिससे ये लड़के बुद्धिमान् हो जायँ। तब सुमति नाम के मन्त्री ने कहा कि राजन्! छात्रों में प्रतिष्ठित, वृहस्पति सदृश बुद्धिमान्, सकल शास्त्र पारंगत विष्णु शर्मा नाम के ब्राह्मण हैं। आप उन्हें राजकुमारों को सौंप दीजिए। निश्चय ही इनके उपदेशों से ये राजकुमार ज्ञान-वान् हो जायँगे। फलतः विष्णुशर्मा बुलाये गये और उनके समक्ष जब यह प्रस्ताव रखा गया, तो उन्होंने राजा से कहा कि "हे[1] देव! ये लड़के अच्छे वंश

पंचतन्त्र

---

1. ततः सः पण्डितस्तं भूपं प्रत्यवदत्, "देव! शृणु मे तथ्यवचनम्। महति कुले सम्भूता एते कुमाराः। तत् कथम् एतेषां शास्त्रे मतिर्न स्फुरिष्यति? यतः—

   एतस्मिन् निर्गुणो गोत्रे सन्तानो न भवेत् क्वचित्।
   आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः॥

(इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि बुद्धि विकास पर वंश परम्परा का विशेष प्रभाव पड़ता है और प्राचीन काल के आचार्य इस सिद्धान्त से अवगत थे।)

में उत्पन्न हुए हैं। तो शास्त्र (विद्या पढ़ने) में इनकी बुद्धि क्यों नहीं प्रखर होगी। इस वंश में निर्गुणी सन्तान कभी भी नहीं होनी चाहिए। पद्मराग की खान में शीशे की मणि का मिलना कैसे सम्भव हो सकता है ? मेरे उपदेश से छः महीने के अन्दर ही अन्दर ये बालक सभी शास्त्रों के ज्ञाता हो जायँगे और यदि ऐसा नहीं होगा तो मेरा सभी शास्त्रों का अध्ययन करना ही व्यर्थ हो जायगा।"

इस कथन में कितना आत्मविश्वास है। इसी के फलस्वरूप उन्होंने थोड़े ही समय में राजकुमारों को व्यवहार कुशल, सदाचार सम्पन्न तथा नीतिविद् बना दिया। ग्रन्थकार की नीतिमत्ता ग्रन्थ के प्रत्येक पृष्ठ पर व्यक्त होती है। इससे उसकी निरीक्षण-शक्ति का भी अनुमान होता है।

तन्त्रोपाख्यान

तन्त्रोपख्यान पञ्चतन्त्र का ही एक विशिष्ट स्वरूप है। इसके प्रत्येक प्रकरण में पञ्चतन्त्र की ही शैली का अनुसरण किया गया है। ग्रन्थ के आरम्भ में ही इसकी विशेषता का निर्देश दिया गया है और कहा गया है कि "अर्थ[1] के जानने पर नीति का ज्ञान होता है और कथा सुनने से सुख मिलता है। इस तरह ज्ञान और सुख दोनों की उपलब्धि के लिए इस ग्रन्थ की रचना की गयी है।" इसमें भी पञ्चतन्त्र के समान ही मुख्य कथा के भीतर उससे सम्बद्ध अवान्तर कथाओं का एक सुन्दर संग्रह है। इसमें कुल 360 कहानियाँ हैं।

इस ग्रन्थ की रचना के सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध कहानी है जो इस प्रकार है—"एक राजा था जिसका स्वभाव बड़ा ही विलक्षण था। उसे जब यह बात ज्ञात हुई कि विवाह के समय करोड़ों ऋषियों और मुनियों के दर्शन होते हैं, तो उसने प्रतिदिन एक नवीन कन्या से विवाह करने का निश्चय किया और अपने मन्त्री को तदनुकूल व्यवस्था करने का आदेश दिया। मन्त्री ने वैसी ही व्यवस्था भी की किन्तु थोड़े ही दिनों में जब सुयोग्य कन्याएँ नही मिलने लगीं तो वह बहुत ही दुःखी हुआ। उसे दुःखी देख कर तन्त्रु नाम की उसकी पुत्री ने राजा से अपना विवाह करने के लिए हठ किया। मन्त्री ने राजा से उसका

---

1. अर्थे भवेज्ञयज्ञानमाख्यानश्रवणेसुखम्।
ज्ञानार्थं च सुखार्थं च तन्त्रोपाख्यानमुच्यते॥
[तन्त्रोपाख्यान—कथामुख]

विवाह कर दिया। वह बड़ी विदुषी थी। राजमहल में पहुँच कर वह नित्य एक नई कहानी की रचना कर राजा को सुनाने लगी। राजा को इन कहानियों के सुनने में उतना ही आनन्द मिलने लगा जितना कि नित्य विवाह करने में। वह इन कहानियों से इतना प्रभावित हुआ कि उसने इसे अपनी पटरानी बना लिया और अच्छी तरह से राज्य किया।" यही कहानियाँ अनूदित होकर अरबी में अलिफजैंता तथा अंग्रेजी में ओवियन नाइट्स के नाम से प्रसिद्ध हुईं।

नीति कथाओं में पञ्चतन्त्र के पश्चात् हितोपदेश का ही नाम आता है। इसकी रचना का भी मुख्योद्देश्य सरल एवं सरस ढंग से पाटलिपुत्र के राजा सुदर्शन के अयोग्य पुत्रों को नीतिविद् बनाना था।' इसमें चार परिच्छेद हैं—मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह और सन्धि। इसकी भाषा सरल, सरस और सुबोध है। इसकी भी शैली पञ्चतन्त्र के ही समान है। इसमें भी इसी की तरह गद्य-पद्य मिश्रित भाषा का प्रयोग किया गया है जो बालकों के लिए बड़ी ही उपयोगी है। यही कारण है कि यह ग्रन्थ पञ्चतन्त्र की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय रहा है और आज भी संस्कृत पढ़ने वाले छात्रों को आरम्भ में सर्वप्रथम यही ग्रन्थ पढ़ाया जाता है। कहानी के माध्यम से नीति की बातों को बताना जितना रुचिकर होता है, उतना उपदेश देना भी। इसमें 679 नीति विषयक पद्य हैं जो महाभारत, धर्मशास्त्र, पुराण आदि ग्रन्थों से उद्धृत हैं। ये पद्य बड़े ही सरल तथा उपदेशप्रद हैं—जैसे,

'पयः पानं भुजंगानां केवलं विषवर्धनम्।
उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय, न शान्तये॥'

इन नीति कथाओं के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में लोक कथाओं का भी भरमार है जिनका प्रधान लक्ष्य मनोरंजन है। इनके पात्र पशु-पक्षी न होकर जीते-जागते, चलते-फिरते मनुष्य ही हैं। इन कथाओं का प्राचीनतम संग्रह गुणाढ्यकृत वृहत्-कथा हैं, जो अपने मूलरूप में अप्राप्य है। इस पर आश्रित तीन संस्कृत अनुवाद सुलभ हैं—(1) बुध-स्वामीकृत वृहत्कथा श्लोक संग्रह, (2) क्षेमेन्द्रकृत वृहत्कथा मंजरी तथा (3) सोमदेवकृत कथा सरित् सागर। वृहत्कथा से बढ़कर प्राचीन कथाओं का कोई दूसरा संग्रह नहीं है। इसमें कथानक की विचित्रता के साथ-साथ रस का परिपाक भी अच्छे ढंग से किया गया है। इसकी कीर्ति केवल भारत में ही नहीं अपितु वृहत्तर भारत में फैली हुई है।

मनोरंजक लोक कथाएँ (वृहत्कथा)

वृहत्कथा के अतिरिक्त 'वेतालपञ्चविंशति' भी लोक कथाओं का एक सुन्दर तथा सुव्यवस्थित संग्रह है। ये कथाएँ बड़ी ही रोचक बुद्धिवर्द्धक तथा कौतूहलोत्पादक हैं। कहा जाता है कि कोई सिद्ध, राजा विक्रम सेन के पास एक फल लाकर देता था। इसकी सिद्धि में सहायता के निमित्त राजा एक वृक्ष पर लटकते हुए शव को लाना चाहता था किन्तु वह शव किसी वेताल के आधीन था। वेताल राजा के मौन रहने पर ही उस शव को उसे देना चाहता था। पर वह वेताल इतनी विचित्र कथा सुनाता था कि राजा का मौन टूट जाता था। इस तरह वेताल ने पच्चीस कहानियाँ कहीं जो इस ग्रन्थ में संगृहीत हैं। ये कहानियाँ बड़ी ही सरल और रोचक हैं। इसके प्रश्न बड़े ही जटिल और पेचीदे होते थे किन्तु राजा उनका समुचित उत्तर भी देता था जो उसकी चातुरी के परिचायक हैं।

वेतालपञ्चविंशति

विक्रम चरित (सिंहासन द्वात्रिंशिका), शुक्र सप्तति, भट्टक द्वात्रिंशिका, पुरुष परीक्षा आदि ग्रन्थों में भी लोक कथाओं का सुन्दर संग्रह है। प्रबन्ध चिन्तामणि तथा प्रबन्ध कोश भी इस प्रकार के रोचक ग्रन्थ हैं। प्रबन्ध चिन्तामणि की रचना का मुख्य उद्देश्य लेखक के ही शब्दों में इस प्रकार है—

"बहुश्रुत[1] और गुणी वृद्धजनों का मिलना प्रायः कठिन हो रहा है। शिष्यों में प्रतिभा की कमी के कारण शास्त्र प्रायः नष्ट हो रहे हैं। इस दृष्टि से तथा भावी बुद्धिमानों का उपकार करने की दृष्टि से अमृत-सत्र सदृश, सत्पुरुषों के प्रबन्धों के संघटन स्वरूप इस ग्रन्थ की रचना मैंने की है।"

प्रबन्ध कोश के रचयिता राजशेखर ने अपना उद्देश्य बतलाते हुए स्पष्ट लिखा है कि मुग्धजनों के ज्ञानवर्द्धन के लिए ही मृदुगद्य[2] में इस ग्रन्थ की रचना की गयी है। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में व्यावहारिक संस्कृत का प्रयोग किया गया है

---

1. दुष्प्रापेषु बहुश्रुतेषु गुणवद्वृद्धेषु च प्रायशः,
शिष्याणां प्रतिभाभियोगविगमादुच्चैः श्रुते सीदति।
प्राज्ञानामथ भाविनामुपकृतिं कर्तुं परामिच्छता,
ग्रन्थः सत्पुरुष-प्रबन्ध-घटनाश्चक्रे सुधासत्रवत्॥
[प्रबन्ध चिन्तामणि]

2. तेनायं मृदुगद्यैर्मुग्धो मुग्धावबोध-कामेन।
रचितः प्रबन्धकोशो जयताज्जिनपतिमतं यावत्॥

जिसमें न तो समासों की अधिकता है और न तो केवल पण्डितों की समझ में आने वाली भाषा का ही। इसमें केवल सीधे-सादे साधारण बोल-चाल वाले शब्दों का ही प्रयोग हुआ है।

भोज प्रबन्ध भी इसी प्रकार का एक ग्रन्थ है जिसका उद्देश्य राजा भोज की उदारता तथा दानशीलता का परिचय कराना है। बौद्ध ग्रन्थों में भी कहानियों की रचना हुई है। दिव्यावदान, अवदान, जातकमाला आदि ग्रन्थ इसके मुख्य ग्रन्थ हैं। अवदान का अर्थ ही है अच्छे कार्यों की कहानी। इसमें भगवान बुद्ध के शोभन गुणों का वर्णन किया गया है जिससे बुद्धत्व की प्राप्ति का संकेत मिलता है।

उपयोगिता, मौलिकता एवं मनोरंजकता इसकी प्रशंसा का एक मात्र कारण

उपर्युक्त तथ्यों पर यदि एक विहंगम दृष्टिपात किया जाय तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इन कहानियों की मौलिकता रचना नैपुण्य तथा विश्व व्यापकता अद्वितीय है। ये कथायें कौतूहल पूर्ण एवं उपदेश पूर्ण हैं। इनका सम्बन्ध शुद्ध काल्पनिक जगत् से है। कल्पना ही इनके विकास तथा प्रादुर्भाव का स्रोत है। ये कथाएँ इतनी सरस, सुखद एवं उपयोगी हैं कि इनकी उपादेयता, मौलिकता एवं मनोरंजकता की विदेशियों ने भी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। अनायास[1] ही समझ में आ जाने वाले, सुनने में मनोहर एवं शृंगारादि रसों में से किसी एक रस से पूर्ण वाक्यों से ओत-प्रोत नवीन कथा लोगों के हृदय में कौतुकवश उसी प्रकार अत्यधिक प्रेम उत्पन्न करती है, जिस प्रकार मधुरालाप करने में अत्यन्त स्पष्ट, हाव-भाव में अत्यधिक मनोहर एवं प्रेमवश अपने से ही शय्या पर उपस्थित हो युवती अपने पति के हृदय में प्रेम उत्पन्न करती है। अनायास ही अर्थ को व्यक्त करने वाली, दीपक तथा उपमालंकार-युक्त, अपूर्व पदार्थों के समावेश से बनाई हुई और निरन्तर श्लेषालङ्कार से युक्त मनोहर कथा देदीप्यमान दीपक के सदृश, अभिनव वस्तु ग्रहण करने योग्य,

---

1. स्फुरत्कलालाप विलास कोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्।
रसेनशय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव॥
हरन्ति कं नोज्ज्वल दीपकोपमैर्नवैः पदार्थैरुपपादिताः कथाः।
निरन्तर श्लेषघनाः सुजातयो महास्रजश्चम्पककुड्मलैरिव॥
—कादम्बरी, कथामुख, कथाप्रशंसा।

चम्पा की कलियों से गूँथी हुई, चमेली के फूलों से युक्त एवं सघन महामाला के समान किसको आकर्षित नहीं करती ?"

मनुष्य को व्यवहार-विद् बनाना तथा उसे त्रिवर्ग की प्राप्ति कराना ही कथाओं का मुख्य उद्देश्य

संस्कृत कथा साहित्य अपनी विशेषताओं के लिए जगत्प्रसिद्ध है। संस्कृत काव्यों और नाटकों में बहुत से पद्य पाये जाते हैं जिनके समयोचित प्रयोग से नीति और सदाचार के उच्च आदर्श उपस्थित किये जा सकते हैं। नीति कथाओं में ऐसे ही पद्यों का समावेश है जो आचरण सम्बन्धी उच्चादर्श का सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। मनुष्य को सदाचारी, राजनीतिज्ञ एवं व्यवहारपटु बनाना ही इन कथाओं का प्रधान उद्देश्य है। अर्थ, धर्म, काम—इस त्रिवर्ग की प्राप्ति कराना भी इन कथाओं का मुख्य उद्देश्य है। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इनकी रचना की गयी थी। इनमें सदाचार, राजनीति तथा व्यवहार सम्बन्धी विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इन कथाओं में दैनिक जीवनोपयोगी परिस्थितियों का सुन्दर एवं सजीव वर्णन कर ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं जिनसे शिक्षा ले हम भयंकर से भयंकर परिस्थितियों का सामना कर सकते हैं।

देवभाषा को पाठन-शैली का सुन्दर आदर्श

ये नीति कथाएँ जहाँ मनुष्य को व्यवहार पटु बनाती हैं वहीं वे देवभाषा की पाठन-शैली का आदर्श भी उपस्थित करती हैं। इन कथाओं की भाषा सरस एवं सरल है। यद्यपि इन कथाओं की रचना गद्य में हुई है पर बीच-बीच में पद्यों का पुट भी दीख पड़ता है। साधारणतया बात-बीत के प्रसंग में लोग अपनी बात को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए उसी प्रसंग से सम्बद्ध पद्यों का भी प्रयोग करते हैं। जब कोई पात्र अपनी बात को प्रभावपूर्ण ढंग से तथा प्रमाण सहित कहना चाहता है तो वह पद्य का प्रयोग करता है। इसी उद्देश्य से इन कथाओं में भी पद्यों का प्रयोग किया गया है। जैसे गङ्गदत्त नामक मण्डूकराज के बुलाने पर काले साँप ने कहा कि यह तो मेरी जाति वाले की बोली नहीं है। अतः यहीं पर जान लूँ कि यह कौन है ? कहा भी गया है कि,

यस्य न जायते शीलं न कुलं न च संश्रयः।
न तेन संगतिं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः॥

इसके अतिरिक्त बहुत से पात्र तो अपनी बात को और अधिक प्रामाणिक बनाने के लिए ऐसे पद्यों का प्रयोग करते हैं जिनके अन्तर्गत कथाओं का भी वर्णन होता है, जैसे दमनक संजीवक को पिङ्गलक के यहाँ से हटाने के लिए अपने मित्र करकट से कहता है कि,

उपायेन हि यत्कार्यं तन्नशक्यं पराक्रमैः।
काकस्य स्वर्ण-सूत्रेण कृष्ण सर्पो विनाशितः॥

यहाँ पर दमनक कौवे और काले साँप की कहानी का संकेत कर अपनी बात की पुष्टि के लिए अपने मित्र करटक को यह बतला देना चाहता है कि उपाय से जो कार्य हो सकता है, वह पराक्रम द्वारा नहीं हो सकता है।

कहानियां कठिन बातों को समझाने का सुन्दर साधन

बालक स्वभाव से ही कहानी सुनने का प्रेमी होता है। प्रायः देखा जाता है कि सन्ध्या समय भोजनोपरान्त जब छोटे-छोटे बच्चे अपनी दादी, माता अथवा पिता के पास सोते हैं तो उन्हें वे कहानी कहने के लिए बाध्य करते हैं। कोमल मति वाले बालकों के मस्तिष्क पर इन कहानियों की अमिट छाप पड़ती है। इतिहास भी इस बात का साक्षी है। शिवा जी को छत्रपति शिवा जी बनाने का श्रेय कहानियों को ही है। उनको उनकी माता जीजाबाई नित्य धार्मिक कहानियाँ सुनाया करती थीं जिनका उनके जीवन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा था। इससे यह स्पष्ट है कि कहानियों का बालकों के मस्तिष्क पर क्या प्रभाव पड़ता है? इन कहानियों द्वारा बालकों को कठिन से कठिन बातें भी सुविधापूर्वक बतलाई जा सकती हैं। संस्कृत साहित्य में कहानियों की सृष्टि इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए हुई थी।

कहानियां बालकों के मस्तिष्क को प्रभावित करने का प्रभावशाली साधन

बालक कौतूहल-पूर्ण बातें जानना चाहते हैं। वे विचार-धाराओं में गोते लगाना नहीं जानते। स्त्री-पुरुष की वीरतापूर्ण गाथाएँ तथा जीवन को उत्फुल्ल एवं उसके तथ्यों को प्रस्फुटित करने वाले अवसर उन्हें अधिक रुचिकर प्रतीत होते हैं। अध्यापक अपनी कहानी में जितने ही अधिक स्थानों और पुरुषों के जीवन का सजीव वर्णन करेगा, जितना ही अच्छा वह कथित स्थानों का मार्मिक विवेचन करेगा, बालक उतना ही अधिक आत्मविभोर हो, उसके सुनने में दत्त-चित्त होगा

और इस तरह इन वर्णित कहानियों का उनके मस्तिष्क पर अमिट प्रभाव पड़ेगा। संस्कृत कथा साहित्य में इन्हीं तथ्यों का दिग्दर्शन होता है।

इन तथ्यों के दिग्दर्शन होने के अतिरिक्त कहानियों द्वारा विद्यार्थियों को शब्दों, वाक्यों एवं उपयुक्त मुहाविरों का ज्ञान होता है क्योंकि आरम्भ में बालक भाषा को सुनकर ही सीखता है। कहानी कथन के प्रसंग में आये हुए शब्दों, वाक्यों एवं मुहाविरों का वास्तविक अर्थ वे सरलता से सीख लेते हैं। और उनका अपने वाक्यों में प्रयोग करने में उनको पूर्ण अधिकार हो जाता है। धूर्तता, कृतज्ञता आदि भाववाचक शब्दों का वास्तविक अर्थ प्रसंग के बिना बतलाना कठिन होता है, पर कहानी के माध्यम से यह बात सरल हो जाती है, जैसे पञ्चतन्त्र में वर्णित "द्विज धूर्तानाम्" नामक कहानी द्वारा 'धूर्तता' शब्द का भलीभाँति बोध कराया जा सकता है। इसी प्रकार 'जामातृ चतुष्टय' नामक कथा सुनाते समय 'अर्द्धचन्द्र दानेन' वाले मुहाविरे का अर्थ अच्छी तरह समझाया जा सकता है। कहानियों द्वारा ऐसे शब्दों और मुहाविरों के अर्थ बतलाने में बड़ी सहायता मिलती है।

भाषा सीखने का एक सुन्दर साधन

कहानियों द्वारा सांसारिक ज्ञान की वृद्धि होती है। इन कथाओं द्वारा बालक विभिन्न वस्तुओं एवं जानवरों के गुण तथा स्वभाव से परिचित हो जाते हैं। जैसे वे 'शठं प्रति शाठ्यं समाचरेत्' तथा वायस कृष्णसर्पयोः कथा" नामक कथाओं द्वारा जान लेते हैं कि खरगोश और कौवे बड़े ही चतुर जानवर होते हैं। इन कथाओं से उन्हें जो शिक्षा मिलती है, उनके द्वारा वे समझ जाते हैं कि किस अवसर पर उन्हें क्या करना तथा कहना चाहिए। जैसे उपर्युक्त कथाओं से उन्हें "उपायेन हि यत् शक्यं तन्नशक्यं पराक्रमैः", बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्" आदि शिक्षाएँ मिलती हैं। युक्ति तथा बुद्धि से काम लेकर एक निर्बल भी सबल पर विजय प्राप्त कर सकता है। इन कथाओं द्वारा इनमें आये हुए पात्रों के अनुभव से वे पूर्ण लाभ उठा सकते हैं। उनके हृदय पटल पर इन कथाओं की अमिट छाप पड़ जाती है और वे विषम परिस्थितियों के आने पर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय कर अपना मार्ग प्रशस्त करने में सफल होते हैं। इस प्रकार इन कथाओं के संचित ज्ञान से लाभ उठा कर वे संसार में यशस्वी, वीर, बुद्धिमान् एवं पराक्रमी बन सकते हैं।

कहानियों द्वारा सांसारिक ज्ञान की वृद्धि

इन कहानियों द्वारा बालकों में तर्क शक्ति, विवेक एवं संकल्प की वृद्धि होती है। कथाओं के सुनने के पश्चात् वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, उसके अनुसार वे आचरण करने का यत्न भी करते हैं इस तरह उनमें अच्छे गुणों का प्रादुर्भाव होता है। कथाओं में आये हुए पात्रों को अपने पक्ष का तर्क पूर्ण ढंग से समर्थन करते देख इनमें भी उसी प्रकार तर्क करने की इच्छा उत्पन्न होती है और इस प्रकार उनमें तर्कशक्ति का विकास होता है। जैसे पञ्चतन्त्र के "मित्र सम्प्राप्ति" नामक द्वितीय तन्त्र में जिस समय लघुपतनक कौवा हिरण्यक चूहे से मैत्री करने का प्रस्ताव करता है उस समय हिरण्यक बड़े तर्क-पूर्ण ढंग से उसके प्रस्ताव का विरोध करता है और उससे कहता है कि "मैं तुझ शत्रु के साथ मैत्री कैसे करूँ ? क्योंकि,

कथाओं द्वारा तर्क-शक्ति, विवेक संकल्प आदि सद्गुणों की वृद्धि

न सङ्गच्छेत् वैरिणा सुश्लिष्टेनापि सन्धिना।
सुतप्तम् अपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ॥

इसके अतिरिक्त तुम मेरे सहज शत्रु हो। फिर मित्रता कैसी ? किसी ने कहा भी है—

गच्छति कृत्रिमं नाशं वैरं द्राक् कृतिभैर्गुणैः।
प्राणदानं बिना वैरं सहजं याति न क्षयम् ॥"

हिरण्यक का यह उत्तर कितना तर्कपूर्ण है ? क्या इस प्रकार के कथा स्थलों से तर्क-शक्ति एवं विवेक का विकास नहीं हो सकता ?

कथाओं द्वारा कल्पना-शक्ति का भी विकास होता है। कथाओं और चित्रों का अटूट संबन्ध है। चित्रों का अध्ययन करने में कल्पना ही कार्य करती है, जैसे जम्बू वृक्ष के ऊपर बैठे हुए 'रक्तमुख' बन्दर को काली-काली जामुन खाते देख 'कराल मुख' नामक घड़ियाल के हृदय में जो भावना उत्पन्न हो सकती है, उसकी कल्पना बालक अपने आप कर सकते हैं। कथाओं को सुनते समय भी बालकों के हृदय में वर्णित कथा का चित्र स्वयं बनता रहता है जिससे उनकी रचना-शक्ति का जन्म होता है। कथाओं से सम्बद्ध

कथाओं द्वारा कल्पना-शक्ति का विकास एवं भावों को व्यक्त करने की क्षमता का प्रादुर्भाव

चित्रों का अध्ययन करने से बालकों में अवलोकन एवं निरीक्षण शक्ति उत्पन्न होती है।

कथाओं से बालकों में अपने विचारों को धारा प्रवाह एवं प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त करने की शक्ति उत्पन्न होती है। प्रायः बालकों में अपने विचारों के प्रकट करने में हिचकिचाहट और संकोच पैदा होता है। कथा सुनने और कहने से उनकी झिझक दूर हो जाती है और वे निर्भीक ही अपने भावों को व्यक्त करने लगते हैं।

छात्रों को अनुशासित बनाये रखने में सहायक

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि बालक कहानी सुनने का प्रेमी होता है। उसके सुनने में उसकी स्वतः रुचि होती है और ऐसा करने में वह एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव करने लगता है। यही कारण है कि वह पाठशाला से अधिक प्रेम करने लगता है और यहाँ आने तथा एतत्सम्बन्धी कार्य करने में अत्यधिक अभिरुचि रखने लगता है। जो सर्वप्रथम एक अपरिचित और अज्ञात व्यक्ति था, वही आज एक सहज मित्र, उपदेशक एवं संरक्षक के रूप में दिखलाई देता है। वह हर परिस्थिति में इसकी आज्ञा पालन करने के लिए तत्पर रहता है। फलतः कक्षा में अनुशासन का प्रश्न ही नहीं उठता है।

सारांश

संस्कृत साहित्य भारतीय कथा साहित्य का उद्गम-स्थान तथा भारतवर्ष ही इसकी जन्मभूमि है। इसका भ्रमण यहीं से प्रारम्भ हुआ। छठीं शती में पंचतंत्र का अरबी में अनुवाद किया गया। इस भाषा से इसका अनुवाद ग्रीक, लैटिन, जर्मन, फ्रेंच, स्पैनिश, अंग्रेजी आदि भाषाओं में हुआ।

पंचतन्त्र में जिन कहानियों का संग्रह है, वे अत्यन्त प्राचीन हैं। इससे भी पुराना कथा साहित्य जातकों में तथा जातकों से भी पुराना वेदों में उपलब्ध है। इसका 'संवादसूक्त' इनका उद्गम स्थान है।

संस्कृत कथा साहित्य के दो प्रमुख अंग हैं : नीति कथा और लोक कथा। नीति ग्रन्थों में पंचतंत्र तथा हितोपदेश विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पंचतंत्र का प्राचीनतम संस्करण तंत्राख्यायिका है। इसकी रचना का मुख्योपदेश महिलारोप्य के राजा अमरशक्ति के अयोग्य पुत्रों को थोड़े ही समय में नीति-

निपुण तथा व्यवहारविद् बनाना था। तंत्रोपाख्यान पंचतंत्र का ही एक विशिष्ट स्वरूप है। हितोपदेश भी नीतिकथा का एक सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसकी रचना का मुख्योद्देश्य पाटलिपुत्र के राजा सुदर्शन के अयोग्य पुत्रों को नीतिविद् बनाना था।

लोक कथाओं में गुणाढ्यकृत वृहत्कथा, वेतालपंचविंशति, विक्रम चरित, प्रबन्धकोश, भोज प्रबन्ध आदि ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनकी रचना का प्रधान लक्ष्य मनोरंजन है। इनमें केवल सीधे-सादे साधारण बोल-चाल वाले शब्दों का प्रयोग हुआ है।

मनुष्य को व्यवहारविद् बनाना तथा उसे त्रिवर्ग की प्राप्ति कराना इन कथाओं का मुख्योद्देश्य है। ये ग्रन्थ देवभाषा की पाठन-शैली के सुन्दर आदर्श और भाषा सीखने, कठिन बातों को समझाने तथा मस्तिष्क को प्रभावित करने के सुन्दर साधन हैं। इन कहानियों से सांसारिक ज्ञान की वृद्धि, तर्कशक्ति, विवेक, संकल्प आदि की वृद्धि तथा कल्पना-शक्ति का विकास होता है। ये छात्रों को अनुशासित बनाये रखने में भी सहायक हैं।

प्रश्न

1. "संस्कृत साहित्य ही भारतीय कथा साहित्य का उद्गम स्थान तथा भारतवर्ष ही इसकी जन्मभूमि है"—सिद्ध कीजिए।
2. "पंचतंत्र विश्व के सम्पूर्ण कहानी साहित्य को भारतीय साहित्य की एक अनुपम देन है"—इस कथन की पुष्टि कीजिए।
3. कहानी साहित्य के प्रचार एवं प्रसार की कहानी का विशद विवेचन कीजिए।
4. सिद्ध कीजिए कि भारतीय कथा साहित्य प्राचीनतम है।
5. पंचतंत्र के बारे में आप क्या जानते हैं—एक सुन्दर लेख लिखिए।
6. भारतीय कथा साहित्य के सृजन के उद्देश्यों का विशद विवेचन कीजिए।
7. पंचतंत्र के ऐतिहासिक महत्त्व की व्याख्या कीजिए।

सहायक पुस्तकें

1. पंचतंत्र नीतिमंजरी, तन्त्रोपाख्यान, हितोपदेश, वृहत्कथा श्लोक-संग्रह, वृहत्कथामंजरी, कथासरित सागर, वेतालपंचविंशति, प्रबन्ध-चिन्तामणि, प्रबन्धकोश, भोज प्रबन्ध, कादम्बरी,

2. संस्कृत साहित्य का इतिहास—आचार्य बलदेव उपाध्याय ।

अध्याय 14

कहानी-शिक्षण

कहानी साहित्य के उद्गम, प्रचार-प्रसार तथा उसके उद्देश्य की जानकारी कर लेने के पश्चात् उसकी शिक्षण-शैली से भी अवगत हो जाना आवश्यक है।

कहानी-कथन के प्रमुख तत्त्व

शिक्षण की दृष्टि से कहानी को निम्नलिखित तत्त्वों में विभाजित किया जा सकता है—कहानी का चयन, कहानी कहने वाले अध्यापक की विशेषताएँ, कहानी-शिक्षण-पद्धति, छात्रों से कहानी कहलवाना तथा कहानी सम्बन्धी अभ्यास। इस पाठ में इन्हीं तत्त्वों की विस्तृत चर्चा की गयी है।

कहानी की उपयुक्तता

कहानी सुनाने के पूर्व बड़ी सतर्कता के साथ उनका चयन किया जाना चाहिए। सर्व प्रथम कहानी ऐसी हो जो छात्रों के बौद्धिक-स्तर के लिए उपयुक्त हो। वह न तो बहुत बड़ी हो और न अति छोटी। वह इस प्रकार की हो कि कक्षा में निर्धारित समय के भीतर ही समाप्त हो जाय। यह कहानी छात्रों की वास्तविक एवं मानसिक आयु, उनके ज्ञान तथा जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण के अनुसार होनी चाहिए। छात्रों के वर्तमान जीवन तथा उनकी रुचि के अनुकूल कहानियाँ अत्यधिक प्रभावशाली होती हैं। छात्र प्रतिदिन देखे जाने वाले पशु-पक्षियों से सम्बद्ध कहानियों को अधिक पसन्द करते हैं। अतः छात्रों के लिए उनके जीवन से सम्बद्ध कहानियाँ अत्यधिक लाभप्रद सिद्ध होगीं।

कहानी के पात्र बालकों के वातावरण के अनुसार हों

बालक अपने प्रतिनिवेश का दास होता है। इसलिए उसके वातावरण के अनुकूल ही पात्रों का भी चयन करना चाहिए। पात्र ऐसे हों जिनसे बालक थोड़ा-बहुत अवश्य परिचित हो। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि बालक जीव-जन्तुओं की कथाओं में स्वभावतः रुचि रखते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार इन्हें ही पुस्तकों में आयी हुई कथाओं का पात्र बनाना चाहिए। इन कहानियों में शहर तथा ग्राम दोनों स्थानों के वातावरण में पले हुए जानवरों का वर्णन होना चाहिए। इसी सिद्धान्त का

अनुसरण हितोपदेश, पञ्चतन्त्रादि संस्कृत कथा-ग्रन्थों में किया गया है। इनमें वर्णित संजीवक, पिङ्गलक, करकट, दमनक आदि पात्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पञ्चतन्त्र में वर्णित वायस-कृष्णसर्पयोः कथा, सिंह शशकयोः कथा, चण्डरवस्य शृगालस्य कथा—इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

कहानियाँ सुखान्त हों

बालक बड़े ही भावुक होते हैं। कहानियों में वर्णित पात्रों के ऊपर बीती हुई बातों का उन पर प्रभाव पड़ता है। अतः कहानियों के चयन के सम्बन्ध में बड़ी ही सतर्कता बरतने की आवश्यकता है। कहानियाँ सुखान्त हों। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन ही दुःख और निराशाओं की खान है। वह उन्हीं को दूर करने के लिए जीवन पर्यन्त संघर्ष करता रहता है। अतः दुःखान्त कहानियाँ बालकों के सम्मुख प्रस्तुत कर उन्हें अभी से उनका शिकार न बनाया जाय। कहानियाँ जहाँ सुखान्त हों, वहीं वे उदात्त भावों से परिपूर्ण हों जिन्हें सुनकर बालक तदनुकूल स्वतः आचरण करने लगें और अपने भावी जीवन में उन भावों को ढाल सकें।

कहानी की भाषा बालकों की योग्यता के अनुसार हो

कहानी की भाषा के सम्बन्ध में भी सतर्क होने की आवश्यकता है क्योंकि भाषा के अति दुरूह अथवा सरल होने पर कहानी प्रभावोत्पादक नहीं हो सकती। उसके दुरूह होने पर वे उसके आनन्द से वञ्चित हो जायँगे और उसके अति सरल होने पर वे उसकी उपेक्षा करेंगे। अतः कहानी की भाषा बालकों की योग्यता के अनुसार होनी चाहिए ताकि बालक उसे भलीभाँति समझ सकें, उससे उत्पन्न आनन्द से लाभ उठा सके तथा उसमें वर्णित उदात्त भावों को अपने जीवन में ढाल सकें। प्रारम्भिक कक्षाओं में समासयुक्त तथा सन्धियुक्त पदों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इनके प्रयोग से भाषा दुरूह एवं अगम्य हो जायगी और बालक उसे सुविधापूर्वक ग्रहण न कर सकेंगे। भाषा का प्रवाह इस प्रकार का हो कि उसमें नवप्रयुक्त शब्दों तथा उक्तियों का अर्थ स्वतः स्पष्ट हो जाय। इसमें नये शब्दों और मुहाविरों का समावेश अवश्य हो पर उनकी संख्या उतनी ही हो जितनी कि सुविधापूर्वक सीख सकें।

प्रारम्भिक कक्षाओं के लिए चुनी गयी कहानियों की शैली इस प्रकार की हो कि उनमें घटनाओं का क्रम बहुत ही स्वाभाविक हो। इनमें दोहराव अवश्य

कहानी में क्रम स्वाभाविक, शब्दों का दोहराव तथा पद्यों का समावेश हो।

हो क्योंकि आवृत्ति से वस्तुएँ सुविधापूर्वक स्मरण हो जाती हैं। इन कथाओं में पद्यों का समावेश भी होना चाहिए क्योंकि इन पद्यों का बुद्धि-विकास पर विशेष प्रभाव पड़ता है। इन पद्यों के महत्त्व के सम्बन्ध में पहले ही चर्चा की जा चुकी है। इस प्रकार की शैली की सभी शिक्षाविदों ने मुक्त कण्ठ प्रशंसा की है। प्राचीन संस्कृत-कथा-ग्रन्थों में इसी शैली का अनुसरण किया गया है।

कहानी-चयन सम्बन्धी सिद्धान्तों का ज्ञान हो जाने के पश्चात् कहानी कहने वाले अध्यापक की विशेषताओं की भी जानकारी आवश्यक है। कहानियाँ

कहानी प्रेमपूर्वक, दत्तचित्त होकर कही जाय

साधारण से साधारण क्यों न हों, पर उन्हें प्रेमपूर्वक सुनाया जाय। उनके सुनाने में अध्यापक अपने को भूल कर कहानीमय हो जाय। उसे कहानी में विश्वास हो। दत्तचित्त होकर कहानी सुनाने से विद्यार्थी उसकी सार्थकता एवं उसके महत्त्व को समझने लगते हैं। जब तक अध्यापक कहानी कहने में आनन्द का अनुभव नहीं करेगा, तब तक विद्यार्थी भी उस आनन्द से वंचित रहेगें और इस तरह कहानी के उद्देश्य की पूर्ति न हो सकेगी। विशेषता तो इस बात की है कि वह कहानी 'कैसे' कहता है, न कि 'क्या' कहता है।

प्रायः देखा गया है कि अध्यापक कहानी को स्वयं कक्षा में पढ़ते हैं अथवा किसी विद्यार्थी को खड़ा कर उससे पढ़वाते हैं। यह उचित नहीं है। कथा कहने और बाँचने में अन्तर होता है। बाँची हुई कथा से कही हुई कथा का अधिक प्रभाव पड़ता है और यह प्रभाव स्थायी होता है। कहानी कथन भी एक कला है। इसको कलात्मक ढंग से प्रदर्शन करने के लिए कहानी पर पूर्ण अधिकार होना चाहिए। कहानी के कण्ठस्थ न होने पर उसका उचित ढंग से प्रदर्शन नहीं हो सकता। कहानी के कण्ठाग्र होने पर कहानी कहने वाला कहानी में आये हुए भावों को अपने हाथों, मुख, आँखों आदि से व्यक्त करने में समर्थ होता है। इस तरह कहानी में अध्यापक को एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव होगा जिससे सुनने वाले प्रभावित होने से वंचित नहीं रह सकते। यही कहानी कहने वाले की सबसे बड़ी विशेषता है।

इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य दूसरी बात यह है कि कथा कहने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट न हो। संकोच एवं संशयात्मक ढंग से कहने पर

कहानी निःसंकोच कही जाय।

श्रोतागण हताश हो जाते हैं। कहानी कहने में उतावला भी नहीं होना चाहिए। ये दोनों मार्ग कहानी कहने के उद्देश्य की पूर्ति नहीं करते हैं। अतः अध्यापक को कहानी कहते समय मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिए जिससे बालक कहानी की लड़ी को प्रत्येक कड़ी समझ जाय।

अध्यापक की भूल से छात्र अवगत न हों

यदि कहानी कहते समय अध्यापक कहानी के किसी अंश को भूल जाता है और यदि भूला हुआ यह अंश विशेष महत्त्व का न हो तो उसे छोड़ दे; किन्तु यदि यह अंश अधिक महत्त्व का हो तो इसे उचित प्रसंग के साथ कह दे। बालकों को इसका लेशमात्र भी आभास न हो। उसके प्रकट हो जाने पर श्रोताजन अपना अटल विश्वास खो देगें और इस प्रकार अध्यापक द्वारा की गयी सारी बातों पर पानी फिर जायगा।

कहानी की विशेषता से अवगत कराना।

प्रत्येक कथा में किसी न किसी प्रकार की विशेषता अवश्य होती है। उसे भली-भाँति अवगत कराना ही उस कथा के कहने का उद्देश्य होता है। कुछ कथाएँ प्रहसनपूर्ण होती हैं। अध्यापक को इस प्रकार की कहानी का वर्णन करते समय, कथा के प्रहसन से छात्रों को अवश्य अवगत कराना चाहिए। बालकों को उसका आनन्द लेने के लिए उचित समय भी देना चाहिए। स्मरण रहे, इस सम्बन्ध में संकेत अध्यापक की ही ओर से होना चाहिए। ऐसा करने के लिए उसे स्वर भेद, वर्णन गति, हाथ, मुखाकृति, आखों आदि से इंगित कर देना चाहिए। ऐसा न करने पर छात्र स्वयं इसे समझ न सकेंगे और इस तरह कहानी में आये हुए यथार्थ आनन्द को न उठा सकेगें। उन्हें प्रहसन में भाग लेने के लिए निर्भीक होने का अवसर देना चाहिए जिससे वे स्वच्छन्दतापूर्वक इसमें सम्मिलित हो सकें। प्रहसन के अनुभव की प्रवृत्ति जागरित करने के पश्चात् छात्रों को उसे आस्वादन करने का समय भी देना चाहिए, अन्यथा उनके प्रति बड़ा अन्याय होगा। कुछ लोग यह सोचते हैं कि बालकों को हँसाने से अनुशासन भंग हो जायगा। पर यह उनका भ्रम है। पढ़ाने के समय हँसाने से काम में रुचि उत्पन्न होती है और थकान दूर हो जाती है। विद्यार्थी तन्मय हो समय की गति को भूल जाता है और इस प्रकार अधिक समय तक पढ़ने के पश्चात् भी उसे यह अनुभव होता है कि वह थोड़े

ही समय तक पढ़ा है और इतने पर भी यदि उसे और पढ़ाया जाय तो वह पूर्ववत् पढ़ने के लिए तैयार है।

अध्यापक एक कुशल अभिनेता हो

कहानी कहने वाले अध्यापक को एक कुशल अभिनेता भी होना चाहिए। अभिनय केवल इस प्रकार का हो कि कथा कहने वाले के भाव प्रकट हो जायँ। इससे अधिक अथवा कम करने से हानि की सम्भावना रहती है। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' की कहावत कहीं चरितार्थ न होने लगे, इसलिए कहानी कहने के समय मध्यम मार्ग का ही अनुसरण करना चाहिए। इस प्रकार का अभिनय करना आवश्यक होता है क्योंकि इसके बिना कहानी के बहुत से भाव ठीक रूप से व्यक्त नहीं हो पाते हैं और इसके बिना बच्चे उन्हें समझ भी नहीं सकते हैं। कहानी कहते समय अध्यापक को ऐसे स्थान पर खड़ा होना चाहिए कि प्रत्येक छात्र उसका मुख देख सकें और वह भी सभी बालकों को एक दृष्टि में देख सके। उसे कक्षा में निर्भीक एवं आत्म-विश्वास के साथ खड़ा होना चाहिए। आत्म-विश्वास पाठ को सफल बनाने का एक मुख्य साधन है। उसके हाथ खुले होने चाहिए ताकि अवसर पड़ने पर कथा को रोचक बनाने में उनका प्रयोग किया जा सके। प्रायः देखा गया है कि अध्यापक कक्षा में हाथ को पीठ के पीछे, बगल में अथवा पाकेट में रखते हैं। ये सब बातें एक अध्यापक के लिए अनुचित हैं। उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए। कहानियों में ऐसे स्थान होते हैं जिनका स्पष्टीकरण हाथों की सहायता के बिना नहीं हो सकता, जैसे 'देवभाषा प्रवेशिका' प्रथम भाग में आई हुई 'जामातृ चतुष्टय' नामक कथा को सुनाते समय 'अर्धचन्द्र दानेन तं निष्कासितवान्' इस वाक्य का अर्थ हाथों द्वारा प्रदर्शित किये बिना छात्रों को भलीभाँति अवगत नहीं कराया जा सकता है।

प्रसंगानुसार स्वर में आवश्यक परिवर्तन

इनके अतिरिक्त अध्यापक को अपने स्वर में प्रसंगानुसार परिवर्तन भी करना चाहिए। भावों के साथ-साथ स्वरों में परिवर्तन करना आवश्यक है। स्वरों को बदलने से बालकों का ध्यान कथा की ओर आकर्षित किये रहने में बड़ी सहायता मिलती है। स्वरों के आरोह-अवरोह से कथा रुचिकर प्रतीत होती है और उसे सुनने के लिए बालक दत्तचित्त हो बैठे रहते हैं। अध्यापक को विश्राम करने के लिए भी पर्याप्त अवसर मिल जाता है।

कहानी-कथन-पद्धति, उसके उद्देश्य एवं कहानी सुनाने वाले अध्यापक की विशेषताओं की जानकारी हो जाने पर उसकी शिक्षण पद्धति निश्चित करना सरल हो जाता है। सर्वप्रथम अध्यापक को उचित प्रस्तावना के साथ कहानी में आये हुए नये शब्दों का ज्ञान करा देना चाहिए। इस अवसर पर छात्रों के सामने कथा संबन्धी चित्र उपस्थित किये जायँ और उनसे उस चित्र के संबन्ध में प्रश्न पूछे जायँ। ऐसा करने से छात्रों को अपने भावों को व्यक्त करने एवं चित्रों के अवलोकन की शक्ति का विकास होता है।

कहानी-शिक्षण-पद्धति

यदि कथा बड़ी हो तो उसको सुविधानुसार कई भागों में बाँट लिया जाय। प्रथम भाग को धीरे-धीरे स्पष्ट और सरल भाषा में सुनाया जाय। ऐसा करने के पश्चात् इस भाग पर कुछ इने-गिने प्रश्न पूछ लिये जायँ जिनसे यह ज्ञात हो जाय कि बालकों ने कितनी कथा ग्रहण की है। बालकों के उत्तर के साथ ही साथ श्यामपट्ट पर इसका कुछ विशेष सार लिख दिया जाय। पर लिखने का यह काम बहुत ही शीघ्र किया जाय अन्यथा कहानी का क्रम टूट जायगा। अच्छे अध्यापक प्रश्न और उत्तर के साथ ही साथ श्याम-पट्ट का भी प्रयोग करते हैं। लड़के इस सार को अपनी कापियों पर लिख लें परन्तु इस बात पर ध्यान रखने की आवश्यकता है कि लेख गन्दे न हों। ऐसा करने के पश्चात् अध्यापक को कथा के इस अंश को पुस्तक से विरामादि के साथ पढ़ना चाहिए अथवा किसी अच्छे छात्र से पढ़वाना चाहिए। इन्हीं नियमों का प्रत्येक खण्ड के कहने में अनुसरण करना चाहिए। इस प्रकार जब सम्पूर्ण कथा समाप्त हो जाय तो आवृत्यात्मक प्रश्नों द्वारा सम्पूर्ण कहानी बालकों के योग से फिर दुहरा ली जाय। ऐसा करने के पश्चात् सम्पूर्ण कथा किसी एक बालक से अथवा दो या तीन बालकों से खण्ड करके कहलायी जाय। यह कार्य किसी तीव्र छात्र द्वारा ही सम्पन्न कराया जाय। यदि समय मिले तो प्रायः सभी बालकों को पूरी कहानी कहने का अवसर दिया जाय। ऐसे बालकों को कक्षा के समक्ष खड़ा कर दिया जाय। ऐसा करने से सभी बालक सुविधापूर्वक उसे देख सकेंगे। किसी को उसके द्वारा कही हुई कहानी सुनने के लिए घूमना या मुड़ना नहीं पड़ेगा। अध्यापक भी सभी छात्रों को देख सकेगा जिससे अनु-शासन भंग होने की आशंका नहीं रहेगी। कहानी कहने वाले बालक के हृदय में आत्म-विश्वास उत्पन्न होगा।

छात्रों द्वारा कहानी कथन

इसके अतिरिक्त जिन कथाओं का अभिनय हो सके, उनका अभिनय भी अवश्य कराया जाय। अभिनय से छोटे बच्चों का बहुत लाभ होता है। भाषा का वास्तविक ज्ञान अभिनय से ही होता है। बालक जब सुनी हुई कहानी का स्वयं अभिनय करता है अथवा दूसरों को अभिनय करते हुए देखता या सुनता है, तो उसे कहानी में आये हुए जटिल से जटिल शब्दों एवं वाक्यों का अर्थ स्वतः ज्ञात हो जाता है। अभिनय करने से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि लड़कों ने कथित कहानी को अच्छी तरह समझा है कि नहीं। यदि विद्यार्थी स्वतः कहानी को अपनी भाषा में कहने में समर्थ हुआ तो इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि उसने उस कहानी तथा उसकी भाषा एवं भाव को अच्छी तरह से ग्रहण कर लिया है। अभिनय करने से 'करने तथा सीखने' के सिद्धान्त को चरितार्थ करने का सुनहरा अवसर मिलता है। इससे बालकों में आत्म-विश्वास की भावना जागरित होती है और वे अपने भावों को निःसंकोच हो प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त करने में अभ्यस्त हो जाते हैं। उनमें सम्भाषण की योग्यता तथा प्रत्युत्पन्नमतित्व का प्रादुर्भाव होता है। इससे कार्य करने में शिथिलता भी नहीं आने पाती है। उसमें परिवर्तन हो जाता है जिसे बालक अधिक पसन्द करते हैं। इससे बहुत से शब्द और वाक्य अनायास ही स्मरण हो जाते हैं क्योंकि इसमें बालकों की रुचि होती है। इसी से कहा गया है कि भाषा अभिनय के ही द्वारा अच्छी तरह सीखी जा सकती है।

छात्रों द्वारा कहानी का अभिनय कराया जाय

कहानी के संबन्ध में निम्नलिखित प्रकार के अभ्यास बच्चों के लिए बड़े ही उपयोगी सिद्ध होते हैं।

कहानी सम्बन्धी अभ्यास

(1) कहानी सुना लेने के पश्चात् छात्रों से कहानी से सम्बद्ध विशिष्ट घटनाओं का चित्र तैयार करवाया जाय। इससे भाषा तथा कला में सह संबन्ध स्थापित होता है।

(2) चित्रों के आधार पर कहानी लिखवायी जाय, जैसे 'लम्बकूर्चो मूर्खः' नामक कहानी कह लेने तथा छात्रों से कहलवा लेने के पश्चात् उनके समक्ष एक लम्बी दाढ़ी वाले व्यक्ति को एक पुस्तक में "लम्बकूर्चो मूर्खः भवति"—यह पढ़ता हुआ दिखाया जाय। दूसरे चित्र में उसे अपनी दाढ़ी को जलाते हुए

तथा तीसरे चित्र में उसकी जलती हुई दाढ़ी दिखाई जाय। इन चित्रों के आधार पर उन्हें कहानी लिखने का आदेश दिया जाय।

(3) कहानी में प्रयुक्त विशिष्ट शब्द श्यामपट्ट पर लिख दिये जायँ और छात्रों से उन्हीं के आधार पर सम्पूर्ण कहानी लिखने के लिए कहा जाय, जैसे उपरिलिखित "लम्बकूर्चो मूर्खः" नामक कहानी के संबन्ध में निम्नलिखित शब्द लिखकर छात्रों से पूरी कहानी लिखवायी जा सकती है—

श्मश्रु (दाढ़ी), एकदा, कूर्चः (दाढ़ी), क्वचित्, अपश्यत् भृशम् (बहुत), परितप्यमान (दुःखी हो), ह्रस्वानि (छोटा) दीपशलाकया (दियासलाई), अदहत् (जलाया), बहिः, मुष्ठिदेशम् (मुट्ठी तक), प्रसर्पति (फैलती है), अत्यजत् (छोड़ दिया) विनष्टम् (नष्ट हो गई), संप्रधार्य (सोचकर), आभाणकस्य (कहावत)।

(4) कहानी को विभिन्न पुरुषों में लिखना लिखित रचना का एक सुन्दर अभ्यास है। इसके लिए कल्पना की आवश्यकता होती है। छात्रों को अपो को कहानी में आये हुए पात्रों में से एक पात्र मान कर कहानी लिखनी पड़ती है, जैसे उपरिलिखित कहानी को छात्रों को अपने को एक लम्बी दाढ़ी वाला व्यक्ति समझ कर उत्तम पुरुष में लिखने, को दिया जा सकता है। छात्र इसे इस प्रकार आरम्भ कर सकता है—एकदाहम् एकस्मिन् पुस्तके अपठम् यत् लम्बकूर्चो मूर्खः भवति.....। और इस प्रकार पूरी कहानी लिख सकता है।

(5) पद्यबद्ध कहानी को गद्य में लिखने के लिए कहा जाय, जैसे, "अमरवाणी" नामक पुस्तक के "कपोतोपाख्यानम्" नामक पाठ में उल्लिखित पद्यबद्ध कहानी को गद्य में लिखने के लिए आदेश दिया जा सकता है।

(6) जो कहानी गद्य में हो, उसे सुनाकर उस पर छोटे-छोटे प्रश्न दिये जायँ और छात्रों से उनका उत्तर लिखने को कहा जाय।

(7) ऊँची कक्षाओं के छात्रों से कहानी में आये हुए पात्रों का चरित-चित्रण करने अथवा कहानी की आलोचना तथा उसका सार लिखने को कहा जाय। एक ही लेखक अथवा विभिन्न लेखकों की दो कहानियों की आपस में तुलना कराई जाय।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हम पाठ-योजना तैयार करते समय कहानी-शिक्षण-क्रम को निम्न प्रकार से निर्धारित कर सकते

शिक्षण-क्रम हैं :—

1. सामान्य प्रारम्भिक बातें (घण्टा, कक्षा, कालांश, विषय, उपविषय, दिनाङ्क आदि)।
2. सामान्य उद्देश्य,
3. मुख्य उद्देश्य,
4. सहायक सामग्री,
5. पूर्व ज्ञान,
6. प्रस्तावना,
7. उद्देश्य-कथन,
8. प्रस्तुतीकरण—(क) सरल हिन्दी में कथा सुनाना। यदि कथा सरल हो, तो उसे संस्कृत में ही सुनाया जाय।

   (ख) काठिन्य-निवारण – कठिन शब्दों एवं सूक्तियों तथा पदों के अर्थ श्यामपट्ट पर अंकित करना।
9. बोध-परीक्षात्मक प्रश्न :—सरल संस्कृत में दो-तीन प्रश्न इस ढंग से किये जायँ जिनसे यह पता लग जाय कि छात्र कहानी की मुख्य बातों को समझ गये हैं।
10. शिक्षक द्वारा कथा-कथन—शिक्षक सम्पूर्ण कथा को सरल संस्कृत में इस तरह से कहे कि उसमें व्यक्त भाषा स्वतः स्पष्ट हो जायँ।
11. छात्रों द्वारा कहानी कथन।
12. शिक्षक द्वारा कथा-पठन।
13. बालकों द्वारा कहानी पठन।
14. आवृत्यात्मक प्रश्न—संस्कृत के सरल प्रश्नों एवं उत्तरों द्वारा कहानी की आवृत्ति करवाना। यदि कहानी अभिनय के योग्य हो तो उसका अभिनय कराना।
15. गृह-कार्य।

सारांश

कहानी कथन के चार प्रमुख तत्त्व हैं : कहानी का चुनाव, कहानी कहने वाले अध्यापक की विशेषताएँ, कहानी शिक्षण-पद्धति, छात्रों से कहानी कहलवाना, तथा कहानी संबन्धी अभ्यास।

कहानी छात्रों की आयु, योग्यता, बौद्धिक-स्तर आदि के अनुकूल हो। इसमें आये हुए पात्र उनके वातावरण के हों। कहानियाँ सुखान्त हों। इनमें प्रयुक्त भाषा छात्रों के स्तर की हो। इनमें घटनाओं का क्रम स्वाभाविक हो, शब्दों का दोहराव हो और यथास्थान पद्यों का भी समावेश हो।

कहानी प्रेमपूर्वक दत्तचित्त होकर कही जाय। कहानी पढ़ी न जाय अपितु कही जाय। यह निःसंकोच होकर कही जाय। छात्रों को कहानी की विशेषताओं को अवगत करा दिया जाय।

कहानी कहने वाला अध्यापक एक कुशल अभिनेता हो। प्रसंगानुसार उसके स्वर में उतार-चढ़ाव हो। सर्वप्रथम उचित प्रस्तावना के साथ कहानी में आये हुए नये शब्दों का ज्ञान करा दिया जाय। यदि कहानी बड़ी हो तो इसे सुविधानुसार कई भागों में विभक्त कर लिया जाय। इन भागों को कह लेने पर उनसे सम्बद्ध दो या तीन प्रश्न पूछ लिये जायँ और संक्षेप में इन प्रश्नों के उत्तरों को श्यामपट्ट पर अंकित कर दिया जाय। इस तरह संपूर्ण कहानी कह लेने के पश्चात् अन्त में उसकी आवृत्ति करा लेने के निमित्त कतिपय प्रश्न पूछ लिये जायें।

कहानी कह लेने के पश्चात् छात्रों से पूरी कहानी, कहलायी जाय। यदि संभव हो तो उसका अभिनय भी करा दिया जाय। इससे संबद्ध गृह-कार्य में कहानी संबन्धी चित्र तैयार करवायें जायँ। चित्रों के आधार पर कहानी लिखवायी जाय। कहानी में आये हुए विशिष्ट शब्दों को श्यामपट्ट पर लिखकर उनके आधार पर पूरी कहानी लिखवायी जाय। कहानी को विभिन्न पुरुषों के रूप में लिखवाया जाय। पद्यबद्ध कहानी को गद्य में लिखवाया जाय। इनसे संबद्ध प्रश्न पूछे जायँ और उत्तर लिखने का आदेश दिया जाय। पात्रों का चरित्र-चित्रण भी करवाया जाय।

कहानी की पाठ-योजना निम्न प्रकार से तैयार की जाय—

सामान्य प्रारंभिक बातें यथा कक्षा, घण्टा आदि।

उद्देश्य, सहायक सामग्री, पूर्वज्ञान, प्रस्तावना, उद्देश्य कथन, प्रस्तुतीकरण, बोधपरीक्षात्मक प्रश्न, शिक्षक तथा छात्रों द्वारा कथा-कथन, आवृत्यात्मक प्रश्न और गृह-कार्य।

प्रश्न

1. कहानी-शिक्षण के प्रमुख तत्वों का विशद विवेचन कीजिए।
2. कहानी किन-किन सिद्धान्तों पर चुनी जाय, विस्तार पूर्वक समझाइये।
3. कहानी-कथन की शैली पर प्रकाश डालिए।
4. कहानी संबन्धी गृह-कार्यों एवं एतत्संबन्धी पाठ-योजना तैयार करने के क्रम का उल्लेख कीजिए।

पाठ-संकेत (1)

दिनाङ्क कक्षा 7 वर्ग अ कालांश 4

विषय—संस्कृत कथा (व्याघ्र चर्म प्रतिच्छन्नः गर्दभः)

सामान्य उद्देश्य—1. छात्रों की कल्पना-शक्ति का विकास करना।
2. उनकी तर्क शक्ति का विकास करना।
3. छात्रों के उदात्त भावों को जागरित करना।
4. उनके चरित्र-निर्माण में योग देना।
5. उन्हें संस्कृत भाषा का ज्ञान कराना।
6. छात्रों को स्वस्थ मनोरंजन की ओर आकर्षित करना।

मुख्योद्देश्य—उपर्युक्त कथा के आधार पर छात्रों को यह बताना कि कपट का फल अच्छा नहीं होता है। कपट से आरंभ में लाभ भले ही हो किन्तु अन्त में इसका परिणाम भयंकर होता है।

पूर्व-ज्ञान—छात्र इस प्रकार की अनेक कहानियाँ हिन्दी में पढ़ चुके हैं। यह भी जानते हैं कि "जैसे हाँड़ी काठ की, चढ़े न दूजो बार"

कथावस्तु—(पाठ्य-पुस्तक की कहानी होने पर उसे लपेट श्यामपट्ट पर लिख कर कक्षा में ले जाना चाहिए)।

जैसे— **व्याघ्रचर्मप्रतिच्छन्नः गर्दभः**

कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने शुद्धपटः नाम रजकः आसीत्। तस्य एकः गदर्भः आसीत्। सः घासाभावात् अतिदुर्बलः आसीत्। एकदा रजकः वनमगच्छत्। तत्र सः व्याघ्रचर्म अपश्यत् अचिन्तयच्च, "अहो! शोभनम् आपतितम्। अनेन व्याघ्रचर्मणा गदर्भं प्रतिच्छाद्य रात्रौ यवक्षेत्रेषु तमुत्सक्ष्यामि। व्याघ्रं मत्वा क्षेत्रपालाः एनं न निष्कासयिष्यन्ति।"

तथाकृते गर्दभः रात्रौ यथेच्छं यवभक्षणं कर्तुमारब्धवान्। एवं गच्छता-कालेन सः पीवरतनुः जातः। एकदा सः दूरात् रासभशब्दम् अशृणोत्। तच्छ्रवणमात्रेण एव स्वयं तारस्वरेण शब्दयितुम् आरब्धवान्। अथ ते क्षेत्रपालाः

"रासभः अयं व्याघ्रचर्म प्रतिच्छन्नः" इति ज्ञात्वा लकुटप्रहारैः तं व्यापादितवन्तः ।

सहायक-सामग्री—(1) लपेट श्यामपट्ट पर लिखी हुई कहानी । (2) एक नगर में एक धोबी तथा उसके समीप स्थित एक दुबले-पतले (गधे) का चित्र । (3) जंगल में घूमते हुए धोबी के समक्ष पड़े हुए व्याघ्र-चर्म का चित्र । (4) बाघ के चमड़े से आच्छादित गधे को यव के खेत में चरते हुए दृश्य का चित्र । (5) बाघ के चमड़े से ढके हुए रेंकते हुए गधे को लाठी से पीटते हुए खेत-रक्षकों का चित्र ।

प्रस्तावना :—प्रथम चित्र को छात्रों के समक्ष प्रस्तुत कर उनसे निम्नलिखित प्रश्न पूछा जायगा ।

1. चित्र में धोबी की ओर संकेत करके—
   अयं कः ? (अयं रजकः)
2. पुनः गधे की ओर संकेत करके—
   अयं कः ? (अयं गर्दभः)
3. पुनः बाघ के चमड़े से ढके हुए गधे की ओर संकेत करके—

   अयं कः ? (अयं व्याघ्रचर्मप्रतिच्छन्नः गर्दभः)

उद्देश्य कथन—अद्य वयं तस्य गर्दभस्य कथां पठिष्यामः ।

काठिन्य निवारण—अधिष्ठाने = कस्बा, नगर । शोभनम् आपतितम् अच्छा हुआ, अच्छी वस्तु मिली । प्रतिच्छाद्य = ढक कर । उत्सक्ष्यामि = छोड़ दूंगा । निष्कासयिष्यन्ति = निकालेगें । तथाकृते = ऐसा करने पर । आरब्धवान् = आरंभ किया । गच्छताकालेन = समय बीतने पर । पीवरतनुः = मोटा । रासभः = गधा । तारस्वेरण = ज़ोर से । प्रतिच्छन्नः = ढका हुआ । व्यापादितवन्तः = मार डाला ।

विषय-प्रवेश—अध्यापक संपूर्ण कथा का सस्वर वाचन कर लेने के पश्चात् चित्रों के आधार पर छात्रों से अग्रलिखित प्रश्न पूछेगा । दूसरे चित्र छात्रों के समक्ष प्रस्तुत करके—

1. अयं कः ? (अयं रजकः)
2. सः कुत्र अगच्छत् ? (सः वनम् अगच्छत्)
3. तत्र सः किम् अपश्यत् ? (तत्र सः व्याघ्रचर्म अपश्यत्)
4. तदा सः किम् अचिन्तयत् (तदा सः·····निष्कासयिष्यन्ति)

तीसरा चित्र प्रस्तुत करके—

5. तत्पश्चात् सः किम् अकरोत् ? (सः व्याघ्रचर्मणा गर्दभं आच्छादयत्)
6. गर्दभः रात्रौ किम् अकरोत् ? (यवभक्षणं कर्तुं आरब्धवान्)
7. एवं गच्छताकालेन गर्दभः कीदृशोऽभवत् ? (पीवरतनुः)
8. यदा सः दूरात् रासभशब्दम् अशृणोत् तदा सः किम् अकरोत् ? (तारस्वरेण शब्दयितुम् आरब्धवान्)
9. तदा क्षेत्रपालाः किम् अकुर्वन् ? (ते लकुट प्रहारेण तं व्यापादितवन्तः)

अध्यापक द्वारा कथा-कथन—(अध्यापक सम्पूर्ण कथा को संस्कृत में बालकों को सुनायेगा)।

छात्रों द्वारा कहानी पठन—इसके पश्चात् अध्यापक किसी अच्छे छात्र से सम्पूर्ण कहानी पढ़वायेगा।

छात्रों द्वारा कहानी कथन :—इस पूरी कहानी पढ़वा लेने के पश्चात् अध्यापक कुछ छात्रों से इसे कहलवायेगा।

आवृत्यात्मक प्रश्न :—

1. गर्दभं दुर्बलं दृष्ट्वा रजकः किम् अकरोत् ?
2. तद् रहस्यं जनाः कथम् अजानन् ?
3. तस्य कः परिणामः अभवत् ?

गृह-कार्य :—1. पाठ संकेत में उल्लिखित चित्रों को घर से बना कर लाने का आदेश देना।

2. नीचे लिखे हुए शब्दों के आधार पर पूरी कहानी संस्कृत में लिखकर लाने का आदेश देना।

शब्दावलि :—रजकः, गर्दभः, व्याघ्रचर्मणा, आच्छादयत्, यवक्षेत्रेषु, क्षेत्रपालाः, रासभशब्दम्, लकुटैः, व्यापादितवन्तः।

●

पाठ-संकेत (2)

'लम्बकूर्चो मूर्खः'

कस्यापि पुरुषस्य श्मश्रु दीर्घमासीत् । सः एकदा क्वचित् पुस्तके अपठत् यत्, "लम्बकूर्चः प्रायशः मूर्खो भवति ।" ततः आत्मानमपि मूर्खं मत्वा सः अति दुःखी अभवत्, मुखरोमाणि ह्रस्वानि कर्तुं मध्ये गृहीतस्य कूर्चस्याग्रं प्रज्वलितया दीपशलाकयाऽदहत् च । अथ वह्निर्यदा तस्य मुष्ठिदेशम् अगच्छत्, तदा दाहभयेन स करग्रहम् अत्यजत् । फलतः दाढिकाबालाश्च सर्वे भस्मीभूताः । तदा सः मनस्यचिन्यत्, सत्यमेव मूर्खोऽस्मि । ततः स आभाणकस्य सत्यतां प्रमाणयति स्म ।

सामान्य उद्देश्य जैसा कि कहानी-कथन-पद्धति वाले पाठ में उल्लिखित है ।

मुख्योद्देश्य :—'लम्बकूर्चो मूर्खः भवति' इस कहावत से तथा कहानी में वर्णित व्यक्ति की मूर्खता से छात्रों को परिचित कराना ।

उपकरण :—तीन चित्र (प्रथम चित्र में एक लम्बी दाढ़ी वाला व्यक्ति एक पुस्तक में "लम्ब कूर्चः मूर्खः भवति पढ़ता हुआ दिखाया जायगा । दूसरे चित्र में उसे अपनी दाढ़ी को मुट्ठी में पकड़े हुए तथा बढ़ी हुई दाढ़ी को जलाते हुए दिखाया जायगा तथा तीसरे चित्र में उसकी जलती हुई दाढ़ी दिखाई जायगी), निर्देशिका यष्टि दीपशलाका (दियासलाई), कठिनी (चाक) तथा झाड़न ।

प्रस्तावना :—अध्यापक प्रथम चित्र को लड़कों के समक्ष उपस्थित कर उनसे निम्नलिखित प्रश्न पूछेगा :—

(चित्र की ओर संकेत करके) बालका ! इदं चित्रं पश्यत ।

1. अयम् कः अस्ति ? (अयम् एकः नरः अस्ति)
2. इदम् अस्य किम् अस्ति ? (इदम् अस्य कूर्चम् अस्ति)
3. अयम् पुरुषः किम् करोति ? (अयम पुरुषः पुस्तकम् पठति)
4. सः पुस्तके किम् पठति ? (सः पुस्तके पठति यत् लम्बकूर्चः मूर्खः भवति)

उद्देश्य कथन :—अद्य वयं "लम्ब कूर्चो मूर्खः भवति" इति कथां पठिष्यामः ।

कठिन शब्दों का ज्ञान = प्रायशः = प्रायः, अधिकतर ; ह्रस्वानि = छोटा ; प्रज्वलितया = जलती हुई ; दीपशलाकया = दियासलाई से, आभाणकस्य = कहावत की । अध्यापक इन शब्दों तथा इनके अर्थों को श्यामपट्ट पर लिख देगा ।

विषय-प्रवेश—सर्वप्रथम अध्यापक सम्पूर्ण कथा का सस्वर वाचन करेगा। तदनन्तर दूसरे चित्र को छात्रों के समक्ष प्रस्तुत कर उनसे निम्नलिखित प्रश्न पूछेगा।

1. सः पुस्तके किम् अपठत् ? (लम्बकूर्चो मूर्ख भवति)
2. तदा सः आत्मानं किम् अमन्यत् ? (सः आत्मानं मूर्खम् अमन्यत्)
3. तदा सः किम् अकरोत् ? (सः स्वकूर्चम् अदहत्)

तत् पश्चात् अध्यापक तीसरा चित्र प्रस्तुत कर पुनः इस प्रकार छात्रों से प्रश्न पूछेगा—

1. यदा वह्निः तस्य मुष्ठिदेशम् अगच्छत्, तदा सः किम् अकरोत् ? (सः करग्रहम् अत्यजत्)
2. फलतः अस्य कूर्चम् किम् अभवत् ? (अस्य कूर्चम् अज्वलत्)
3. इदानीम् सः किम् चिन्तयति ? (यत् सत्यमेव लम्बकूर्चः मूर्खः भवति)

अध्यापक द्वारा कथा-कथन—इसके पश्चात् अध्यापक सम्पूर्ण कहानी को छात्रों को सुनायेगा।

छात्रों द्वारा कहानी पठन—इसके बाद अध्यापक किसी अच्छे छात्र से सम्पूर्ण कहानी पढ़वायेगा।

छात्रों द्वारा कहानी-कथन—छात्रों से पूरी कहानी पढ़वा लेने के पश्चात् अध्यापक कुछ छात्रों से इसे कहलवायेगा।

आवृत्यात्मक प्रश्न—1. लम्बकूर्चः पुस्तके किं पठति ?
2. तत्पश्चात् सः किं करोति ?
3. अस्य किं परिणामम् अभवत् ?
4. सः कीदृशः पुरुषः अस्ति ?

गृह-कार्य—1. पाठ-संकेत में उल्लिखित तीनों चित्रों को घर से बना कर लाने का आदेश देना।
2. नीचे लिखे हुए शब्दों के आधार पर पूरी कहानी संस्कृत में लिखकर लाने का आदेश देना।

श्मश्रुः (दाढ़ी), कूर्चः (दाढ़ी) क्वचित् (कहीं) अपश्यत्, ह्रस्वानि (छोटा), दीपशलाकया, अदहत्, मुष्ठिदेशम् प्रसर्पति (फैलती है), अत्यजत्, विनष्टम्, संप्रधार्य (सोचकर) आभाणक (कहावत)।

अध्याय 15

संस्कृत व्याकरण शिक्षण (भाग 1)

व्याकरण शब्द की व्युत्पत्ति एवं महत्त्व

व्याकरण शब्द की उत्पत्ति वि + आ + कृ (धातु) + ल्युट् प्रत्यय के योग से हुई है। 'व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेन' अर्थात् जिसके द्वारा शब्दों की व्युत्पत्ति अथवा विश्लेषण किया जाता है, उसे व्याकरण कहते हैं। व्याकरण केवल नियमों का संग्रह मात्र ही नहीं अपितु लक्ष्य और लक्षण दोनों का ही संग्रह है[1]। शिक्षा कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—इन छः वेदाङ्गों में व्याकरण का प्रमुख[2] स्थान है। पाणिनीय शिक्षा[3] में तो इसे वेद के मुख की संज्ञा प्रदान की गयी है। यह मुख्य रूप से वेदों को सुरक्षित करने में हमारी सहायता करता है, विभिन्न विभक्तियों में शब्दों के रूप-परिवर्तनों को प्रभावित करता है, उन्हें और उनके अर्थों को सुविधापूर्वक जानने में सहायक होता है तथा भाषा विषयक सभी सन्देहों को दूर करता है[4]। व्याकरण को 'शब्दानुशासन' भी कहा गया है। यह समस्त संस्कृत शब्दों का भाण्डार है।

व्याकरण की शिक्षा के बिना भाषा सम्बन्धी शिक्षा अधूरी होती है। भाषा व्याकरण ही द्वारा शासित होती है। व्याकरण भाषा को शुद्ध एवं परिष्कृत करता है। यह भाषा का व्यावहारिक विश्लेषण है। प्रत्येक भाषा का अपना विशिष्ट शब्द-क्रम, धातु-क्रम, शब्द-समूह तथा विशेष ढाँचा हुआ करता है।

---

1. लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्—महाभाष्य आ० 1, वा० 14।
2. प्रधानं च षट्स्वंगेषु व्याकरणम्—महाभाष्य 1, 1, 1,
3. छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
   शिक्षा घ्राणम् तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
   [पाणिनीय शिक्षा 41, 42]
4. रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्—महाभाष्य आ० 1।

व्याकरण इस व्यावहारिक रचना का विश्लेषण और अध्ययन करता है। यह निश्चित वर्गों के आधार पर भाषा-विषयक तत्त्वों का प्रतिपादन करता है। यह भाषा का मानदण्ड होता है। भूगोल के अध्ययन में मानचित्रों का जो महत्त्व है, वही महत्त्व भाषा के अध्ययन में व्याकरण का भी है। इसके महत्त्व के सम्बन्ध में निम्नलिखित लोकोक्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

एक बार कालिदास कहार के वेष में किसी पण्डित जी की पालकी ढो रहे थे। उन्हें देख कर पण्डित जी ने उनसे पूछा कि (अयमान्दोलिकादण्डः स्कन्धे किं तव बाधति) क्या इस पालकी का दण्ड आपके कन्धे पर गड़ रहा है। इस पर कविवर कालिदास ने कहा कि (न बाधते तथा मां हि यथा बाधति बाधते)--पालकी का दण्ड उतना कष्ट नहीं दे रहा है जितना आपका बाधते के स्थान पर 'बाधति' का प्रयोग करना।

व्याकरण के महत्त्व के सम्बन्ध में दूसरी लोकोक्ति इस प्रकार है—एक पण्डित जी अपनी कन्या तथा अपने एक शिष्य को एक ही साथ व्याकरण पढ़ाया करते थे। दोनों सम वयस्क थे। शिष्य एक कुलीन सुन्दर युवक था। पण्डित जी उसको अपनी कन्या के योग्य सुन्दर वर समझ उसी के साथ उसका विवाह करना चाहते थे। जब उन्होंने इस प्रस्ताव को अपनी कन्या के सम्मुख रखा तब उसने इसे अस्वीकार करते हुए उनसे कहा कि—

यस्य षष्ठी चतुर्थी च विहस्य विहाय च।
यस्याहं च द्वितीया स्याद् द्वितीयास्यामहं कथम्॥

अर्थात् जो व्यक्ति 'विहस्य' (क्रियापद) को संज्ञा के षष्ठी विभक्ति का रूप, 'विहाय' (क्रिया पद) को संज्ञा के चतुर्थी विभक्ति का रूप तथा 'अहम्' (सर्वनाम) शब्द को संज्ञा के द्वितीया विभक्ति का रूप बताता है, उस व्यक्ति की मैं द्वितीया (भार्या) कैसे हो सकती हूँ।

इसके महत्त्व के सम्बन्ध में एक तीसरी लोकोक्ति इस प्रकार है--पिता अपने पुत्र से प्रेमपूर्वक कहता है कि—

यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत्, सकलं शकलं सकृच्छकृत्॥

ऐ पुत्र! यद्यपि तुमने बहुत कुछ पढ़ लिया है, फिर भी व्याकरण अवश्य पढ़ लो। यदि तुम्हें व्याकरण का ज्ञान हो जायगा तो तुम 'स्वजन' (आत्मीय

जन) के स्थान पर 'श्वजन' (कुत्ते), 'सकल' (सम्पूर्ण) के स्थान पर 'शकल' (खण्ड) और 'संकृत्' (एक बार) के स्थान पर 'शकृत्' (विष्ठा) का उच्चारण न करोगे। यह पिता का पुत्र के प्रति वात्सल्यपूर्ण उपदेश है। इसमें उपहास है, ग्लानि है और इन सबसे बचने के लिए सच्चा मार्ग-दर्शन है। व्याकरण अध्ययन के बिना सभी शास्त्रों का अध्ययन व्यर्थ है। महर्षि पतंजलि ने भी कहा है कि 'रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्' अर्थात् वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है।

"संस्कृत-भाषी [1] समुदाय की सबसे बड़ी विशेषता थी ज्ञान की निरन्तर खोज के लिए आग्रह। जिन लोगों ने वेद का प्रामाण्य माना उन्होंने वेद को ज्ञान का स्रोत माना, ज्ञान का पूरा विस्तार नहीं और इसीलिए प्रत्येक उपलब्धि को उस स्रोत तक सूत्रबद्ध देखने की कोशिश की। उनका आग्रह ज्ञान की निरन्तरता का आग्रह है, कूटस्थता का नहीं। इसको सभी लोग स्वीकार करते रहे कि ज्ञान में प्रतिष्ठा पाये बिना जीवन में कोई मान-प्रतिष्ठा नहीं पा सकता। इसीलिए शास्त्रार्थ के द्वारा मत-परिवर्तन का इतिहास विश्व में यहीं पर सबसे अधिक है। इसका प्रभाव ज्ञान की अभिव्यक्ति के माध्यम अर्थात् भाषा के विकास पर भी पड़ा। शब्दों तथा उनके अवयवों का अर्थ इसीलिए संस्कृत में बहुत परिच्छिन्न होता गया है। शब्द की तीन प्रकार की शक्तियों अभिधा, व्यञ्जना और लक्षणा का अन्वेषण भी ज्ञान की इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए हुआ। इसीलिए व्याकरण को छः वेदागों में मुख्य भी माना गया। भाषा में इसी के कारण बहुत कसाव आया।"

"संस्कृत-भाषी समुदाय की दूसरी बड़ी विशेषता है वाचिक परम्परा में विश्वास। भारत में जिस रूप में मंत्र का उच्चारण प्रत्येक शाखा में हुआ, उस रूप में उसे सुरक्षित करने का प्रयत्न जो अद्यावधि होता रहा है, वह यही प्रमाणित करता है कि बोले जाने वाले शब्द का महत्त्व भारतीय जीवन में अत्यधिक रहा है। सामाजिक जीवन में वचन का मोल सबसे अधिक आँका जाता रहा है। वेदों का दर्शन श्रुति द्वारा है, शब्द आकाश का गुण है, अनादि[2] निधन है, जगत् उसका विवर्त है, साधनों में सबसे अधिक परिष्कृत है, शिव

---

1. पं० सुरति नारायण मणि त्रिपाठी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० 50-51.
2. अनादि निधनं ब्रह्म शब्द तत्त्वं यदक्षरम्।
   विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो अतः॥

की शक्ति है, यज्ञ का साधन है, देवत्व का वाहक है आदि-आदि मान्यताएँ वाचिक परम्परा के महत्त्व को ही प्रतिपादित करती हैं। इन्हीं मान्यताओं के कारण व्याकरण तथा वाणी के परिष्कार के ऊपर भारतीय शिक्षा के इतिहास में सर्वदा सर्वाधिक ध्यान दिया जाता रहा है।

पाणिनि और अष्टाध्यायी

भाषा के विधिवत् विश्लेषण में जितनी सफलता संस्कृत वैयाकरणों को प्राप्त है, उतनी किसी देश के लोगों ने आज तक भी नहीं प्राप्त की है। इन लोगों ने ही सर्वप्रथम शब्दरूपों का विश्लेषण किया था, क्रियाओं और प्रत्ययों के अन्तर को समझा था तथा उनके कार्यों को निश्चित किया था। पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों के इन प्रयत्नों से लाभ उठाया और अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ अष्टाध्यायी की रचना की। वेबर ने इनके इस ग्रन्थ को सभी देशों के व्याकरण-ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ माना है क्योंकि इसमें बड़ी बारीकी के साथ धातुओं और शब्दरूपों की छानबीन की गयी है। गोल्डस्टूकर के मतानुसार यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा का स्वाभाविक विकास हमारे सामने उपस्थित करता है। मैक्समूलर के शब्दों में यह ग्रन्थ हर प्रकार से पूर्ण है। किसी भी भाषा का किसी भी तरह का कोई भी व्याकरण ऐसा नहीं है जिनसे अष्टाध्यायी की तुलना की जा सके। यह एक बेजोड़ ग्रन्थ है। भारतीय शास्त्रीय परम्परा की भूमि में पाणिनि की जड़ें सबसे अधिक गहराई तक फैली हुई हैं। इनकी प्रतिभा का उदय उस विषम परिस्थिति में हुआ था जिस समय वैदिक संस्कृत का अन्त तथा नवीन संस्कृत का प्रादुर्भाव हो रहा था। इन दोनों के बीच उत्पन्न खाईं को मिटाने के लिए एक नवीन व्याकरण की आवश्यकता थी। आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना कर इस आवश्यकता की पूर्ति की थी। इनका यह व्याकरण संस्कृत भाषा के लिए ही नहीं अपितु भाषा-विज्ञान के लिए भी एक बड़ी देन है। इसके द्वारा इण्डोयूरोपियन भाषाओं पर भी प्रकाश पड़ता है। भारतीय संस्कृति एवं इतिहास की दृष्टि से इसका अत्यधिक महत्त्व है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना सूत्र-प्रणाली के आधार पर की है। इनके सूत्र अत्यन्त संक्षिप्त हैं। इन्हें छोटा बनाने के लिए जिन विविध उपायों का प्रयोग किया गया है, वे उनकी मौलिकता के परिचायक हैं। कहा भी गया है कि आधी[1] मात्रा के प्रयोग में वे (वैयाकरण) उतने ही

---

1. अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणः।

[परि० शेखर० परि० 133]

आनन्द का अनुभव करते हैं जितना आनन्द उन्हें पुत्र जन्मोत्सव के समय होता है। यह शैली सर्वथा स्पष्ट है और कहीं भी दुरूह नहीं होने पायी है।

सूत्रों की रचना में प्रत्याहारों और अनुबन्धों का प्रमुख स्थान है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी के प्रारम्भ में ऐसे वैज्ञानिक ढंग से स्वरों और व्यंजनों को चौदह प्रत्याहारों में सुगठित कर दिया है कि वे अपने इन संक्षिप्त रूपों में कुछ व्याकरण संबन्धी कार्य कर सकें। इसी दृष्टिकोण से उन्होंने स्वरों और व्यंजनों के लिए क्रमशः 'अच्' एवं 'हल्' सदृश दो नये शब्दों का प्रयोग किया था। इत् अथवा अनुबन्ध बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इनका प्रयोग क्रियाओं, प्रत्ययों, गुण, वृद्धि, सम्प्रसारण, सुबन्त, तिङन्त, कृदन्त, तद्धितान्त आदि के योग में किया जाता है। पाणिनि के सूत्रों को छः वर्गों में विभक्त किया गया है जो इस प्रकार हैं—

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अति देशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्र लक्षणम्॥

संज्ञा सूत्र वृद्धि, गुण, लोप, उपसर्ग, गति, निपात, टि, घु आदि को व्यक्त करते हैं और विधि सूत्रों में प्रयुक्त शब्दों को समझने में सहायक होते हैं।

सूत्रों के प्रकार

परितो भाष्यते इति परिभाषा—इस व्यत्पत्ति के अनुसार परिभाषा सूत्र केवल एक ही सूत्र के अर्थ को निश्चित नहीं करते अपितु उन सभी सूत्रों की व्याख्या करते हैं जो इससे सम्बद्ध होते हैं यथा 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' यह एक परिभाषा सूत्र है। विधि सूत्र सामान्य नियम के द्योतक हैं। दूसरे सहायक सूत्रों के सन्दर्भ में ये प्रधान होते हैं। इकोयणचि, एचोऽयवायावः आदि विधि सूत्र हैं। 'निषेध सूत्र' भी विधि सूत्रों की श्रेणी में गिने जाते हैं क्योंकि ये निषेधपूर्वक किसी के बारे में आदेश देते हैं। चौथे प्रकार के सूत्र नियम सूत्र हैं जो विधि सूत्रों के अर्थों को नियंत्रित करते हैं। यथा रात्सस्य' एक नियम सूत्र है जो 'संयोगान्तस्य लोपः' नामक विधि सूत्र के अर्थ को नियंत्रित कर देता है। अति देश सूत्र पाँचवें प्रकार के वे सूत्र हैं जिनके अनुसार सादृश्य के आधार पर एक वस्तु दूसरे को स्थानान्तरित हो जाती है। स्थानिवदादेशः नामक सूत्र इसका ज्वलन्त उदाहरण है। छठें प्रकार के सूत्र अधिकार सूत्र कहलाते हैं। इनका अधिकार क्षेत्र प्रकरण विशेष के अन्त तक बना रहता है। पूर्वत्रासिद्धम्, कारके, अनभिहिते आदि इसी प्रकार के सूत्र हैं।

गणपाठ भी अष्टाध्यायी का महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक अंग है। इसकी सामग्री पाणिनि की मौलिक देन है। इन्होंने इसे सुव्यवस्थित करने के लिए पहले गणपाठ और तदनन्तर सूत्रों की रचना की। किसी एक बात में मिलने वाले परस्पर भिन्न शब्दों को व्याकरण के नियम विशेष के अन्तर्गत लाना इन गणपाठों का उद्देश्य है। इससे शब्दों की बिखरी हुई सामग्री एक सरल व्यवस्था और नियम में बँध जाती है। प्रत्येक शब्द को पृथक्-पृथक् मानकर उसके लिए नियम बनाने की प्रक्रिया बड़ी ही लम्बी और दुरूह हो जाती। गणपाठ बहुत से शब्दों को व्याकरण के नियमों से आवद्ध कर उनका परिचय कराने का एक अत्यन्त रोचक एवं मौलिक ढंग है। यदि पाणिनि ने गणपाठों की रचना न की होती तो ग्राम, जनपद, संघ, गोत्र, चरण आदि से सम्वद्ध भौगोलिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक सामग्री का जिस प्रकार उपयोग अष्टाध्यायी में उसके संक्षिप्त रूप की रक्षा करते हुए किया जा सका है, कभी भी नहीं हो पाता। व्याकरण-नियमों की रचना में सहायक गणपाठ की यह पद्धति पाणिनि के लिए सांस्कृतिक सामग्री का आगार बन गयी। इन्होंने कुछ गणों के पूरे पाठ का एक ही बार में उल्लेख कर दिया है। गोत्र एवं स्थान नामों की गण सूची ऐसी ही है, ऐसे गण को पठित गण कहते हैं। दूसरे गणों में जिन्हें आकृति गण कहते हैं, भाषा में उत्पन्न होने वाले नये-नये शब्दों को सम्मिलित करने के लिए पर्याप्त गुंजाइश रख छोड़ी गयी है। अर्धर्चादि, गौरादि, तारकादि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। आचार्य पाणिनि ने एक ही नियम से आबद्ध होने वाले सभी ज्ञात शब्दों को तो गण विशेष में सम्मिलित कर दिया, किन्तु इसके पश्चात् भी इनसे मिलते-जुलते शब्द भी गण विशेष के निर्दिष्ट कार्य में सम्मिलित हो सकें, ऐसा प्राविधान भी उन्होंने कर दिया। इसी विशेषता के परिणामस्वरूप नये शब्द इनमें सम्मिलित होते रहे और अष्टाध्यायी एक जीता-जागता शास्त्र बना रहा। पाणिनि परम्परा में इन गणों का महत्त्व सूत्रों से कम नहीं है।

गणपाठ

पाणिनि ने अपने समय की बोल-चाल की शिष्ट भाषा की जाँच पड़ताल करके अपनी सामग्री का संकलन किया था। इनके समक्ष संस्कृत वाङ्मय और लोक जीवन का वृहद् भाण्डार फैला हुआ था। यह नित्य प्रति प्रयोग में आने वाले शब्दों से परिपूर्ण था। इस भाण्डार का जो शब्द अर्थ और रचना की दृष्टि से कुछ भी निजी विशेषता लिये हुए था, उसका उल्लेख

अष्टाध्यायी की रचना सामग्री

सूत्रों में अथवा गण पाठ में आ गया है। तत्कालीन जीवन का कोई भी अंग ऐसा नहीं बचा था जिसके शब्द अष्टाध्यायी में न आये हों। भूगोल, साहित्य, शिक्षा, कृषि, सामाजिक जीवन, वाणिज्य, सिक्के, नाप-तौल, राजा, मन्त्रि-परिषद्, सेना, यज्ञ-याग, देवी-देवता, पूजा, साधु-संन्यासी, रंगरेज, बढ़ई, लुहार, जुलाहा, महाजन, किसान, जुआरी, आदि से सम्बद्ध हर प्रकार के शब्द इस ग्रन्थ में समाविष्ट हैं। जनपदों, स्थानों, वैदिक शाखाओं, चरणों, गोत्रों, वंशों आदि से सम्बद्ध अत्यधिक सामग्री भी इसमें संगृहीत हैं। इनसे बनने वाले जो शब्द भाषा में रात-दिन प्रयुक्त होते थे, उनकी रूप सिद्धि एवं अर्थों का निर्धारण पाणिनि का मुख्य उद्देश्य था। इन शब्दों और अन्य सूत्रों पर विचार करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि संस्कृत उस समय बोल-चाल की भाषा थी। दूर[1] से पुकारने, अभिवादन का उत्तर देने, प्रश्नोत्तर अथवा डाँट फटकार आदि के लिए जिस प्रकार वाक्यों और शब्दों में स्वरों का प्रयोग होता था, उनसे सम्बद्ध नियम सूत्रों द्वारा निर्धारित हैं, जो उनकी व्यावहारिक उपयोगिता के द्योतक हैं।

पाणिनीय पद्धति

पाणिनि को लोगों द्वारा प्रयुक्त संस्कृत भाषा के प्रत्यक्ष रूप से निरीक्षण करने का सुअवसर प्राप्त था। इस तरह उन्हें भाषा विषयक विशिष्ट तथ्यों के विवेचन के पश्चात् वैज्ञानिक ढंग से आगमन पद्धति के आधार पर अपने सूत्रों की रचना करने का सुअवसर भी मिल सका था। वैदिक संस्कृत की विशिष्टताओं से सम्बद्ध उनके सामान्य नियमों का आधार उस समय का उनके समक्ष फैला हुआ विस्तृत वैदिक साहित्य है। इन नियमों का निर्धारण भी आगमन पद्धति के आधार पर हुआ है। पदों के प्रकृति-प्रत्यय को पृथक् करने की विश्लेषणात्मक पद्धति तथा धातुओं से इनकी व्युत्पत्तिमूलक पद्धति पाणिनि में ही प्रत्यक्ष रूप से द्रष्टव्य है। हो सकता है कि इन्होंने यास्क पद्धति से लाभ उठाया हो। पाणिनि ने जहाँ एक ओर लोक में प्रचलित धातुओं का एक वृहद संग्रह तैयार किया, वहीं दूसरी ओर उन्होंने जिस प्रकार धातुओं से संज्ञा शब्द सिद्ध होते हैं, उस प्रक्रिया की सामान्य और विशेष रीति से अच्छी तरह छान-बीन

---

1. **दूराद्धूते च** (8/2/84), **प्रत्यभिवादेऽशूद्रे** (8/2/83)। **पृष्ठ प्रतिवचने** (8,2/93), **मत्सने** (8/2/95)।

करके कृदन्त प्रत्ययों की लम्बी सूची भी दी है और जिन अर्थों में वे प्रत्यय शब्दों में जुड़ते हैं, उनका ज्ञान भी कराया है।

पाणिनि ने देखा कि भाषा में कुछ शब्द तो ऐसे हैं जिनकी सिद्धि धातुओं में प्रत्यय लगाकर सामान्य अथवा विशेष नियमों के अनुसार हो जाती है; किन्तु भाषा का शब्द भाण्डार बड़ा है। उसमें बहुत से शब्द ऐसे भी हैं जिनकी सिद्धि के लिए धातु-प्रत्यय का सहारा नहीं लिया जा सकता। हठात् प्रत्यय का प्रयोग कर उनकी सिद्धि करना केवल कोरी कल्पना ही नहीं अपितु व्याकरण शास्त्र का उपहास भी करना है। ऐसे शब्दों की उत्पत्ति स्वतः होती है, अर्थों के साथ उनका सम्बन्ध जुड़ा रहता है और वे लोगों के कण्ठ में रहकर प्रयोग में आते रहते हैं। उनके लिए लोक ही प्रमाण है। पाणिनि ने ऐसे शब्दों को संज्ञा प्रमाण कहा है। उन्होंने कुछ शब्दों को यथोपदिष्ट मानकर उनकी प्रामाणिकता स्वीकार की है।

शब्दों और धातुओं का वर्गीकरण इस वैज्ञानिक ढंग से किया गया है कि थोड़े समय में ही विद्यार्थी अल्प परिश्रम से ही संस्कृत भाषा के मर्म को समझने योग्य हो सकता है। महर्षि पाणिनि ने व्याकरण-शिक्षण को सरलतम बनाने के लिए धातुओं का इतना सूक्ष्म विश्लेषण किया कि इन्होंने समस्त धातुओं को दस गणों में विभक्त कर दिया। इनके अनुसार संस्कृत में कुल 1944 धातुएँ हैं जिनमें 1010 भ्वादि, 72 अदादि, 24 जुहोत्यादि, 141 दिवादि, 34 स्वादि, 157 तुदादि, 25 रुदादि, 10 तनादि, 61 क्रयादि और 410 चुरादि गण के अन्तर्गत हैं।

इसके अतिरिक्त धातुओं का एक और वर्गीकरण है। इसके अनुसार धातुओं को तीन भागों में विभक्त किया गया है--आत्मनेपदी, परस्मैपदी तथा उभयपदी। आत्मनेपदी क्रियाएँ ऐसी हैं जिन्हें कर्त्ता केवल अपने लिए ही प्रयोग करता है। परस्मैपदी धातुएँ ऐसी हैं जिन्हें वह दूसरों के लिए प्रयोग करता है और उभयपदी धातुएँ ऐसी हैं जिन्हें वह दोनों के लिए प्रयोग करता है। उपरिवर्णित दस गणों में से प्रथम चार गणों की यह विशेषता है कि इनके प्रत्यय के पूर्व 'अकार' सुनाई देता है और धातु के मूल रूप तथा प्रत्यय के बीच अ, य् या अय् विकरण होता है। भ्वादि और तुदादि में केवल यह अन्तर होता है कि भ्वादि के 'अ' से पूर्व आने वाले स्वर को गुण हो जाता है किन्तु तुदादि में यह नहीं होता है। अदादि और जुहोत्यादि गणों के अन्तर्गत

आने वाली धातुओं के मूल रूप और प्रत्यय के बीच किसी प्रकार का 'ध्वनि' विकार नहीं होता है। जुहोत्यादि धातुओं के मूल रूप की आवृत्ति हो जाती है। प्रथम चार गणों के अन्तर्गत आने वाली धातुओं का तिङ् आदि प्रत्ययों के पूर्व का परिवर्तित रूप ज्यों का त्यों रहता है किन्तु शेष गुणों की धातुओं के रूप में इन प्रत्ययों से पूर्व कहीं गुण विकार होता है और कहीं पर नहीं होता है।

केवल भ्वादि धातुओं का इनकी विविध रूप रचना सहित ज्ञान प्राप्त कर लेने पर आधी संस्कृत का ज्ञान हो सकता है। क्या इससे भी अधिक सरलता की आवश्यकता है? क्या पाणिनीय शिक्षण पद्धति से भी सरल कोई दूसरी शिक्षण पद्धति हो सकती है? स्मरण रखिए अपने जीवन के अधिक से अधिक समय में अनेक उत्तम साधनों एवं मनोवैज्ञानिक शिक्षण-पद्धतियों के होते हुए भी आज हम अंग्रेजी में इतने दक्ष नहीं हो पाते जितने कि थोड़े समय में एक संस्कृत का विद्यार्थी भाषा पर पूर्ण अधिकार जमा लेता है। इसका एक मात्र श्रेय पाणिनीय शिक्षण-विधि को है। यह पद्धति बड़ी ही सरल और वैज्ञानिक है। संस्कृत व्याकरण की कठिनाई का हौआ तो लोगों ने वृथा ही बना रखा है। कठिनता और सरलता तो सापेक्ष है। हमारे लिए हिन्दी का व्याकरण अंग्रेजी के व्याकरण की अपेक्षा सरल है, पर अंग्रेजी के लिए यही बात इसके विपरीत है। अतः आरम्भ से ही यदि हम विद्यार्थियों के हृदय में यह भावना उत्पन्न कर दें कि संस्कृत व्याकरण हिन्दी व्याकरण का प्राचीनतम रूप है तो वह इसे जानने के लिए आतुर हो उठेंगे और संस्कृत व्याकरण पढ़ने में उनकी रुचि बढ़ेगी।

पाणिनि व्याकरण के अध्ययन से परायण पद्धति का भी आभास मिलता है। इस पद्धति के अनुसार पढ़ने वाले छात्रों को 'पारायणिक' कहते थे।

परायण पद्धति

परायण कई प्रकार का होता था। पाठ की कठिनता एवं सरलता के अनुसार इनकी संख्या भी निर्धारित थी जैसे पंचक अध्ययन (पाठ को पाँच बार पढ़ना),, पंच बार (शब्दों को पाँच बार कहना) और पंच रूप (पाँच प्रकार से पढ़ना)। इसी प्रकार सप्तक, अष्टक, नवम आदि बार भी परायण किया जाता था। अशुद्ध शब्दोच्चारण सूचक शब्द भी नियत थे—जैसे पदम् मिथ्या कारयेत, स्वरादि दुष्टम्, असकृत् उच्चारयति आदि। उच्चारण करते समय अशुद्धियों के अनुसार विद्यार्थियों की परीक्षा भी होती थी। एक अशुद्धि करने वाले छात्र को

'एकान्यिक', दो अशुद्धियाँ करने वाले को 'द्वैयन्यिक' तीन को 'त्रैयन्यिक' आदि कहा जाता था। परायण की भी विभिन्न प्रणालियाँ थीं। कभी किसी प्रणाली के अनुसार परायण किया जाता था तो कभी किसी प्रणाली के अनुसार जैसे संहिता परायण, पद परायण, क्रम परायण आदि। परायण करने वाले छात्र को विविध प्रकार के नियमों का पालन करना पड़ता था। कोई मौन व्रत धारण करता था तो दूसरा केवल दूध ही पीकर रहता था। कभी-कभी परायण के समय छात्र अपनी शारीरिक शक्ति के अनुसार केवल पानी, दूध अथवा फल का ही सेवन करते थे। इस प्रकार छन्दों को कण्ठस्थ करने में जो कठिन परिश्रम किया जाता था, उसी का यह सुफल था कि ऋग्वेद, तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण जैसे महाग्रन्थों को लोग सस्वर कण्ठस्थ कर लेते थे और पीढ़ी-दर-पीढ़ी उनकी रक्षा करते रहते थे।

उपर्युक्त विधि से कण्ठस्थ करना शिक्षण विधि का केवल एक अंग था। यास्क ने वेदों को कण्ठस्थ कर लेने मात्र से सन्तुष्ट हो जाने वाली मनोवृत्ति से सावधान किया है। पतंजलि ने भी आगे चल कर एक पुराने श्लोक का उद्धरण देते हुए इसे नीरस बताया है और इसकी तुलना शुष्क ईंधन से की है जो ऐसे स्थान पर फेंक दिया गया हो जहाँ पर इसे प्रज्वलित करने के लिए अग्नि ही न हो[1]। यह मानना पड़ेगा कि सूत्र युग में ज्ञानपूर्वक अध्ययन की ओर लोगों का विशेष ध्यान था। स्वयं पाणिनि की अष्टाध्यायी शब्दों के संग्रह और विश्लेषण में किये गये परिश्रम का फल थी। पाणिनि ने बहुत से ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जिनसे विभिन्न शैक्षणिक पद्धतियों को आभास मिलता है। ये शब्द इस प्रकार हैं—प्राक्कथन, भाषण, सम्यग् बोध, प्रति श्रवण, जिज्ञासा आदि। ये सब वाद-विवाद पद्धति के द्योतक हैं। जो इस वाद-विवाद में विजयी होता था, उसका बड़ा सम्मान होता था और वही उस विषय का सर्वोपरि ज्ञाता समझा जाता था। पाणिनि स्वयं अपने विषय के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् माने जाते थे।

पाणिनि के सबसे योग्य, प्रतिभाशाली और वैज्ञानिक पारखी एवं व्याख्याता कात्यायन थे। इन्होंने पाणिनि के सूत्रों पर वार्तिक की रचना कर उनकी पृष्ठ-

---

1. यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैन्धो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

कात्यायन

भूमि का परिचय दिया तथा उनके सम्बन्ध में उत्पन्न अनेक विचार-विमर्शों की तुलनात्मक समीक्षा भी की। इन्होंने इनके सूत्रों का मण्डन, उनसे सम्बद्ध शंकाओं का समाधान, नये दृष्टिकोण का प्रस्थापन तथा उनकी आवश्यकता का प्रदर्शन किया है। इनकी बहुमुखी समीक्षा से पाणिनीय शास्त्र एक दम निखर गया। वास्तविकता तो यह है कि कात्यायन ने वार्तिकों की रचना कर पाणिनीय शास्त्र को प्राण-दान किया। इनके वार्तिक महर्षि पतंजलि के महाभाष्य की कुंजी हैं। मुख्य रूप से यह इन्हीं पर आश्रित है। वार्तिककार वार्तिकों की रचना कर लेने के पश्चात् पाणिनि के प्रति बड़े ही श्रद्धावान् हो उठे और अन्त में 'भगवतः पाणिनेः सिद्धम्' जैसे भक्ति पूर्ण शब्दों में उन्होंने अपने अन्तिम वार्तिक को समाप्त किया। शंकाओं की उद्भावना, उन पर यथार्थ विचार और उनका समाधान—यही तीन व्याकरण शास्त्र पर विचार करने की पद्धति के मुख्य अंग थे। इन्हीं के आधार पर इस शास्त्र पर विचार होता चला आ रहा है।

कात्यायन के पश्चात् पतंजलि ने अपने महाभाष्य की रचना कर पाणिनि को अमर कर दिया। इनके समय में पाणिनि व्याकरण प्रारम्भिक[1] कक्षाओं में भी पढ़ाया जाने लगा था। इसके अतिरिक्त यह भी एक तथ्यपूर्ण बात थी कि इनके समय में संस्कृत शिष्ट जनों की बोलचाल की भाषा थी। इसलिए इनको पाणिनि के सूत्रों एवं कात्यायन के वार्तिकों की प्रमाणिकता को भाषा सम्बन्धी तथ्यों के आधार पर सिद्ध करने का सुन्दर अवसर मिल सका था। इन्होंने इसके लिए आगमन और निगमन दोनों पद्धतियों का अनुसरण किया था। इनके मतानुसार[2] व्याकरण सम्बन्धी नियमों के लिए भाषा में प्रयुक्त प्रत्येक सही शब्द का उल्लेख करने की लम्बी प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उत्सर्ग और अपवाद के मध्यम से बहुत कम समय में और बहुत ही कम

---

1. आकुमारं यशः पाणिनेः, एषाऽस्य यशसो मर्यादा।
2. किं पुनरत्र ज्यायः ? लघुत्वाच्छब्दोपदेशः।.....किञ्चित्सामान्य विशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्। येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान्प्रतिपद्येरन्।.....कश्चिदुत्सर्गः कर्त्तव्यः कश्चिदपवादः। सामान्येनोत्सर्गः कर्त्तव्यः। तस्य विशेषणापवादः।

[पा० म० भा० आ० 1]

यत्न से बहुत से शब्दों को सिखाना सम्भव है। सर्व प्रथम उत्सर्ग का और तदनन्तर अपवाद का उल्लेख करना चाहिए। इस पर भी यदि किसी सामान्य नियम के साथ किसी प्रकार की आशंका उत्पन्न हो तो उसे व्याख्या द्वारा दूर कर देना चाहिए। इनके अनुसार व्याख्या का स्वरूप इस प्रकार था—

1. चर्चा—सूत्र के एक-एक पद को अलग करना जैसे वृद्धि+आत्+ऐच् =वृद्धिरादैच।

2. वाक्याध्याहार--सूत्र के अर्थों को पूरा करने के लिए पिछले सूत्र या सूत्रों से शब्दों की अनुवृत्ति।

3. उदाहरण।

4. प्रत्युदाहरण[1]।

यह सम्पूर्ण प्रक्रिया प्रारम्भिक दशा में अवश्य की जाय। पतंजलि ने सर्वत्र इसी पद्धति का अनुसरण किया है—उदाहरणार्थ,

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥

सक्तुः--सचतेर्दुर्धावो भवति, कसतेर्वा विपरीताद्विकसितो भवति। तितउ परिपवनं भवति--ततवद्वा तुन्नवद्वा। धीरा ध्यानवन्तः। मनसा प्रज्ञानेन। वाचमक्रत वाचमकृषत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते। अत्र सखायः सन्तः सख्यानि जानते। सायुज्यानि जानते। क्व ? य एष दुर्गो मार्गः, एक गम्यो वाग्विषयः। के पुनस्ते ? वैयाकरणाः कुत एतत् ? भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि। एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति। लक्ष्मीर्लक्षणाद्भासनात्परिकृदा भवति। [पा० म० भा० आ० 1]

सम्पूर्ण महाभाष्य में इसी पद्धति का अनुसरण किया गया है जिसने आगे चल कर 'खण्डान्वय' पद्धति का रूप धारण कर लिया। ऊपर जो कुछ कहा गया

---

1. न केवलम् चर्चा पदानि व्याख्यानम्—'वृद्धिः, आत् ऐच्' इति। किं तर्हि ? उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति। अविज्ञानत एतदेवं भवति।
[पा० म० भा० आ० 1]

पतंजलि की शिक्षण पद्धति

है उससे यह भी स्पष्ट है कि पतंजलि व्याकरण शिक्षण के लिए निगमन पद्धति को सबसे अच्छी पद्धति मानते हैं और वह उसी के पक्ष में भी हैं। उनकी दृष्टि में 'सामान्य से विशेष की ओर' की प्रक्रिया इस विषय के लिए सबसे सुगम प्रक्रिया है। वह इस तथ्य को भी स्वीकार करते हैं कि साधारण लोग भाषा को वास्तविक प्रयोग के माध्यम से ही सीखते हैं। व्याकरण तो केवल उनकी वाणी को सुगठित एवं शुद्ध करने में सहायक होता है। वस्तुतः वे इस तथ्य से भी अवगत हैं कि पूर्व प्रचलित भाषा ही व्याकरण के नियमों का आधार है और ये नियम आगमन पद्धति द्वारा विशिष्ट उदाहरणों के आधार पर ही बनते हैं। वे उदाहरण-प्रत्युदाहरण के महत्त्व को भी स्वीकार करते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि यद्यपि आगमन पद्धति सुगम नहीं है, फिर भी यह उनके मन्तव्य के विरुद्ध नहीं है। इसका क्षेत्र सीमित है। एक विशिष्ट नियम से सम्बद्ध सभी उदाहरणों को प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है तथा कुछ ही उदाहरणों के आधार पर किसी सामान्य नियम का निर्धारण उचित नहीं है। इसी प्रकार निगमन पद्धति के अनुसार सामान्य से विशेष की ओर के सिद्धान्त के आधार पर सभी उदाहरणों को प्रस्तुत करना असम्भव है। अतः प्रारम्भ में व्याकरण सिखाने की वैज्ञानिक पद्धति की दृष्टि से आगमन एवं निगमन दोनों पद्धतियाँ समान स्तर की हैं। इनका अवसरानुकूल प्रयोग किया जाना चाहिए।

पतंजलि का यह कथन है कि प्रकृति और प्रत्यय के स्पष्ट ज्ञान के लिए 'अन्वयव्यतिरेक' पद्धति का अनुसरण किया जाय। यही सर्वोत्तम युक्ति संगत पद्धति है—यथा, जब बालः शब्द का उच्चारण किया जाता है तो उसकी ध्वनि के साथ प्रत्यय 'स्' का भी आभास होता है। इसके साथ ही साथ बाल स्वभाव, उसकी तोतली एवं भोली बोली, उसके मचलने आदि का भी ज्ञान होता है। प्रत्यय 'स्' से एकत्व का बोध होता है। जब 'बालौ' शब्द का उच्चारण किया जाता है तो प्रत्यय 'स्' का लोप हो जाता है और उसके स्थान पर 'औ' की ध्वनि आती है। अकारान्त 'बाल' शब्द की प्रकृति ज्यों की त्यों रहती है। किन्तु यहाँ पर एकत्व के स्थान पर द्वित्व का बोध होता है। 'बाल' के गुण भी ज्यों के त्यों रहते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकला कि ध्वनि 'स्' का अर्थ उसके लोप होने के साथ ही लोप ही जाता है। 'औ' का अर्थ वही है जो

अन्वय व्यतिरेक पद्धति

ध्वनि 'स्' के अतिरिक्त है किन्तु ध्वन्यर्थ 'बाल' जो दोनों में है, इस ध्वनि के भी साथ है।

धातुओं का भी वर्गीकरण ध्वनि के आधार पर हुआ था। यथा जब 'पठति' शब्द का उच्चारण किया जाता है तब पठ् धातु और प्रत्यय 'अति' सुनाई पड़ती है तथा इससे सम्बद्ध अर्थ का भी आभास होता है। दूसरे शब्दों में पढ़ने का 'पठ्' धातु से तथा कर्तृत्व और एकत्व का प्रत्यय अति से सम्बन्ध है। इसी तरह जब 'गच्छति' शब्द का उच्चारण किया जाता है तो ध्वनि 'पठ्' का लोप हो जाता है। इसके स्थान पर ध्वनि 'गच्छ्' सुनाई पड़ती है किन्तु प्रत्यय 'अति' ज्यों की त्यों बनी है। अतः शब्द विशेष का अर्थ वही है जो उसकी ध्वनि के लोप होने पर लुप्त हो जाता है और उसके लोप न होने पर उसके साथ जुड़ा रहता है।

इस प्रकार किसी अर्थ विशेष की किसी ध्वनि विशेष के साथ उपस्थिति और अनुपस्थिति का बार-बार निरीक्षण करना हमें शब्द के प्रकृति और प्रत्यय का विश्लेषण करने के लिए, उनके 'अन्वय' और 'व्यतिरेक' का ज्ञान प्राप्त करने के लिए तथा उनके अर्थों को निश्चित करने के लिए बाध्य करता है। इसी प्रकार 'अन्वय-व्यतिरेक' द्वारा उसी प्रकार के शब्द समूह के सभी रूपों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि शब्दों और उनके अर्थों में सीधा सम्बन्ध है। इससे सुगम प्रणाली का भी आभास होता है।

वाक्य प्रदीय स्फोट वाद

महाभाष्य के पश्चात् वाक्य प्रदीय तथा काशिकावृत्ति नामक दो ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वाक्य प्रदीय की रचना भर्तृहरि ने तथा काशिका वृत्ति की रचना जयादित्य और वामन ने की है। वाक्य प्रदीय में स्फोट के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इसमें यह व्यक्त किया गया है कि स्फोट ही एक पूर्ण इकाई है जिसमें सभी अर्थ निहित हैं। इसकी अभिव्यक्ति शब्द-ध्वनि द्वारा होती है और यही मुख्य वस्तु है। इसके अनुसार वाक्य ही भाषा की इकाई है और पदों के प्रकृति-प्रत्यय को पृथक् करने की विश्लेषणात्मक पद्धति आरम्भ करने वालों को सुविधा प्रदान करने के निमित्त अपनायी गयी एक कोरी काल्पनिक एवं कृत्रिम प्रक्रिया[1] है।

---

1. **उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।**
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥ [वाक्य प्रदीय]

काशिका वृत्ति अष्टाध्यायी की सर्वोत्तम टीका है। इसमें सूत्रों का वही क्रम है जिसे पाणिनि ने अपनाया है। इस क्रम एवं पद्धति का प्रचलन बौद्धों में बहुत था। चीनी यात्री इत्सिंग ने पाणिनि पद्धति के अनुयायी वैयाकरणों, इसके अध्ययन करने की प्राचीन प्रणाली एवं इसके अध्ययन करने में लगने वाले समय का उल्लेख किया है। इन्होंने जो कुछ लिखा है, उससे इसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि यदि व्याकरण का भलीभाँति अध्ययन किया जाय तो ऐसा करने में पूरे बारह साल लग जायँगे। दूसरे व्याकरण पढ़ लेने के पश्चात् ही विद्यार्थियों का ध्यान साहित्य की ओर आकर्षित किया जाता था। हो सकता है कि उस समय शिष्ट लोग संस्कृत का प्रयोग अपनी वाणी एवं लेखनी द्वारा करते रहे हों और आज की अपेक्षा यह इन लोगों के लिए कहीं अधिक जीवित भाषा के रूप में प्रयुक्त होती रही हो तथा इसके अत्यधिक सम्पर्क में होने के नाते उस समय के छात्र इससे प्रत्यक्ष उदाहरण पाने की दृष्टि से व्याकरण का अध्ययन बड़े परिश्रम के साथ करते रहे हों। जो कुछ भी हो इतनी लम्बी अवधि तक प्रत्येक वस्तु को कण्ठाग्र करते हुए व्याकरण का निरन्तर अध्ययन छात्रों के लिए अवश्य ही कष्ट प्रद रहा होगा। फलतः साहित्य आदि के अध्ययन को और अधिक समय देने के लिए व्याकरण को दिये जाने वाले समय को कम करना चाहिए। अतः लोग समय तथा संस्कृत भाषा की प्रगति के साथ ही साथ शनैः शनैः धात्विक पद्धति से सांज्ञिक पद्धति की ओर अग्रसर होने लगे और इसका प्रयोग भी करने लगे जिसके फलस्वरूप संस्कृत भाषा में निम्न प्रकार के परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगे :—

1. मुख्य क्रिया की अपेक्षा वाक्य में कर्त्ता, कर्म, करण आदि कारकों के प्रयोग पर विशेष बल दिया जाने लगा। बहुधा दूसरे कारकों के योग में सम्बन्ध कारक का प्रयोग किया जाने लगा, तथा तं च व्यसृजद्भरतस्य (उत्तरराम चरित)। षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति का प्रयोग भी 'भावे षष्ठी अथवा सप्तमी' के अनुसार दिखलाई पड़ने लगा, जैसे गोषु दुह्यमानाषु गतः (गौओं के दुह जाने पर वह गया)।

2. समासों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हो रहा था, जिससे संस्कृत रचना क्षेत्र में वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली तथा लाटी। इन चार शैलियों की उत्पत्ति हुई। ये समास भावाभिव्यक्ति में संक्षिप्ति लाने में सहायक सिद्ध हुए। बहुव्रीहि समास जो सम्पूर्ण वाक्य को एक विशेषण पद में ढाल देता है, इस पद्धति को सबसे

बड़ी विशेषता है। अव्ययी भाव समास भी बहुत से पदों को एक अव्यय पद में ढाल कर भाषा-सौन्दर्य की वृद्धि में सहायक होता है।

3. भ् और अस् धातु के रूपों का बहुधा लोप कर दिया जाता है। इनके कार्यों की पूर्ति इनकी पूरक संज्ञाओं और विशेषणों से कर ली जाती है। यथा नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः। भूत कालिक लकारों (लङ्, लिट् तथा लुङ्) के प्रयोग के स्थान पर केवल 'स्म' का प्रयोग होता है—यथा वसति स्म, पचति स्म आदि। वर्तमान कालिक, भूत कालिक तथा भविष्य कालिक कृदन्तों का भी अधिक प्रयोग दिखाई देता है। जैसे गतोऽहं कलिंगान्, करिष्यमाणः सशरं शरासनम् आदि।

4. इनके अतिरिक्त कर्मवाच्य वाक्यों की बहुलता पायी जाती है। लेखक प्रायः लम्बे-लम्बे वाक्यों का प्रयोग करते हुए पाये जाते हैं जिनमें केवल एक ही कर्त्ता, कर्म और क्रिया के होते भी बहुत से विशेषण उपवाक्य होते हैं।

इस प्रकार के परिवर्तनों से युक्त जिस संस्कृत का प्रादुर्भाव हुआ उसमें सांज्ञिक पद्धति की प्रधानता रही और उसके अनुसार जिस व्याकरण की रचना की गयी उसके रचयिता शर्ववर्मन थे। इन्होंने कातन्त्र सूत्रों की रचना कर अनावश्यक नियमों का निराकरण किया और उपयोगिता को प्राथमिकता दी। इनके पश्चात् धर्म कीर्त्ति ने रूपावतार की, रामचन्द्र ने प्रक्रिया कौमुदी की तथा नारायण-भट्ट ने 'प्रक्रिया सर्वस्व' की रचना की। विषय को और अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए भट्टोजी दीक्षित ने सिद्धान्त कौमुदी को लिखा। इसमें सांज्ञिक पद्धति का पूर्ण रूप से प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रन्थ पाणिनीय क्रम को पुनर्व्यवस्थित करने की दृष्टि से एक युग-प्रवर्तक के रूप में गिना जाने लगा है। भट्टोजी दीक्षित ने स्वयं 'प्रौढ़ मनोरमा' नाम की सिद्धान्त कौमुदी पर एक टीका लिखी। पण्डितराज जगन्नाथ ने इस पर 'मनोरमा कुचमर्दिनी' नाम की व्याख्या प्रस्तुत की। इसके अनन्तर भट्टोजी दीक्षित के शिष्य वरदराज ने मध्य सिद्धान्त कौमुदी, लघु सिद्धान्त कौमुदी तथा सारसित सिद्धान्त कौमुदी की रचना की। ये रचनाएँ व्याकरण प्रारम्भ करने वालों के लिए परमोपयोगी सिद्ध हुईं। गंगा सहाय ने सुगम कौमुदी की रचना कर व्याकरण को और भी बोधगम्य बना दिया। धातु पाठ, गण पाठ, उणादि सूत्र, लिङ्गानुशासन आदि के रूप में परिशिष्ट भी लिखे गये। संक्षिप्त शब्द रूपावलि और धातु रूपावलि भी तैयार की गयी।

इस प्रकार यदि संस्कृत व्याकरण के इतिहास पर एक विहंगम दृष्टिपात किया जाय, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि संस्कृत व्याकरण की परम्परा अत्यन्त प्राचीन रही है तथा इसकी शिक्षण विधि को सरल से सरलतर तथा सरलतम बनाने का प्रयास किया गया है। इतना होते हुए भी संस्कृत व्याकरण कठिन बना ही है। कुछ नियमों का यथा कथंचित् ज्ञान प्राप्त करके अधिकांश संस्कृतज्ञ अपना काम चला लेते हैं। वस्तुतः आज संस्कृत प्रेमियों के समक्ष बहुत बड़ी समस्या यह है कि व्याकरण को किस विधि से पाठकों के समक्ष रखा जाय कि वे उसे सुविधापूर्वक हृदयंगम कर सकें। जब तक इस समस्या का समाधान नहीं होगा तब तक संस्कृत व्याकरण, संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्य केवल कुछ पण्डितों तक ही सीमित बना रहेगा और उसका अधिकाधिक प्रचार न हो सकेगा।

सारांश

व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेन इति व्याकरणम्। यह लक्ष्य और लक्षण दोनों का ही संग्रह है। छः वेदाङ्गों में इसका प्रमुख स्थान है। यह वेद का मुख है। यह भाषा को शुद्ध एवं परिष्कृत करता है। अयमान्दोलिका-दण्डः···, यस्य षष्ठी चतुर्थी च·····यद्यपि बहुनाधीषे·····आदि से सम्बद्ध लोकोक्तियाँ भी इसके महत्त्व को सिद्ध करती हैं। शब्दों की व्युत्पत्तिमूलक पद्धति का स्रोत तथा वाचिक परम्परा का मूल होने के नाते इसका महत्त्व और भी अधिक है।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना की जो विश्व के सभी देशों के व्याकरण-ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। यह वैदिक संस्कृत तथा नवीन संस्कृत के बीच की खाईं को दूर करने का एक मात्र साधन है। इसकी रचना सूत्र प्रणाली के आधार पर हुई है। ये सूत्र छः प्रकार के हैं— संज्ञा सूत्र, परिभाषा सूत्र, विधि सूत्र, नियम सूत्र, अतिदेश सूत्र तथा अधिकार सूत्र। पाणिनि ने सर्व प्रथम गण-पाठ की और उसके पश्चात् सूत्रों की रचना की। गणपाठ बहुत से शब्दों को व्याकरण के नियमों से आबद्ध कर उनका परिचय कराने का एक अत्यन्त रोचक एवं मौलिक ढंग है। ये दो प्रकार के हैं—पठित गण और आकृति गण। पठित गणों में पूरे पाठ का एक ही बार उल्लेख कर दिया गया है। आकृति गणों में भाषा में उत्पन्न होने वाले नये-नये शब्दों को सम्मिलित करने के लिए पर्याप्त गुंजाइश रख छोड़ी गयी है। पाणिनि परंपरा में इन गणों

का महत्त्व सूत्रों से कम नहीं है। पाणिनि ने अपने समय की बोल-चाल की शिष्ट भाषा की जाँच-पड़ताल करके अपनी सामग्री का संकलन किया था। तत्कालीन जीवन का कोई भी अंग ऐसा नहीं बचा था जिसके शब्द अष्टाध्यायी में न आये हों।

पाणिनि ने सूत्रों की रचना आगमन पद्धति के आधार पर की है। पदों के प्रकृति-प्रत्यय को पृथक् करने की विश्लेषणात्मक पद्धति तथा धातुओं से इनकी व्युत्पत्तिमूलक पद्धति पाणिनि की ही देन है। इन्होंने धातुओं के संग्रह के साथ ही साथ कृदन्त प्रत्ययों की एक लंबी सूची भी दी है और जिन अर्थों में वे प्रत्यय शब्दों के साथ जुड़ते हैं, उनका ज्ञान भी कराया है। जिन शब्दों की सिद्धि उक्त पद्धतियों के अनुसार नहीं हुई है, उन्हें पाणिनि ने 'संज्ञा प्रमाण' कहा है। कुछ दूसरे शब्दों को यथोपदिष्ट मान कर उनकी प्रामाणिकता को भी उन्होंने स्वीकार किया है। अष्टाध्यायी के अध्ययन से आगमन, परायण, प्राक्कथन, भाषण, सम्यग्बोध, प्रतिश्रवण, जिज्ञासा आदि पद्धतियों का भी आभास होता है।

कात्यायन ने पाणिनि के सूत्रों पर वार्तिक की रचना की है। इनके वार्तिक महर्षि पतंजलि के महाभाष्य की कुंजी है। पतंजलि ने महाभाष्य की रचना कर पाणिनि को अमर कर दिया। महाभाष्य के अध्ययन से आगमन, निगमन, व्याख्यान, खण्डान्वय, अन्वयव्यतिरेक आदि पद्धतियों का आभास होता है।

महाभाष्य के पश्चात् वाक्य प्रदीय तथा काशिका वृत्ति नामक दो ग्रन्थों की रचना हुई। वाक्य प्रदीय में वाक्य को ही भाषा की इकाई माना गया है। काशिका वृत्ति अष्टाध्यायी की सर्वोत्तम टीका है। इसके पश्चात् समय तथा संस्कृत भाषा की प्रगति के साथ ही साथ लोग धात्विक पद्धति से सांज्ञिक पद्धति की ओर अग्रसर होने लगे जिसके फलस्वरूप भाषा में परिवर्तन दिखाई देने लगा। मुख्य क्रिया की अपेक्षा वाक्यों में कर्त्ता, कर्म, करण आदि कारकों के प्रयोग पर विशेष बल दिया जाने लगा। समासों का खुल कर प्रयोग किया जाने लगा, भूतकालिक लकारों के प्रयोग के स्थान पर केवल 'स्म' का प्रयोग किया जाने लगा आदि। इस पद्धति से संबद्ध व्याकरण की रचना करने वाले शर्ववर्मन थे जिनके कातंत्र सूत्र बड़े ही क्रान्तिकारी थे। इसके पश्चात् अनेक विद्वानों ने अनेक ग्रन्थों की रचना कर संस्कृत व्याकरण शिक्षण को सुगम बनाने का प्रयास किया है। इतना होते हुए भी संस्कृत व्याकरण कठिन बना ही

है। जब तक इस समस्या का समाधान नहीं होता, तब तक संस्कृत भाषा का उद्धार नहीं हो सकता—यह एक निश्चित बात है।

प्रश्न

1. संस्कृत व्याकरण के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
2. पाणिनि और अष्टाध्यायी के महत्त्व का उल्लेख करते हुए उनके द्वारा प्रतिपादित शिक्षण विधियों का विशद विवेचन कीजिए।
3. सूत्रों की रचना किस पृष्ठभूमि में हुई, उसका विस्तृत वर्णन करते हुए इन पर एक निबन्ध लिखिए।
4. गण-पाठों के महत्त्व पर प्रकाश डालिए और उनकी विशद व्याख्या कीजिए।
5. पतंजलि द्वारा प्रतिपादित शिक्षण विधियों का विशद विवेचन कीजिए।
6. सांज्ञिक पद्धति से आपका क्या तात्पर्य है ? इसकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

सहायक ग्रन्थ

1. अष्टाध्यायी—महर्षि पाणिनि।
2. महाभाष्य—" पतंजलि।
3. संस्कृतानुशीलन विवेक:—प्रो० जी० एस० हूपरीकर।
4. स्मालर संस्कृत ग्रामर—मोरेश्वर रामचन्द्र काले।
5. संस्कृत रचना—वामन शिवराम आप्टे।
6. संस्कृत शिक्षण विधि—रघुनाथ सफाया।
7. पाणिनि कालीन भारतवर्ष—वासुदेव शरण अग्रवाल।
8. संस्कृति और साहित्य—वासुदेव शरण अग्रवाल।

अध्याय 16

संस्कृत व्याकरण शिक्षण (भाग 2)

संस्कृत व्याकरण के इतिहास तथा इसके शिक्षण से सम्बद्ध समस्याओं पर दृष्टिपात कर लेने के पश्चात् स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि अन्ततोगत्वा किस पद्धति का अनुसरण किया जाय जिससे इसकी जटिलता से संबद्ध भ्रम दूर हो जाय और अधिक से अधिक लोग संस्कृत भाषा का अध्ययन करने लगें। इस समय व्याकरण शिक्षण के लिए अपनायी गयी विधियाँ निम्नलिखित हैं—सूत्र प्रणाली अथवा परंपरागत प्रणाली, भाषा-संसर्ग प्रणाली अथवा अव्याकृति प्रणाली सहयोग अथवा समवाय प्रणाली तथा आगमन-निगमन प्रणाली। सूत्र प्रणाली अथवा परंपरागत प्रणाली प्राचीन परंपरा की देन है। इसके अनुसार व्याकरण की निर्धारित पुस्तकें यथा अष्टाध्यायी, सिद्धान्त कौमुदी आदि छात्रों के हाथ में दे दी जाती हैं और छात्र उनमें उल्लिखित परिभाषाओं, सूत्रों आदि को धीरे-धीरे कण्ठस्थ करने में लग जाते हैं। अध्यापक इनकी व्याख्या कर देते हैं और छात्र इन्हें कण्ठस्थ कर लेते हैं। इस विधि में सामान्य से विशेष की ओर की शिक्षण-सूक्ति का अनुसरण किया जाता है। व्याकरण तथा दर्शन के गहन विषय इसी ढंग से पढ़ाये जाते थे। पाणिनीय सूत्र इस पद्धति के ज्वलन्त उदाहरण हैं। सूत्रों का मुख्य उद्देश्य बड़ी बात को संक्षेप में बतलाना है। एक लम्बे नियम को स्मरण करने में कठिनाई होती है पर सूत्रों को सुविधापूर्वक स्मरण किया जा सकता है। हमारे पूर्वज पुस्तकस्था विद्या में नहीं अपितु कण्ठस्था विद्या में विश्वास रखते थे। अतः इन लोगों ने इस प्रणाली का अविष्कार किया था।

सूत्र अथवा परम्परागत प्रणाली

इस प्रकार की स्मरण कराने की प्रवृत्ति को देख कर कुछ लोगों का यह अनुमान हो सकता है कि कण्ठाग्र करते समय छात्र इन सूत्रों के अर्थों पर अधिक ध्यान न देते रहे होंगे और केवल लकीर के फकीर के सिद्धान्त के अनुसार इन्हें रट लेते रहे होंगे। पर उनका इस प्रकार का अनुमान सर्वथा निराधार है। सूत्रों

आलोचना

की व्याख्या के बिना व्याकरण, दर्शन, तर्क आदि शास्त्रों का समझना असंभव था। इनकी व्याख्या के लिए भाष्य अथवा टीका प्रणाली का अनुसरण किया गया था। महर्षि पाणिनि के पश्चात् वैयाकरणों का संपूर्ण श्रम इसकी व्याख्या का ही परिचायक है जिसकी चर्चा पिछले अध्याय में की जा चुकी है। दिवाकर[1] मित्र अपने विद्यार्थियों के शास्त्रीय भ्रम को व्याख्या द्वारा ही दूर किया करते थे। ह्वेनचांग[2] तथा इत्सिंग ने भी इसका समर्थन किया है। ब्राह्मण[3] ग्रन्थों का मुख्य उद्देश्य वैदिक ग्रन्थों की व्याख्या ही करना है। इन ग्रन्थों से यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि इनमें संहिता की व्याख्या की गयी है। सूत्रों की व्याख्या के लिए शास्त्रार्थ प्रणाली का भी प्रयोग किया जाता था। विद्वानों की सभा होती थी जिसमें गहन विषयों पर वाद-विवाद हुआ करता था। पक्ष तथा विपक्ष में बातें कही जाती थीं और इस तरह गूढ़ विषयों पर प्रकाश डाला जाता था। इससे विद्यार्थी के भाव प्रकाशन की शक्ति का विकास होता था। इन सभाओं में किसी गहन विषय के निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए अधोलिखित आठ साधन बतलाये गये हैं[4]—सिद्धान्त (प्रतिज्ञा), हेतु, उदाहरण, साधर्म्य, वैधर्म्य (प्रतिकूल उदाहरण), प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में भी इस प्रकार की प्रणाली का उल्लेख है। राजा जनक ने भी इस प्रकार की एक सभा की थी जिसमें दर्शन संबंधी प्रश्नों पर शास्त्रार्थ हुआ था। दर्शन शास्त्र में निपुण गार्गी ने इसमें प्रश्न किया था। मण्डन मिश्र का शास्त्रार्थ तो सर्वविदित है। जिन स्थानों में इस प्रकार का वाद-विवाद हुआ करता था, उन्हें बौद्ध साहित्य में 'सन्थागार' कहते हैं।

---

1. अथ तेषां तरूणां मध्ये नानादेशीयैः स्थानस्थानेषु स्थाणून् आश्रिते··· ···दिवाकर मित्रम् अद्राक्षोत्। [हर्ष चरितम्, अष्टम् उच्छ्वासः]

2. संस्कृतेः प्राकृतेर्वाक्यैर्यः शिष्यमनुरूपतः।
देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत्स गुरुः स्मृतः॥
[डा० अल्तेकर—Education in Ancient India, Page 163.]

3. A History of Sanskrit Literature by Arther A. Macdonell, Page 32.

4. Ancient Indian Education – Radha Kumud Mookerji Page 454.

सूत्रों को कण्ठस्थ करना कोई दोष नहीं है। आज भी तो बीजगणित, रेखागणित, रसायन विज्ञान, भौतिक विज्ञान आदि से संबद्ध अनेक सूत्र छात्रों को कण्ठस्थ करने पड़ते हैं। कानवेण्ट्स द्वारा संचालित विद्यालयों में तो कण्ठस्थ कराने की प्रथा का अत्यधिक प्रचलन है। अतः छात्रों द्वारा सूत्रों के कण्ठस्थ किये जाने का सिद्धान्त औचित्यपूर्ण है। प्रो० डी० जी० आप्टे[1] का भी यही मत है। आरंभ में कण्ठस्थ किये गये सूत्र उच्च कक्षाओं की वस्तुओं के अध्ययन करने में सहायक होते हैं। पर कण्ठस्थ कराने के सिद्धान्त का प्रयोग सीमित ढंग से करना चाहिए जिससे उद्देश्य की पूर्ति भी हो जाय और छात्रों के मस्तिष्क पर अधिक बोझ भी न पड़े।

भाषा-संसर्ग-विधि अथवा अव्याकृति विधि

कुछ लोगों का यह मत है कि संस्कृत शब्दों के रूपान्तरों को अनौपचारिक ढंग से नियमों का उल्लेख किये बिना ही पढ़ाया जाय। इनके अनुसार व्याकरण की शिक्षा अलग से न देकर भाषा की शिक्षा के साथ ही साथ दी जाय क्योंकि शुद्ध प्रयोग तो अचेतन रूप में ही बोलने, पढ़ने तथा लिखने द्वारा सीखा जाता है। इनका यह मत उसी सिद्धान्त पर आश्रित है जिसके अनुसार महान् लेखकों ने व्याकरण की शिक्षा के बिना ही केवल शुद्ध प्रयोग द्वारा ही भाषा सीख लिया था। ये लोग भाषा-संसर्ग विधि अथवा अव्याकृति विधि के पोषक हैं। अव्याकृति शब्द 'अ + वि + आ + कृ + क्तिन्' के योग से बना है। इस प्रणाली के अनुसार छात्रों को ऐसे लेखकों की रचना पढ़ने को दी जायँ जो हर दृष्टि से शुद्ध हों। यह प्रणाली इस सिद्धान्त पर आधारित है कि यदि मातृभाषा घर में ही स्वाभाविक रूप से व्याकरण की औपचारिक शिक्षा के बिना ही सीखी जा सकती है तो, इसी प्रकार संस्कृत भी सीखी जा सकती है। इस विधि के अनुसार व्याकरण की शिक्षा दिये बिना ही भाषा का पूर्ण ज्ञान प्रयोग द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यह सब होते हुए भी इस विधि की अपनी सीमाएँ हैं। संस्कृत व्याकरण अनेक नियमों एवं उपनियमों की खान है। अतः इनका केवल प्रयोग द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करना असंभव है और यदि संभव भी हो तो इस प्रकार प्राप्त ज्ञान सुव्यवस्थित एवं

---

1. Specially during early stages let memorisation be carried on, or an entensive scale. [Teaching of Sanskrit by Prof. D. G. Apte.]

क्रमिक न होगा और छात्रों में इनके प्रयोग के प्रति आत्मविश्वास न होगा। ऐसी परिस्थिति में प्रारंभिक कक्षाओं में जबकि संस्कृत शिक्षण में मौखिक विधि का अनुसरण किया जाता है, इस विधि का प्रयोग किया सकता है। छात्रों को केवल नियमों का शुद्ध-शुद्ध ज्ञान करा दिया जाय। जैसे-जैसे उनका भाषा विषयक ज्ञान विकसित होता जाय, उन्हें व्याकरण की औपचारिक शिक्षा दी जाय पर इस शिक्षा की भी एक सीमा हो जिससे छात्र संस्कृत व्याकरण की दुरूहता से ऊब न जायँ।

संस्कृत-व्याकरण शिक्षण भाग एक में महर्षि पाणिनि एवं पतंजलि द्वारा अपनायी गयी व्याकरण-शिक्षण पद्धतियों का उल्लेख किया गया है। पाणिनि ने संस्कृत के समस्त भाषा-संबंधी तत्वों का निरीक्षण कर अपने सूत्रों की रचना की थी तथा पतंजलि ने इन सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या की थी। इस प्रकार इन दोनों महर्षियों ने आगमन-निगमन विधि का अनुसरण किया था। यह विधि संस्कृत-व्याकरण-शिक्षण-क्षेत्र में इन दोनों महर्षियों की एक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक देन है। इस विधि का प्रयोग वैज्ञानिक विषयों के शिक्षण में किया जाता है। व्याकरण भी भाषा का विज्ञान है। अतः इसके शिक्षण में इसी विधि का प्रयोग हर दृष्टि से उपयोगी सिद्ध हो सकता है। यह विधि दो प्रमुख विधियों का सम्मिश्रण है—आगमन विधि तथा निगमन विधि। आगमन विधि दो विशेष सोपानों में विभक्त है। प्रथम में पर्याप्त एवं उपयुक्त उदाहरणों का अध्ययन तथा दूसरे में व्यापक नियम का अनुसन्धान होता है। उदाहरणों के औचित्य पर ही पाठ की सरलता और सफलता निर्भर करती है। अध्यापक को केवल उन्हीं उदाहरणों को बालकों के समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए जिन्हें बालक सुविधापूर्वक समझ सकें। उसे ज्ञात से अज्ञात तथा विशेष से सामान्य की ओर अग्रसर होना चाहिए और ऐसे उदाहरणों का संग्रह करना चाहिए जो सरल, विद्यार्थियों के ज्ञानानुकूल तथा अवसरोचित हों। ये उदाहरण ऐसे हों जो एक विशेष नियम से आबद्ध हों। इन उदाहरणों को छात्रों के समक्ष एक-एक करके प्रस्तुत किया जाय और उनसे ऐसे प्रश्न पूछे जायँ जिससे पाठ की कठिनाई स्वतः हल होती जाय तथा इन प्रश्नों के उत्तरों से वे स्वयं किसी नियम विशेष का निर्धारण कर सकें। यथा दीर्घ स्वर सन्धि के अन्तर्गत अ+अ=आ, अ+आ=आ, आ+अ=आ, आ+आ=आ आदि से सम्बद्ध उदाहरणों को क्रमशः इस प्रकार प्रस्तुत कर छात्रों से अग्रलिखित प्रश्न पूछा जाय—

आगमन विधि

1. शश+अङ्कः = शश्+अ+अङ्कः
= शश्+आ+ङ्कः
= श+शा+ङ्कः
= शशाङ्कः

2. रत्न+आकरः = रत्न+आ+आकरः
= रत्न+आ+करः
= र+त्ना+करः
= रत्नाकरः

3. लता+अन्तः = लत्+आ+अ+न्तः
= लत्+आ+न्तः
= ल+ता+न्तः
= लतान्तः

4. विद्या+आलयः = विद्+आ+आ+लयः
= विद्+आ+लयः
= वि+द्या+लयः
= विद्यालयः

विचार विश्लेषणात्मक प्रश्न—उदाहरण सं० 1 में 'शश' शब्द का उच्चारण करने पर अन्त में किस स्वर की ध्वनि निकलती है ?

2. इसके आगे कौन सा स्वर आया है ?

3. यह दोनों (अ+अ) मिल कर क्या हो जाते हैं ?

4. यह 'आ' किस वर्ण के साथ मिल गया है ?

5. 'श्+आ' मिलकर क्या हो जाता है ?

6. अन्त में 'श+शा+ङ्कः' से कौन सा शब्द बन जाता है ?

7. इस तरह तुम किस सिद्धान्त पर पहुँचते हो ?

सिद्धान्त निरूपण—'यदि पद के अन्त में 'अ' हो और उसके पश्चात् 'अ' हो तो दोनों मिल कर 'आ' हो जाते हैं और यह 'आ' पूर्व वर्ण के साथ मिल जाता है।'

इस पद्धति के अनुसार नियम सुविधापूर्वक समझ में आ जाता है क्योंकि सामान्य की खोज में छात्र का योगदान रहता है। इस तरह नियम को सीख लेने के पश्चात् विद्यार्थी एक विशेष प्रकार के वास्तविक आनन्द का अनुभव करने लगता है। स्वयं किसी वस्तु के सीखने की इच्छा मनोयोग को जागरित करती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बच्चों की सबसे उपयोगी प्रकृति उसकी

आगमन विधि की उपयोगिता

उस पाठ को पढ़ने की उत्सुकता है। इस प्रणाली के अनुसार उसकी यह उत्सुकता अन्त तक बनी रहती है जिससे वह सभी बातों को ध्यानपूर्वक सुनता, समझता और धारण करता है। इसके फलस्वरूप पाठ रूपी लड़ी की प्रत्येक कड़ी उसके मस्तिष्क-सूत्र में गुम्फित हो जाती है और वह उसे धारण करने में अपने को गौरवान्वित समझता है। वह जिज्ञासु बन पाठ को समझने में अपने को आत्म-विभोर कर देता है। मन की ऐसी अवस्था में सीखी हुई बातें अधिक स्थायी होती हैं और उनका प्रभाव भी अमिट होता है। इससे छात्र की निश्चयात्मक शक्ति का विकास होता है और उसकी बुद्धि में स्थिरता[1] आ जाती है।

निगमन विधि

जहाँ तक निगमन विधि का प्रश्न है, यह विधि आगमन विधि की पूरक है। इस विधि द्वारा आगमन विधि से सीखे हुए सिद्धान्तों की यथार्थता प्रमाणित होती है। ऐसा करने के लिए अनेक नवीन उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। छात्र सीखे हुए नियम का इन परिस्थितियों में प्रयोग करता है और इस तरह उसका अभ्यास भी करता है। प्रयोग के बिना नियम की सार्थकता प्रमाणित नहीं हो पाती है। उदाहरणस्वरूप उपरिवर्णित पद्धति द्वारा प्रतिपादित दीर्घ स्वर सन्धि से संबद्ध नियम के प्रयोगार्थ छात्रों को अधोलिखित दो तरह के अभ्यास दिये जा सकते हैं—

क—सन्धि विच्छेद, कीजिए—

उत्तमाङ्गम्, अद्यावधि, दैत्यारिः आदि।

ख—सन्धि कीजिए—

त्रिपुर+अरिः, तव+अनुजः, वेद+अन्तः आदि।

इन दोनों पद्धतियों के प्रयोग करने का यही तर्कसंगत क्रम है। किन्तु परिस्थिति वश इनके क्रम में परिवर्तन भी किया जा सकता है। वर्तमान

---

1. **यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।**
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

[गीता अ० 2,58]

शैक्षणिक पद्धति[1] की आवश्यकतानुसार इन दोनों पद्धतियों में समन्वय वाञ्छनीय है। अधिकृत रूप से नियमों की जानकारी के साथ ही साथ उनके प्रयोग करने की भी आवश्यकता होती है। निश्चिन्तता ही इसका मुख्य उद्देश्य है और यह सीखे हुए नियम के प्रयोग से आती है। प्रथम के माध्यम से छात्र परिस्थितियों का अध्ययन एवं उनसे संबद्ध नियमों का प्रतिपादन करता है तथा दूसरे के माध्यम से इन नियमों का प्रयोग करता है। स्वावलम्बन ही इसका प्रमुख उद्देश्य है जो व्यक्तिगत अनुसंधान एवं तर्क से ही प्राप्त होता है। इन पद्धतियों के अनुसरण से अन्धानुशासन तर्कसंगत अनुशासन का रूप धारण कर लेता है।

सहयोग अथवा समवाय विधि

व्याकरण शिक्षण के लिए प्रयुक्त पद्धतियों में सहयोग अथवा समवाय विधि का भी उल्लेख किया जाता है। इस विधि के अनुसार रचना, अनुवाद अथवा पाठ्य-पुस्तक शिक्षण के अवसर पर व्याकरण प्रासंगिक रूप में पढ़ाया जाता है। इस विधि के प्रवर्तक व्याकरण की अलग से शिक्षा देने के पक्ष में नहीं हैं। इसमें अध्यापक रचना, अनुवाद आदि से संबद्ध व्याकरण नियमों की व्याख्या करता है और छात्रों को तदनुकूल रचना करने अथवा अनुवाद करने के लिए प्रेरित करता है। यथा हिन्दी के वाक्यों का संस्कृत में अनुवाद करने के निमित्त अध्यापक उससे सम्बद्ध सिद्धान्त को छात्रों के समक्ष प्रस्तुत कर उसकी व्याख्या करता है और उन्हें बताता है कि जिस पुरुष और वचन का कर्त्ता होगा, उसी पुरुष और वचन की क्रिया भी होगी। छात्र

---

1. "What is needed in Educational method to day is a reconciliation between the two methods and aims. The first invites pupils to collect and observe phenomena to study relation and to formulate laws. Its aim is the independence which comes from personal search and reasoning.....and thus blind discipline becomes intelligent discipline. The second requires pupils to master laws and rules dogmatically stated and then to apply or watch their application to phenomena or examples--[Spens report on Secondary Education Page 229-230.]

—राम जाता है। तुम लिखते हो। हम दोनों पूछते हैं। वह देखती है आदि वाक्यों का संस्कृत में अनुवाद करते समय इसका प्रयोग करता है। पाठ्य-पुस्तक-विधि भी इसी विधि की एक कड़ी है जो अंग्रेजी भाषा की देन है। इसके अनुसार व्याकरण की सारी बातें पाठ्य-पुस्तक में दी हुई रहती हैं। छात्र इन्हें स्मरण कर लेते हैं और अध्यापक की सहायता से इनका विभिन्न परिस्थितियों में प्रयोग करते हैं। पाठ्य-पुस्तकों में एतत्संबन्धी अभ्यास भी दिये रहते हैं। संस्कृत की वर्तमान पाठ्य-पुस्तकें इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

पाठ्य-पुस्तक-विधि

अब प्रश्न उठता है कि छात्रों को सर्वप्रथम व्याकरण के किस अंश की शिक्षा दी जाय। संस्कृत वर्णमाला की वैज्ञानिकता तो सर्व विदित है। यही संस्कृत व्याकरण के मूल में निहित है। अतः छात्रों का ध्यान सर्वप्रथम इसकी इसी वैज्ञानिकता की ओर आकर्षित किया जाय। स्वामी दयानन्द[1] सरस्वती का भी यही मत है। उनका कथन है कि विद्यार्थी को पाणिनि शिक्षा के आधार पर वर्णों के शुद्ध उच्चारण का ज्ञान कराया जाय। विश्लेषण विधि से वर्णों का वर्गीकरण कर वर्णोद्भव-स्थान कोष्ठक का ज्ञान-स्थान, प्रयत्न, काल और आघात की दृष्टि से अच्छी तरह करा दिया जाय। वर्णमाला-क्रम और उसकी नियति पर छात्रों का ध्यान आकर्षित किया जाय जिससे वे आगे आने वाले ध्वनि परिवर्तन को भलीभाँति समझ सकें। वर्णमाला ही मूल है जिसके सुदृढ़ होने पर व्याकरण-वृक्ष की अन्य शाखाएँ भी स्थूल और सुदृढ़ होगी। विद्यार्थियों को ध्वनि के परस्पर परिवर्तन का भी ज्ञान होना आवश्यक है। उन्हें यह ज्ञान होना चाहिए कि इ, ए, ऐ, य्, अय् और आय् एक कोष्ठक के अन्तर्गत आते हैं। इसी तरह उ, ओ, औ, व्, अव् तथा आव् एक दूसरे कोष्ठक के अन्तर्गत आते हैं।

संस्कृत व्याकरण पाठ्य-सामग्री ध्वनि-समूह का ज्ञान (1)

इस तरह ध्वनि समूह का अच्छी तरह ज्ञान करा कर इसके संसर्ग से उत्पन्न परिवर्तनों की ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित किया जाय। यहाँ पर सन्धियों का ज्ञान कराना वांछनीय है। इनका ज्ञान कराने के लिए आगमन-निगमन विधि का अनुसरण किया जाय। सरल से कठिन की ओर के सिद्धान्त के

ध्वनि परिवर्तन सन्धि-ज्ञान स्वर

---

1. सत्यार्थ प्रकाश—तृतीय उल्लास।

सन्धि अनुसार क्रमशः दीर्घ सन्धि, गुण सन्धि, वृद्धि सन्धि, यण् सन्धि, अय्, अव्, आय् और आव् आदि का ज्ञान कराया जाय। इस संबन्ध में जितने भी उदाहरण प्रस्तुत किये जायँ, वे सबके सब हिन्दी में आये हुए तत्सम शब्दों से ही लिये जायँ। पाठ को रोचक बनाने की सर्वोत्तम विधि यही है। इनका ज्ञान कराते समय यह भलीभाँति बतला दिया जाय कि सन्धि वह साधारण प्रक्रिया है जो प्राचीन या अर्वाचीन देशी या विदेशी—सभी भाषाओं में मिलती है। यथा, अंग्रेजी में जब हम 'दिस इज़ ए बुक' कहते हैं तो केवल 'दिसिज ए बुक' ही का उच्चारण करते हैं। यह प्रक्रिया केवल बोलने तक ही सीमित नहीं है। इसकी अभिव्यक्ति लेखों में भी होती है। जैसे अंग्रेजी में हम 'आई काण्ट गो' बोलते और लिखते भी हैं। हिन्दी में भी लाना शब्द 'ले+आना' से ही बना है। संस्कृत की तो यह परम्परा ही रही है कि लिखने में सन्धियों का प्रयोग अनिवार्य रूप से किया जाय। कहा भी गया है कि,

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥

अर्थात् सुबन्त अथवा तिङन्त पद में, उपसर्गयुक्त धातुओं में तथा समास में सन्धि करना अनिवार्य है। वाक्य में ऐसी अनिवार्यता नहीं है। इसीलिए संस्कृत में सन्धि अनिवार्य है। प्रयत्न लाघव मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। संस्कृत भाषा में इसका अत्यधिक प्रभाव है।

व्यंजन एवं विसर्ग सन्धि

जिस प्रकार स्वर सन्धि में कारण-कार्य स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार व्यंजन सन्धि में भी यह स्पष्ट रूप से दिखाया जा सकता है। अघोष से घोष और अल्पप्राण से महाप्राण अथवा इन दोनों के मेल से उत्पन्न परिवर्तनों के कारण-कार्य के रूप में समझना कोई कठिन बात नहीं है। 'स्तोः श्चुना श्चुः' के अनुसार तवर्ग का चवर्ग में तथा 'ष्टुना ष्टुः' के अनुसार 'टवर्ग' में बदलना स्वाभाविक ही है। इसी तरह विसर्ग सन्धि के संबन्ध में भी विद्यार्थियों को ज्ञान कराया जा सकता है। विसर्ग की परिभाषा समझा लेने के पश्चात् उसके विभिन्न रूपों की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया जाय। विसर्ग के ओ, र्, स् और लोप मुख्य रूपान्तर हैं। विसर्ग का 'ओ' क्यों हो गया, यह एक कठिन समस्या है। वैयाकरणों ने विभिन्न परिस्थितियों का विश्लेषण कर यह नियम बनाया कि विसर्ग के पूर्व यदि 'अकार'

हो और उसके बाद अकार या कोई घोषवर्ण हो तो विसर्ग का 'ओ' हो जाता है। विसर्ग के लोप की भी एक समस्या है। 'मोहनः अस्ति' तो उपर्युक्त नियम के अनुसार 'मोहनोऽस्ति' बन गया, पर 'रामः इह', 'रामः इच्छति' आदि का 'राम इह', 'राम इच्छति' आदि कैसे बन गया, एक प्रश्न है। वैयाकरण कोई ऐन्द्रजालिक तो है नहीं जो स्वेच्छा से शब्दों के कुछ अंशों को उड़ा दे या उनमें कुछ जोड़ दे। यह तो सत्य का उपासक है। उसी को ढूँढ़ निकालना, उसी की खोज में अपने को खो देना उसका एकमात्र उद्देश्य है। उपर्युक्त शब्दों का उच्चारण करते समय 'अः' के बाद उससे भिन्न किसी स्वर का उच्चारण करने पर 'अः' का उच्चारण करते समय उत्पन्न प्राण वायु में बाधा उत्पन्न होती है। ऐसी परिस्थिति में विसर्ग-ध्वनि कानों तक नहीं पहुँच पाती। इसी का नाम लोप है। इसका अदर्शन ही लोप है (अदर्शनं लोपः)। अंग्रेजी भाषा में इसे 'साइलेण्ट' कहते हैं, जैसे 'वाक', 'चाक' आदि में 'एल्' का लोप हो गया है। विसर्ग का र्, स्, श्, ष्, आदि में परिवर्तित होना भी सुगमता से समझ में आ सकता है। इस प्रकार ध्वनियों के इस विकरण का इतिहास कितना क्रमिक और वैज्ञानिक है, छात्रों को भलीभाँति समझाया जा सकता है। क्या इससे भी सुन्दर और सरल पद्धति व्याकरण पढ़ाने की हो सकती है ?

सन्धि के अतिरिक्त समासों की भी अपनी विशेषता है। ये चार प्रकार के होते हैं—

द्वन्द्व समास, तत्पुरुष समास, बहुव्रीहि समास और अव्ययी भाव समास। द्वन्द्व तीन प्रकार का तथा तत्पुरुष छः प्रकार का होता है।

कर्मधारय तथा द्विगु समास एक तरह से तत्पुरुष समास के ही उपभेद हैं। सम् + अस् + घञ् = समास जिसका अर्थ है ठीक प्रकार से मिलाना। समस्त पदों में स्वरान्त या व्यंजनान्त शब्द अपने अन्तिम वर्ण से बाद में आने वाले पद के प्रथम वर्ण के साथ सन्धि नियम के अनुसार सम्बन्ध स्थापित करते हैं। अन्य भाषाओं में भी समास का प्रचलन है। यथा अंग्रेजी में अन+एबुल से अनेबुल तथा हिन्दी में पनडुब्बी, पनचक्की आदि।

संज्ञा, लिङ्ग, वचन, कारकादि का ज्ञान

'नामाख्यातोपसर्ग निपाताश्च' के अनुसार क्रम से नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात का ज्ञान कराया जाय। संज्ञा शब्दों का विभिन्न लिङ्गों में बँट जाना भी एक समस्या है। पर इसे सहज में सुलझाया जा सकता है। छात्र मातृभाषा का अध्ययन करते समय पुल्लिङ्ग एवं स्त्रीलिङ्ग से परिचित हैं। अतः ज्ञात से अज्ञात के आधार पर उन्हें संस्कृत में भी लिङ्गों का ज्ञान

कराया जा सकता है। महर्षि पतंजलि ने 'लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वालिंगस्य' कह कर लोकाचार को ही लिङ्ग निर्णय का आधार माना है। इसके होने पर भी 'कार्य-कारण' संबन्ध की स्थापना अवश्य करनी होगी और अध्यापक को इसके रहस्य को विद्यार्थियों को बतलाना होगा। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि छात्र अंग्रेजी का व्याकरण पढ़ते हैं जिसमें लिङ्ग भेद पुरुषत्व तथा स्त्रीत्व वाचक है। यही लड़के जब संस्कृत का व्याकरण पढ़ने लगते हैं तो बड़ी उलझन में पड़ जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ हिन्दी व्याकरण भी अंग्रेजी व्याकरण की तरह लिखे गये हैं जिससे छात्रों की कठिनाई और भी बढ़ जाती है और वे संस्कृत व्याकरण को जटिल एवं दुरूह समझने लगते हैं। ऐसी परिस्थिति में अध्यापक को आरम्भ से ही छात्रों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहिए कि संस्कृत तथा हिन्दी में लिङ्ग भेद का आधार प्रत्यय ही है और इसका ज्ञान अभ्यास से ही हो सकता है।

संस्कृत नामोच्चारण में वचन भेद की अपनी एक महती विशेषता है। अंग्रेजी और हिन्दी में केवल एकवचन तथा बहुवचन ही होते हैं किन्तु संस्कृत में इनके अतिरिक्त द्विवचन भी होता है। एक और अनेक की बात तो ठीक है पर बीच में 'दो' कहाँ से और कैसे उत्पन्न हुआ, यह एक विचित्र बात है। साधारण छात्र इसे देखकर चौंकता है। किन्तु यदि इस समस्या का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट रूप से आभास हो जाता है कि संस्कृत के विद्वानों ने जगत् का अत्यन्त बारीकी के साथ निरीक्षण किया है। जगत् के साथ उसकी समरसता संस्कृत भाषी समुदाय की एक मुख्य विशेषता है। प्रत्येक संस्कृति-समुदाय ने अपने परिवेश के प्रति एक निश्चित दृष्टिकोण अपनाया है। यह इसी के अनुसार आचरण भी करता है। परिवेश के दो अंग हैं— सामाजिक परिवेश और वस्तु जगत् का परिवेश। वस्तु जगत् में भी प्रकृति और मनुष्य की निर्मिति के दो विभाजन किये जा सकते हैं। युगल का ज्ञान तो प्रकृति प्रदत्त है। माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री-पुरुष, संयोग-वियोग, पाप-पुण्य आदि की जोड़ी ने ही मनुष्य को द्विवचन का ज्ञान कराया। दूसरे शब्दों में सृष्टि की रचना ही प्रकृति की इस प्रकार की जोड़ी पर निर्भर करती है। जैसे आकाश और पृथ्वी के संयोग से अग्नि की उत्पत्ति हुई तथा मन और वाणी के संयोग से संकल्प का उदय हुआ। इसी संयोग में बाधा उत्पन्न होने पर अपना आक्रोश व्यक्त करते हुए महर्षि बाल्मीकि कह उठे कि,

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

इसकी अभिव्यक्ति कालिदास के मेघदूत में भी हुई है जिसमें मेघ को प्रकृति-पुरुष के रूप में अभिव्यक्त किया गया है और विद्युत् से उसके न बिछुड़ने की कामना की गयी है। इसी द्वित्व का प्रयोग संस्कृत वैयाकरणों ने भाषा में किया तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है।

लिङ्ग और वचन का ज्ञान कराने के पश्चात् कारकों का ज्ञान कराया जाय। संस्कृत में कर्त्ता[1], कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण—ये छः प्रकार के कारक होते हैं। संबन्ध और सम्बोधन की कारकों में गणना नहीं होती है क्योंकि इनका क्रिया से सीधा सम्बन्ध नहीं होता है। संज्ञा शब्दों के आठ रूपान्तर होते हैं जो स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस् आदि के जुड़ने से उत्पन्न होते हैं। इन्हें विभक्ति भी कहते हैं। छात्रों को इनकी इन विशेषताओं में न डाल कर अध्यापक को प्राथमिक कक्षाओं में केवल उनके बने बनाये रूपों को उनके समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए। उन्हें इन रूपों को कण्ठस्थ करा कर यह अवगत करा देना चाहिए कि एक शब्द के रूपों के सदृश उस कोटि के सभी शब्दों के रूप चलते हैं, जैसे अकारान्त पुल्लिङ्ग 'राम' शब्द के रूपों की तरह सभी अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के रूप चलेगें। क्या इससे भी अधिक सुविधा विश्व की किसी अन्य भाषा के व्याकरण ने प्रदान की है? विशेषताओं में पड़ना विशेषज्ञों का कार्य है न कि छात्रों का।

सर्वनाम ज्ञान

संज्ञा शब्दों का ज्ञान करा लेने के पश्चात् सर्वनाम शब्दों की ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित किया जाय। इनका प्रयोग संज्ञा शब्दों के स्थान पर होता है। इनके रूपों की संज्ञा शब्दों के रूपों से तुलना करने पर यह ज्ञात होता है कि इनके रूपों में स्मै, स्यात्, स्मिन्, स्यैः, स्याः, स्याम् आदि का प्रयोग संज्ञा शब्दों के रूपों से भिन्न है। इन्हें पढ़ाते समय इस बात की ओर भी ध्यान दिया जाय कि उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष को छोड़ कर शेष सभी सर्वनाम अन्य पुरुष या प्रथम पुरुष हैं। जो बात करता है, वह उत्तम पुरुष, जिससे बात की जाती है, वह मध्यम पुरुष तथा जिसके बारे में बात की जाती है, वह अन्य पुरुष कहलाता है। सर्वनाम शब्दों से ही अव्यय बनते हैं। इनके अन्त में त्र, तः, था,

---

1. **कर्त्ता कर्म च करणं सम्प्रदानं तथैव च।**
अपादानाधिकरणमित्याहुः कारकाणिषट्॥

दा आदि लगाने से सर्वत्र, अत्र, परत्र, सर्वतः, कुतः यतः, सर्वथा, कदा आदि शब्द बनते हैं।

इस प्रकार नामादि का ज्ञान कराकर आख्यात अर्थात् क्रिया का ज्ञान कराया जाय। इसके पहले क्रिया का गणों में विभाजन वर्णित है। अतः उनका ज्ञान कराकर छात्रों का ध्यान काल भेद की ओर आकर्षित किया जाय। 'ल' काल का वाचक है। क्रियाओं का 'ल' में स्वरों के संयोग से लट्, लिट्, लोट्, लुट्, लृट्, लेट्, लङ्, लिङ्, लुङ्, लृङ् आदि दस लकारों में विभाजन किया गया है। इनमें से पाँच ही लकार हिन्दी में व्यवहृत होते हैं। समय के प्रभाव से शेष का व्यवहार उठ गया है (जिसकी चर्चा पिछले अध्याय में की जा चुकी है) और वे अब हिन्दी में व्यवहृत नहीं होते हैं। बालकों को इस बात का ज्ञान अवश्य करा दिया जाय कि देश-काल के अनुसार भाषा बदलती रहती है। इसी प्रकार का परिवर्तन संस्कृत में भी हुआ है। इन लकारों में क्रियाओं का रूप तिङन्त आदि प्रत्ययों के योग से बनता है। अध्यापक छात्रों को सर्व-प्रथम भ्वादिगण की धातुओं का रूप बतलाये। वह यह भी बतलाये कि इन धातुओं के अन्तिम स्वर इ, ई, उ, ऊ, ऋ और ॠ को तथा अन्तिम अक्षर से पूर्व इ, उ और ऋ को क्रमशः ए, ओ, अर् गुण हो जाता है तथा अन्त में गुण के ए को अय् और ओ को अव् हो जाता है, यथा भू—भवति, जि—जयति, नी—नयति हृ—हरति आदि। इसी प्रकार अन्य गणों की धातुओं का रूप बता कर तथा एक दूसरे की तुलना कर उनमें उत्पन्न अन्तरों पर विशेष ध्यान दिया जाय। इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन से विद्यार्थियों की बुद्धि विकसित होगी और वे संस्कृत व्याकरण की वैज्ञानिकता में विश्वास करने लगेंगे। उपसर्गों का संस्कृत व्याकरण में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके योग से धातुओं के अर्थ बदल जाते हैं। इसी प्रसंग में कहा भी गया है कि,

आख्यात-ज्ञान

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराहार संहार विहार परिहारवत्॥

कृदन्तों के संबन्ध में भी छात्रों को थोड़ी-बहुत जानकारी करा दी जाय। इनके प्रयोग उपेक्षणीय नहीं हैं। सबसे अन्त में निपात की शिक्षा दी जाय। व्याकरण के मतानुसार निपात वे शब्द हैं जिनके बनने के नियमों का पता न हो या जो व्याकरण नियमों से सिद्ध न हों।

अंग्रेजी भाषा में सभी लिङ्गों, वचनों और कारकों में विशेषण पद का प्रयोग एक ही रूप में बिना किसी परिवर्तन के होता है, जैसे गुड मैन, गुड टेबुल, गुड चेयर आदि। इसके विपरीत संस्कृत में सभी विशेषण पद चाहे वे कृत प्रत्ययों से बने हों, सार्वनामिक हों अथवा साधारण हों, उसी लिङ्ग, वचन और कारक में होते हैं जिनमें विशेष्य होता है, जैसे गच्छन्ती नारी, का तृप्तिः, तत्सुखम्, शोभनानि गृहाणि आदि। संस्कृत में वस्तुतः विशेषण पदों के रूप विशेष्य पदों के रूपों के समान ही सभी कारकों, लिङ्गों और वचनों में चलते हैं।

विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध

संस्कृत व्याकरण पढ़ाते समय इस बात को कभी-भी आँख से ओझल नहीं करना चाहिए कि संस्कृत व्याकरण नियमों तथा उपनियमों की खान है। इसलिए अध्यापक को प्रत्येक नियम तथा उपनियम के बतलाने की आवश्यकता नहीं है। उन्हें केवल उन्हीं नियमों को बताना चाहिए जिनका प्रयोग दैनिक जीवन में अधिक होता हो। भाषा का अध्ययन आनन्द के लिए होता है। इसे बनाये रखने के लिए व्याकरण सम्बन्धी नियमों की भरमार नहीं होनी चाहिए। व्याकरण व्याकरण के लिए कदापि न पढ़ाया जाय। व्याकरण का सूक्ष्म अध्ययन स्कूलों का कार्य नहीं है। यह कार्य तो विश्वविद्यालयों का है क्योंकि उसके समझने के लिए परिपक्व मस्तिष्क एवं बुद्धि की आवश्यकता होती है। सैद्धान्तिक व्याकरण कठिन को सरल बनाने की अपेक्षा सरल को कठिन बना देता है। अतः आरम्भ में छात्रों को केवल व्याकरण की मुख्य-मुख्य बातें ही बतायी जायँ। उन्हें शब्दों एवं धातुओं का बना बनाया रूप ही वैज्ञानिक पद्धति पर बता दिया जाय। उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि व्याकरण शिक्षण के समय अधोलिखित बातों की ओर अवश्य ध्यान दिया जाय।

निष्कर्ष

1. छात्रों को नाम, संज्ञा एवं सर्वनाम शब्द रूपों एवं धातु रूपों का बना-बनाया रूप वैज्ञानिक नियमों के आधार पर कण्ठस्थ करा दिया जाय।

2. प्रत्येक शब्द रूप का वाक्य में विशिष्ट स्थान होता है। इसका ज्ञान कारकों के प्रकरण में करा दिया जाय। कारकों का ज्ञान संस्कृत शिक्षण में बड़े ही महत्त्व का है।

3. व्याकरण की शिक्षा साहित्य में प्रयुक्त उदाहरणों द्वारा दी जाय। अर्थात् भाषा पढ़ाते समय व्याकरण की शिक्षा दी जाय।

4. व्याकरण-शिक्षण में सदैव आगमन-निगमन पद्धति का अनुसरण किया जाय।

उपरिवर्णित व्याकरण-शिक्षण-पद्धतियों का विवेचन कर लेने के पश्चात् हमें इसके शिक्षण के उद्देश्यों का भी निर्धारण कर लेना चाहिए। ये उद्देश्य इस प्रकार हैं—छात्रों को संस्कृत भाषा के ध्वनि-तत्त्व से अवगत कराना जिससे वे पठित एवं कथित सामग्री का शुद्ध-शुद्ध उच्चारण कर सकें। उन्हें इस योग्य बनाना कि वे शुद्ध-शुद्ध वाक्य-रचना कर सकें। इस प्रकार उनमें भाषा के गुण-दोषों को परखने की क्षमता प्रदान करना जिससे वे ठीक-ठीक लिख, पढ़ एवं बोल सकें। उनमें अवसरानुकूल सीखे हुए व्याकरण नियमों के प्रयोग करने की क्षमता उत्पन्न करना।

व्याकरण शिक्षण के उद्देश्य

व्याकरण-शिक्षण सम्बन्धी पाठ-योजना तैयार करते समय निम्नलिखित क्रम को अवश्य ध्यान में रखा जाय—

1. सामान्य उद्देश्य,
2. मुख्य-उद्देश्य,
3. पूर्वज्ञान,
4. सहायक सामग्री,
5. प्रस्तावना,
6. उद्देश्य कथन,
7. पाठ्योपस्थापन—क—उदाहरण शब्द अथवा वाक्य
   ख—विचार विश्लेषणात्मक प्रश्न
8. सिद्धान्त निरूपण,
9. प्रयोग,
10. गृह-कार्य।

इसके सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के लिए व्याकरण-पाठ-सूत्र सम्बन्धी परिशिष्ट का अध्ययन विशेष रूप से लाभकारी सिद्ध होगा।

सारांश

व्याकरण शिक्षण के लिए अपनायी गयी विधियाँ निम्नवत् हैं—सूत्र प्रणाली अथवा परम्परागत प्रणाली, भाषा संसर्ग प्रणाली अथवा अव्याकृत प्रणाली, सहयोग अथवा समवाय प्रणाली तथा आगमन-निगमन प्रणाली। सूत्र प्रणाली सामान्य से विशेष की ओर की शिक्षण-सूक्ति पर आधारित है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना इसी आधार पर की है। इसमें पाठ्य-सामग्री को कण्ठाग्र करने पर विशेष बल दिया जाता है। सूत्रों की व्याख्या के लिए भाष्य अथवा टीका प्रणाली अपनायी गयी थी। इसकी व्याख्या के लिए शास्त्रार्थ पद्धति का भी अनुसरण किया गया था।

भाषा संसर्ग विधि अथवा अव्याकृति विधि इस सिद्धान्त पर आधारित है कि यदि मातृभाषा घर में ही स्वाभाविक रूप से व्याकरण की औपचारिक शिक्षा के बिना ही सीखी जा सकती है तो इसी प्रकार संस्कृत भी सीखी जा सकती है। इसमें छात्रों को ऐसे लेखकों की रचनाएँ पढ़ने को दी जाती हैं जो हर दृष्टि से शुद्ध होती हैं।

आगमन-निगमन विधि दो प्रमुख विधियों का समिश्रण है—आगमन विधि और निगमन विधि। आगमन विधि दो विशेष सोपानों में विभक्त है। प्रथम में पर्याप्त एवं उपयुक्त उदाहरणों का अध्ययन तथा दूसरे में व्यापक नियम का अनुसन्धान होता है। इस प्रणाली के अनुसार छात्र की पाठ सीखने की उत्सुकता अन्त तक बनी रहती हैं और वह जिज्ञासु बन पाठ को समझने में अपने को आत्मविभोर कर देता है।

निगमन विधि आगमन विधि की पूरक है। इसमें आगमन विधि द्वारा सीखे हुए सिद्धान्तों की यथार्थता प्रमाणित होती है। यह विधि सीखे हुए नियमों के प्रयोगार्थ अवसर प्रदान करती है। जहाँ तक सहयोग अथवा समवाय विधि का प्रश्न है, इस विधि के अनुसार रचना, अनुवाद अथवा पाठ्य-पुस्तक शिक्षण के अवसर पर व्याकरण प्रांसगिक रूप में पढ़ाया जाता है। पाठ्य-पुस्तक विधि इसी लड़ी की एक कड़ी है जो अंग्रेजी भाषा की देन है। इसके अनुसार व्याकरण की सारी बातें पाठ्य-पुस्तक में दी हुई रहती हैं जिन्हें छात्र स्मरण कर लेते हैं।

व्याकरण की निम्नलिखित बातें इसी क्रम में छात्रों को पढ़ाई जाय। संस्कृत वर्णमाला—शुद्धोच्चारण एवं इनका वर्गीकरण; सन्धि ज्ञान ध्वनि परिवर्तन के आधार पर, पहले सरल फिर कठिन सन्धियों का ज्ञान कराया जाय। नाम शब्द जिसके अन्तर्गत संज्ञा, सर्वनाम विशेषण, विभिन्न लिङ्ग, वचन,

कारकादि का ज्ञान अपेक्षित है। आख्यात—पहले भ्वादि गण की धातुओं का ज्ञान तदनन्तर अन्य गणों की धातुओं का ज्ञान अपेक्षित। पहले केवल पाँच लकारों का ही ज्ञान कराया जाय। धातुओं के ज्ञान के साथ ही साथ उपसर्गों का भी ज्ञान करा दिया जाय। कृदन्त तथा तद्धित प्रत्यय भी इसी के साथ पढ़ाया जाय। अन्त में निपात की शिक्षा दी जाय।

पाठ-योजना के अन्तर्गत अधोलिखित क्रम का अनुसरण किया जाय। सामान्य उद्देश्य, मुख्य उद्देश्य, सहायक-सामग्री, प्रस्तावना, उद्देश्य-कथन, पाठ्योपस्थापन, सिद्धान्त-निरूपण, प्रयोग एवं गृह-कार्य।

प्रश्न

1. सूत्र अथवा परम्परागत प्रणाली का सोदाहरण विशद विवेचन कीजिए।
2. भाषा संसर्ग विधि अथवा अव्याकृति विधि से आप का क्या तात्पर्य है, सोदाहरण समझाइए।
3. आगमन एवं निगमन विधियाँ परस्पर पूरक हैं, सिद्ध कीजिए और इनकी उत्पत्ति के इतिहास का विस्तृत वर्णन कीजिए।
4. व्याकरण शिक्षण सामग्री किस क्रम से छात्रों को पढ़ाई जाय, इसके सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त कीजिए।
5. व्याकरण-शिक्षण में कौन सी पद्धति अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है, उसका विस्तृत वर्णन कीजिए।
6. व्याकरण शिक्षण से सम्बद्ध कक्षा 6 के लिए एक पाठ-सूत्र तैयार कीजिए।

सहायक ग्रन्थ

1. स्पेन्स रिपोर्ट आन सेकेण्डरी एजूकेशन।
2. हर्ष चरित्—अष्टम् उच्छ्वास।
3. Education in Ancient India. Dr. Altaker.
4. A History of Sanskrit Literature. Arther A. Macdonell.
5. Ancient Indian Education. Radha Kumud Mukerji.
6. Teaching of Sanskrit—Prof. D. G. Apte.
7. गीता।
8. सत्यार्थ प्रकाश—तृतीय उल्लास।

पाठ-सूत्र

सामान्य उद्देश्य—1. छात्रों को संस्कृत भाषा के ध्वनि-तत्त्व से परिचित कराना।

2. छात्रों की तर्क-शक्ति एवं रचनात्मक वृत्ति का विकास करना।

3. उन्हें शुद्ध-शुद्ध सन्धि करने का ज्ञान प्राप्त कराना।

4. सन्धि संबंधी सिद्धान्तों का ज्ञान कराते हुए उनके प्रयोग करने का अवसर प्रदान करना।

मुख्योद्देश्य—छात्रों को गुण सन्धि के अन्तर्गत इस बात का ज्ञान कराना कि **यदि अ अथवा आ के बाद इ या ई आये तो दोनों के स्थान पर ए हो जाता है और यह 'ए' पूर्व वर्ण के साथ मिल जाता है।**

पूर्व-ज्ञान—छात्रों को स्वरों, व्यञ्जनों तथा दीर्घ स्वर सन्धि का ज्ञान है।

सहायक-सामग्री—दीर्घ स्वर एवं गुण सन्धि सम्बन्धी कतिपय शब्दों का एक विशिष्ट चार्ट।

प्रस्तावना—छात्राध्यापक इस चार्ट में से निम्नलिखित शब्द श्यामपट्ट पर अंकित कर छात्रों से प्रश्न पूछेगा।

शशाङ्कः = शश + अङ्कः, शश् + अ + अङ्कः

1. इस पद का सन्धि विच्छेद करो ?

2. इन दोनों पदों में किन-किन वर्णों में सन्धि हुई है ?

3. ये वर्ण कैसे हैं ?

यदि 'अ' के बाद इससे भिन्न (इ या ई) स्वर आये तो दोनों के स्थान पर क्या हो जायगा ? समस्या,

उद्देश्य-कथन—"यदि अ या आ के बाद इससे भिन्न इ या ई स्वर आये तो दोनों के स्थान पर 'ए' हो जाता है और यह 'ए' पूर्व वर्ण के

साथ मिल जाता है''—आज हम इसी सन्धि नियम का अध्ययन करेगें।

पाठ्योपस्थापन—छात्राध्यापक निम्नलिखित शब्दों को एक-एक करके निम्न-पद्धति से श्यामपट्ट पर लिख कर छात्रों से इनके सम्बन्ध में प्रश्न पूछेगा—

1. देवेन्द्रः = देव + इन्द्रः
   = देव् + अ + इ + न्द्रः
   ↓
   = देव् + ए + न्द्रः
   ↓
   = दे + वे + न्द्रः
   = देवेन्द्रः

2. गणेशः = गण + ईशः
   = गण् + अ + ई + शः
   ↓
   = गण् + ए + शः
   ↓
   = ग + णे + शः
   = गणेशः

3. महेन्द्रः = महा + इन्द्रः
   = मह् + आ + इ + न्द्रः
   ↓
   = मह् + ए + न्द्रः
   ↓
   = म + हे + न्द्रः
   = महेन्द्रः

4. रमेशः = रमा + ईशः
   = रम् + आ + ई + शः
   ↓
   = रम् + ए + शः
   ↓
   = र + मे + शः
   = रमेशः

विचार-विश्लेषणात्मक प्रश्न—इन उदाहरणों को ध्यानपूर्वक देखो और निम्न-लिखित प्रश्नों का उत्तर दो।

1. उदाहरण सं० 1 में 'देवेन्द्रः' शब्द किन-किन शब्दों से बना हुआ है ?
2. 'देव' शब्द का उच्चारण करने पर अन्त में किस स्वर की ध्वनि निकलती है ?
3. इसे लिख कर किस तरह व्यक्त किया जायगा ?
4. इसके बाद कौन सा स्वर आया हुआ है ?
5. अ और इ मिल कर क्या हो गये हैं ?
6. यह 'ए' किस वर्ण के साथ मिल गया है ?

इसी प्रकार उदाहरण सं० 2, 3, तथा 4 के संबंध में अलग-अलग प्रश्न पूछे जायँगे ।

7. इस तरह तुम किस सिद्धान्त पर पहुँचते हो ?

सिद्धान्त निरूपण—यदि अ अथवा आ के बाद इ या ई आये तो दोनों के स्थान पर 'ए' हो जाता है और यह ए पूर्व वर्ण के साथ मिल जाता है ।

प्रयोग (क) सन्धि कीजिए—सुर+इन्द्रः, महा+ईशः, देव+ईशः, परम+ईश्वरः ।

(ख) सन्धि विच्छेद कीजिए—
राकेशः, रमेशः, उपेन्द्रः, राधिकेश्वरः ।

गृह-कार्य—1. निम्नलिखित में सन्धि अथवा सन्धि विच्छेद कीजिए ।
महा+ईशः, नृप+ईश्वरः, नर+इन्द्रः
यमुनेशः, गंगेयम्, सुधेयम्, असुरेश्वरः

2. अपनी पाठ्य-पुस्तक के प्रथम गद्य-पाठ से इस सन्धि के उदाहरण छाँट कर उनका सन्धि विच्छेद कीजिए ।

नोट—इस प्रकार के अन्य पाठ सूत्रों के लिए 'प्रदीप संस्कृत रचना प्रवेश अभ्यास पुस्तिका' भाग 1, 2 तथा 3 का अध्ययन करें—यह पुस्तक प्रकाशन केन्द्र, न्यू बिल्डिंग, अमीनाबाद, लखनऊ द्वारा प्रकाशित है ।

●

अध्याय 17

संस्कृत कविता शिक्षण भाग (1)

संस्कृत कविता शिक्षण की विभिन्न पद्धतियों तथा उसके अध्ययन अध्यापन के उद्देश्यों का ज्ञान प्राप्त करने के पूर्व हमें इस बात की भी जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए कि इसकी सृष्टि किस पृष्ठभूमि में कैसे हुई और इसका स्वरूप क्या है ? लौकिक संस्कृत में कविता लिखने का क्रम वाल्मीकि से प्रारम्भ हुआ। यही हमारे आदि कवि हैं। कहा जाता है कि एक बार महर्षि वाल्मीकि तमसा नदी के पावन तट पर सन्ध्या करने जा रहे थे। उसी अवसर पर कामातुर क्रौञ्च पक्षी की एक जोड़ी विचर रही थी। व्याध ने उनमें से क्रौञ्च को मार डाला। उसके मर जाने पर क्रौञ्ची तिलमिला उठी और कातर स्वर से विलाप करने लगी। इस कारुणिक दृश्य को देख कर महर्षि वाल्मीकि के रससिक्त हृदय में शोक-तरङ्गिणी प्रवाहित हो उठी, रसावेश में उनका यह शोक श्लोक में परिणत हो गया तथा उनके मुख से सहसा निकल पड़ा कि—

कविता की उत्पत्ति

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

इसी समय सहृदयों को यह भी आभास हो गया कि भारतीय काव्य-धारा किस दिशा में प्रवाहित होगी। इसी के आधार पर ध्वनिकार आनन्द वर्धनाचार्य भी कह उठे कि—

काव्यस्यात्मा स एवार्थः स चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

इस कविता का जन्म तपोवन में हुआ जहाँ कलकल-निनादिनी कल्लोलिनी के कूल पर तापसों का निवास है, जहाँ जंगल के पशु अपने स्वाभाविक बैर-भाव को भुलाकर परस्पर प्रीति से एक दूसरे के साथ हिल-मिल कर रहते हैं। मृग शावक अपनी माता की गोदी को छोड़ कर ऋषियों की गोदी में बैठ अपना जीवन-यापन करते हैं और जिनके कुश की तेज नोक से छिद जाने वाले मुख

की पीड़ा को इंगुदी का तेल लगा कर ऋषि लोग दूर किया करते हैं। आश्रम में सायं-प्रातः स्वाहा-स्वाहा की ध्वनि सुनाई पड़ती है। ब्रह्मचारी वेदाध्ययन करते हैं और ऋषिगण गार्हस्थ्य जीवन में रह कर भी वानप्रस्थ आश्रम का निर्वाह करते हैं तथा प्राणिमात्र के कल्याण की वेदी पर अपना जीवन समर्पित करते हैं। वहीं से वे अपना सन्देश दे रहे हैं कि,

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥

संस्कृत काव्यों में प्रकृति का सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है। प्रकृति की मूक स्थिति मनुष्यों में ही नहीं अपितु पशु-पक्षियों में भी अमूक भाव उत्पन्न कर देती है। मनुष्य का प्रकृति से घनिष्ठ संबंध है। अतः वह उसके हृदय में भी ऐसा ही भाव उत्पन्न करती है। सम्पूर्ण विश्व की अखण्डता का भान इसी भावना में निहित है जिसके फलस्वरूप काव्य लोकोत्तर आनन्द का कारण बन जाता है। प्रकृति एक शिक्षिका है जिससे हम तरह-तरह के उपदेश ग्रहण करते हैं।

संस्कृत काव्यों में नारी के त्याग और तपस्या का सुन्दर चित्रण है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' मनु के इस कथन को भुलाया नहीं जा सकता। नारी जीवन का मूलमन्त्र है त्याग जिसकी सिद्धि उसे उसकी तपस्या ने प्रदान की है। संस्कृत कवियों ने नारी के तीनों रूपों—कन्या रूप, भार्या रूप तथा मातृ रूप—का सुन्दर वर्णन किया है। पार्वती का कन्या रूप में तथा सीता का नारी रूप में चित्रण बड़ा ही अनुपम है।

इन काव्यों में गार्हस्थ्य जीवन का सुन्दर वर्णन है। यह जीवन भगवत्प्राप्ति का एक सोपान मात्र है। इसमें प्रेमतत्त्व की साधना सिखलायी गयी है। महाकवि भवभूति ने इसकी सुन्दर व्याख्या की है। यह प्रेम सुख-दुःख में अद्वैत रहता है, समग्र अवस्थाओं में अनुकूल रहता है। इससे हृदय को विश्राम मिलता है। बुढ़ापा इसके आनन्द को छीन नहीं सकती है। समय के बीत जाने पर, बाहरी आवरण के हट जाने पर यह परिपक्व स्नेह सार में विद्यमान रहता है—यह कल्याणकारी भद्र-प्रेम विरले ही भाग्यशाली व्यक्ति को सुलभ होता है।

प्रेम मानव-जीवन को सरस बनाने वाला तथा उदात्त मार्ग पर अग्रसर करने वाला हृदय का एक व्यापार है। यह दिव्यलोक की वस्तु है। नारी भोग्य-वस्तु नहीं अपितु कलाभिव्यक्ति का मुख्य साधन है। रुद्रट का यह वाक्य

कि "नहि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः" इसका ज्वलन्त उदाहरण है। प्रेम के दोनों स्वरूपों अर्थात रुढ़िग्रस्त प्रेम तथा सहज प्रतिभाजन्य प्रेम—का संस्कृत काव्यों में सुन्दर वर्णन है। इनमें विशुद्ध प्रेम की बाँकी झाँकी मिलती है।

संस्कृत काव्य राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत हैं। इनमें राष्ट्रमण्डल की भावना, एक राष्ट्र की कल्पना तथा राष्ट्र को जीवित मानने की विचारधारा पूर्ण रूप से पायी जाती है। ऋग्वेद में आकाश को पिता तथा पृथ्वी को माता के रूप में मानना तथा अथर्ववेद का पृत्वी सूक्त आर्यों के राष्ट्र-प्रेम का प्रत्यक्ष प्रमाण है। (इसके विस्तृत ज्ञान के सम्बन्ध में "संस्कृत साहित्य के महत्त्व" नामक पाठ का अध्ययन करें)।

काव्य-स्वरूप

उपरि वर्णित पृष्ठभूमि में जिस कविता का जन्म हुआ, उसका स्वरूप क्या है, एक विचारणीय प्रश्न है। कविता के स्वरूप के विषय में आचार्यों में मतैक्य नहीं है। विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से इसके स्वरूप को विभिन्न प्रकार से व्यक्त किया है। पाठ के आरम्भ में कविता-उत्पत्ति की जिस घटना का उल्लेख है, उसके संबंध में अपना मत व्यक्त करते हुए ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य कहते हैं कि क्रौञ्ची की कारुणिक स्थिति से आदि कवि वाल्मीकि के हृदय में उत्पन्न शोक ही श्लोक के रूप में बाहर आया था। कवि हृदय में उत्पन्न इस प्रकार के रस ही वस्तुतः कविता के रूप में प्रस्फुटित होते हैं। कविराज विश्वनाथ ने भी 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कह कर रसयुक्त वाक्य को ही काव्य माना है किन्तु आनन्दवर्धनाचार्य ने रस के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है। उनका कथन है कि 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'। आचार्य वामन 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कह कर रीतियों को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। ये रीतियाँ तीन प्रकार की होती हैं—गौड़ी, वैदर्भी और पांचाली। इनका ध्वनि से विशिष्ट संबंध है। विभिन्न ध्वनियों का हमारे कानों पर पड़े हुए प्रभाव का संबंध इन रीतियों से है। इस प्रकार रीत्याचार्य और ध्वन्याचार्य के मतों में प्रर्याप्त सामञ्जस्य है। पण्डितराज जगन्नाथ[1] रमणीय अर्थ प्रतिपादक शब्द को ही काव्य मानते हैं। क्षण-क्षण में जो नवीनता उत्पन्न करती है वही

---

1. **रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'—पण्डितराज जगन्नाथ।**
'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः'—कालिदास।

रमणीयता है। आचार्य मम्मट[1] के शब्दों में काव्य होता है शब्द और अर्थ जो दोष रहित हों, गुण से मण्डित हों तथा कहीं-कहीं पर वे अलंकार-हीन भी हो सकते हैं। ये शब्द और अर्थ साधारण न हों कर विशिष्ट हों। दोष हीनता, गुण संपन्नता और अलंकार युक्तता ही इस शब्दार्थ को विशिष्टता है। दोष हीनता पर उनका बल है ही; किन्तु गुण तथा अलंकार इन दोनों में से गुण पर उनका आग्रह अधिक और अलंकार पर कम है। वे गुण के समान अलंकार को को स्थान देने के लिए प्रस्तुत नहीं है।

भामह, रुद्रट, वाग्भट आदि आचार्यों ने अलंकार को ही काव्य की आत्मा माना है। भामह का काव्य लक्षण है—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्', रुद्रट का 'शब्दार्थौ काव्यम्', वाग्भट का 'शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ काव्यम्', हेमचन्द्र का 'अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्', आदि। आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' कह कर वक्रोक्ति को ही काव्य का प्राण माना है। अभिनवभरत ने 'प्रबंध सारस्यं काव्यम्' कहा है। उनके अनुसार प्रबन्ध की सरसता ही काव्य है और अनवरत कौतूहल ही काव्य की सरसता[2] है।

हिन्दी साहित्य के आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा होती है और उसका निर्वाह होता है। उनके अनुसार 'जब मनुष्य प्रकृति के नाना रूपों और व्यापारों से ऊँचा उठकर अपने योग-क्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि को भूल कर तथा पृथक् सत्ता से छूट कर केवल अनुभूति-मात्र रह जाता है अर्थात् जब उसके व्यक्तित्व का सामान्यीकरण हो जाता है, तब हम उसे मुक्त हृदय कहते हैं। हृदय की इसी मुक्ति-साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आयी है, उसे कविता कहते हैं।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न आचार्यों ने कविता के स्वरूप का वर्णन भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। आचार्य वामन ने रीति को, कुन्तक ने वक्रोक्ति को, दण्डी, भामह, प्रभृति ने अलंकार को तथा आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा है किन्तु कविता न तो केवल रीति है, न अलंकार, न ध्वनि, न रस, न वक्रोक्ति और न केवल गुण है। यह तो इन

---

1. 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'—मम्मट।
2. 'कौतूहलाविरलत्वं काव्यसारस्यम्'—अभिनवभरत।

सबका समवाय है। यह केवल जीवन की समालोचना, प्रतिच्छाया, संगीतमय विचार अथवा सर्वोत्तम शब्द ही नहीं है, अपितु इन सभी का एक समन्वित रूप है। ये सभी तत्त्व काव्य के विभिन्न स्वरूप हैं।

कविता में अद्भुत शक्ति होती है। भामह ने कवि-कर्म की महनीयता का इस प्रकार वर्णन किया है—

न स शब्दों न तद्वाच्य न स न्यायो न सा कला।
जामते यन्न काव्याङ्गमहो! भारो महान् कवेः॥

रुद्रट ने भी इसी बात का उल्लेख इस प्रकार किया है—

विस्तरतस्तु किमन्यत् तत इह वाच्यं न वाचकं लोके।
न भवति यत्काव्याङ्ग सर्वज्ञत्वं ततोऽन्यैषा॥

अर्थात् लोक में ऐसा न कोई वाच्य है और न वाचक, न कोई शब्द और अर्थ जो काव्य का अंग न हो सके। इसीलिए कहा भी जाता है कि 'जहाँ न जाय रवि, तहाँ जाय कवि।' कवि की लेखनी में अपूर्व शक्ति होती है। वह नपुंसकों में भी शक्ति भरने वाली, कायरों में जोश ला देने वाली तथा रोते हुए को भी हँसा देने वाली होती है। कहा गया है कि,

कवि-शक्ति

क्लीवों के शरीर में भी, खौल उठता है खून,
त्योरियाँ बदलती हैं, जोश चढ़ जाता है।
लेकर हथेली पर जान बढ़ता है वीर,
हारी हुई बाजी को तुरन्त पलटाता है।
तीनों लोक काँपने लगते हैं एक आन में ही,
कवि तू सगर्व जब लेखनी उठाता है।

अग्निपुराण में कवि की तुलना प्रजापति से की गयी है और उसके उदात्ततम स्थान तथा महान् उत्तरदायित्व की ओर संकेत किया गया कि,

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

अर्थात् इस अपार काव्य-संसार का कवि ही एक प्रजापति है। उसे जैसा रुचता है वैसी ही वह इस विश्व की रचना करता है। प्रजापति उपादान कारणों की

सहायता से ही सृष्टि की रचना करते हैं परन्तु हमारा कवि बिना कारण कलाप के ही अपूर्व वस्तु का निर्माण करता है। प्रजापति[1] की सृष्टि नियति के द्वारा उत्पादित नियमों का पालन करती है परन्तु कवि की सृष्टि ऐसे नियमों की संकीर्णता में कभी जकड़ी नहीं रहती। वह बन्धनमुक्त की भाँति सदैव स्वतंत्र होती है। प्रजापति की सृष्टि त्रिगुणमयी होने से सुखमयी, दुःखमयी तथा मोहमयी होती है, परमाणु आदि उपादान तथा अदृष्ट ईश्वर आदि निमित्त कारणों के ऊपर आश्रित होने से परतंत्र होती है, मधुर, अम्ल आदि छः रसों से युक्त रहती है तथा मनोज्ञ नहीं होती; कभी वह घृणा उत्पन्न करती है, कभी ग्लानि। हर्ष-विषाद, शोक-मोह, सुख-दुःख के नाना द्वन्द्वात्मक भावों की क्रीड़ा किया करती है यह प्रजापति-सृष्टि। परन्तु कवि-सृष्टि इससे नितान्त विलक्षण होती है। वह नियतिकृत नियमों से रहित होती है। केवल एकमात्र ह्लादमयी होती है। कवि को छोड़कर किसी कारण विशेष पर अवलम्बित नहीं होती, नव रसों से युक्त होती है और सर्वदा रुचिर, मनोज्ञ तथा हृदयानुरंजक होती है। कवि स्रष्टा होने के साथ ही साथ द्रष्टा भी होता है। 'कवयः क्रान्त दर्शिनः'—कवि का अर्थ है द्रष्टा, इन्द्रियों से अगोचर तत्त्वों का साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति। कवि शब्दों के माध्यम से जगत् के रहस्यों की व्याख्या करता है।

काव्य-प्रयोजन अथवा उद्देश्य

संस्कृत साहित्य में प्राचीन आचार्यों ने कविता करने, पढ़ने तथा पढ़ाने का उद्देश्य चतुर्वर्ग की प्राप्ति बताया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चतुर्वर्ग हैं। स्तोत्र पाठ में प्रवृत्ति हो जाने से धर्म लाभ होता है। राजादि के आश्रय से तथा काव्य रचना से धन और काम की पूर्ति होती है तथा निष्काम भाव से भगवद्विषयक कविता में प्रवृत्त होने से मुक्ति मिलती है। भामह ने काव्यालंकार[2] में इस कथन की सत्यता को प्रमाणित किया है। उन्होंने कविता के उद्देश्य को बतलाते हुए कहा है कि उच्चकोटि की कविता करने से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष एवं दूसरी कलाओं में निपुणता प्राप्त होती है तथा कीर्ति भी

---

1. कवि रहस्य—पृष्ठ 443-44.
2. धर्मार्थ काममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च।
   प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥—भामह।

मिलती है। कुन्तक[1] ने चतुर्वर्ग की प्राप्ति के अतिरिक्त व्याधिनाश, अविवेक नाश तथा एक विचित्र प्रकार के आनन्द की प्राप्ति को कविता का उद्देश्य बतलाया है। काव्य प्रकाश[2] के रचयिता आचार्य मम्मट ने भी कविता का उद्देश्य बतलाते हुए कहा है कि काव्य से यश एवं धन की प्राप्ति, व्यवहार का ज्ञान, अमंगल का निवारण तथा सद्यः परमानन्द के अनुभव के साथ कान्ता सदृश होने के कारण उत्तम उपदेश मिलता है। इनके द्वारा निर्दिष्ट उद्देश्यों का विश्लेषण करने से काव्य के द्विविध प्रयोजन प्रतीत होते हैं—मुख्य तथा गौण। इनमें मुख्य प्रयोजन है सद्यः परनिर्वृत्ति अर्थात् काव्यपाठ के अनन्तर सद्यः उत्पन्न होने वाला सातिशय आनन्द। यही उद्देश्य 'सकल प्रयोजन मौलिभूत' माना गया है। काव्य-पाठ से तुरन्त होने वाला अलौकिक आह्लाद ही काव्य का श्रेष्ठ प्रयोजन है। गौण प्रयोजन अनेक हैं जिनमें यश, अर्थ, व्यवहार ज्ञान, विघ्ननाश तथा कान्ता सम्मित उपदेश सम्मिलित हैं। कालिदास, भवभूति आदि को कविता के ही द्वारा आज इतनी ख्याति प्राप्त हुई है। विपुल धन प्राप्ति के भी अनेक उदाहरण हैं। राजादिगत उचित आचार का परिज्ञान काव्य से ही होता है। कविवर मयूर ने सूर्य के स्तोत्र की रचना कर अपने कुष्ट का निवारण किया था। सहृदयों को काव्य भावना से परमानन्द की अनुभूति होती है। उनके हृदय में अलौकिक आनन्दमय रस का उन्मीलन ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है।

इसके अतिरिक्त साहित्य क्षेत्र में काव्य-कला की सर्वाधिक उपादेयता उसके कान्तासम्मित उपदेश में है। उपदेश देने की साधारणतया तीन प्रणालियाँ होती हैं। प्रथम राजाओं की आज्ञा की तरह आज्ञा प्रणाली है। इसमें अक्षरशः आज्ञा का पालन करना पड़ता है। वेदाज्ञा इसी प्रणाली के अन्तर्गत है। 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इसका एक प्रत्यक्ष प्रमाण है। जो इसका उल्लंघन करता है, उसे प्रायश्चित का भागी बनना पड़ता है। प्रभु के समक्ष सेवक

---

1. चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्,
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।
कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्,
आह्लाद्यमृतवत्काव्यमविवेकगदापहाम् ॥—कुन्तक
2. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मितयोपदेश युजे ॥—मम्मट

जिस प्रकार बिना किसी प्रकार के मीन-मेष के उसकी आज्ञा का पालन करता है, उसी प्रकार श्रुति-वाक्यों को हम बिना 'ननु' 'न च' किये ही स्वीकार करते हैं।

उपदेश देने की दूसरी प्रणाली मित्रों की बातचीत के समान इतिहास-पुराणादि की प्रणाली है। मित्र अपने मित्र को कुमार्ग से हटाने तथा सुमार्ग पर चलाने के निमित्त दोनों मार्गों के गुण-दोषों का विवेचन करता है। इतिहास-पुराण भी इसी प्रकार हमारे समक्ष अपना भव्य उपदेश रख देते हैं कि सन्मार्ग पर चलने का फल होता है कल्याण तथा कुमार्ग पर चलने का परिणाम होता है अमंगल। वह मित्र के समान उपदेशक होता है, आग्रही नहीं। 'येनेष्टं अधिकारी तेन गम्यताम्' उसकी मान्य-नीति होती है।

उपदेश देने की तीसरी प्रणाली कान्ता के कमनीय उपदेशों की है। इसकी दशा उपरिलिखित दोनों प्रणालियों से विलक्षण होती है। इसमें कान्ता न आग्रह करती है, न उपदेश देती है, प्रत्युत रसमय वाक्यों द्वारा अपने प्रियतम का हृदय अपनी ओर बरबस खींच लेती है जिससे वह उसकी इच्छा की पूर्ति अवश्य ही कर देता है। कविता भी इसी प्रकार अपने भावों से प्रभावित कर अनायास ही आचरण कराने में समर्थ होती है। अतः कविता मनोवैज्ञानिक ढंग से उपदेश देने की एक मात्र उत्तम प्रणाली है।

काव्य में शब्द और अर्थ गौण रूप से विराजते हैं और प्रधान होता है रसांगभूत व्यापार। इसी के फलस्वरूप इसमें परम चमत्कारमय रस की उत्पत्ति होती है जिससे सहृदयों के हृदय में अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। छात्रों को इसी का अनुभव करने के योग्य बनाना ही कविता पढ़ाने का एक मात्र उद्देश्य होना चाहिए। केवल वाच्यार्थ का बोध कराना ही पर्याप्त नहीं है अपितु व्यंग्यार्थ एवं नवरसों की अभिव्यक्ति द्वारा ही 'सद्यः परनिर्वृत्तिः' को ही कविता के अध्ययन-अध्यापन का मुख्य उद्देश्य मानना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कविता शिक्षण के निम्नलिखित उद्देश्य हैं—

1. संस्कृत कविता के प्रति छात्रों की रुचि को बढ़ाना।

2. छात्रों में संस्कृत कविता का भाव समझने, उसका रस लेने तथा अपने शब्दों में उसकी व्याख्या करने की शक्ति उत्पन्न करना।

3. काव्यगत शब्दार्थ के सौन्दर्य की परख करने के योग्य बनाना।

4. किसी कवि के किसी विशेष भाव (प्रकृति वर्णन, शृंगार वर्णनादि) का रस लेने की छात्रों में क्षमता उत्पन्न करना।

5. कवि की शैली एवं उसके जीवन दर्शन से परिचित कराना।

6. छात्रों को कविता करने के लिए उत्साहित करना।

7. छात्रों को कविता की विभिन्न शैलियों से अवगत कराना।

8. कविता के अन्तर्गत शब्द-योजना के आधार पर दृश्य चित्रों का दिग्दर्शन कराना।

9. गति, यति, लय, एवं भावानुसार कविता-पाठ करने की योग्यता उत्पन्न करना।

10. छात्रों में उदात्त गुणों का विकास करना।

छात्रों की मानसिक अवस्था, अभिरुचि, प्रवृत्ति तथा भाषाज्ञान के आधार पर कविताओं को निम्नलिखित तीन भागों में विभक्त कर लिया जाय— प्रारम्भिक कक्षाओं के लिए केवल लयदार सरल संस्कृत श्लोक, माध्यमिक कक्षाओं के लिए उपदेशात्मक एवं वर्णनात्मक श्लोक तथा उच्च कक्षाओं के लिए भावात्मक और साहित्यिक कविताएँ। प्रथम श्रेणी के लिए ऐसी कविताओं का चयन किया जाय जिनमें प्रयुक्त शब्द सरल हों, जिनका उच्चारण सरलता से किया जा सके तथा जो लयपूर्वक सरलता से गायी जा सकें। यथा,

मूकं करोति वाचालं पंगु लंघयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥
अखण्ड-मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परमब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम्॥
दुर्जनः प्रियवादी च नैतद् विश्वासकारणम्।
मधुतिष्ठति जिह्वाग्रे हृदये तु हलाहलम्॥

मध्यम श्रेणी के छात्रों के लिए ऐसी कविताओं का संग्रह हो जो देशभक्ति, दया, उत्साह, शौर्यादि भावों को जागरित करने वाले हों क्योंकि इस श्रेणी के

उपयुक्त कविताओं का चयन

छात्र किशोरावस्था के अटपटे मार्ग से गुजर रहे होते हैं। उनमें भावुकता अधिक होती है। अतः उनके लिए ऐसी कविताओं का चयन किया जाय जो उनकी भावनाओं को उचित दिशा दे सकें और उनका मार्ग-दर्शन कर सकें। ऐसी कविताओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ॥1॥

सहसा विदधीत न क्रिया—
मविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणम्,
गुण लुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥2॥

पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यं निगूहति गुणान् प्रकटी करोति।
आपद्गतं च न जहाति ददातिकाले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥3॥

मानव हृदय के गूढ़ रहस्यों से पूर्ण कविताएँ साहित्यिक होती हैं। उनका चयन उच्च कक्षाओं के लिए किया जाना चाहिए। इनकी झंकारों से छात्र-मन-मयूर आत्मविभोर हो नाच उठेगा। फलतः इनका उनके हृदय पर अमिट प्रभाव पड़ेगा। ऐसी कविताओं का चयन सावधानी से किया जाय। एक पाठ्य-पुस्तक विभिन्न प्रकार के कविता-कुसुमों का संग्रह हो तो वह अपने विविध रंगों और गन्धों के कारण छात्र-हृदय को अवश्य ही आकृष्ट कर लेगी और वे चंचल भौरों की भाँति उनका रसास्वादन करने के लिए मंडराने लगेंगे। ऐसी कविताओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

पश्चात् पुच्छं वहति विपुलं तच्च धूनोत्यजसं,
दीर्घग्रीवः स भवति, खुरास्तस्य चत्वार एव।
शष्पाण्यत्ति प्रकिरति शकृत्पिण्डकान, आस्रमात्रान्,
किं वाऽऽख्यातैः व्रजति स पुनर्दूरमेह्यो हि यामः ॥1॥

एते रुदन्ति हरिणा हरिणं विमुच्य,
हंसाञ्च शोकविधुराः करुणं रुदन्ति ।
नृत्तं त्यजन्ति शिखिनोऽपि विलोक्य देवीं,
तिर्यग्गता वरममी न परं मनुष्याः ॥2॥

तथा समक्षं दहता मनोभवं,
पिनाकिना भग्नमनोरथा सती ।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती,
प्रियेषु सौभाग्य फला हि चारुता ॥3॥

कविता-पाठ

कविता पाठ करने की भी एक कला होती है जो जन्मजात होती है। कवि लोग उसी कविता-पाठ की प्रशंसा करते हैं जो ललित, काकुयुक्त, स्पष्ट तथा अर्थानुसार पद-परिच्छेद युक्त हो और जिसमें कान को सुख देने वाले अलग-अलग वर्णों का विन्यास[1] हो। इसके अतिरिक्त सुन्दर कविता-पाठ की चार[2] और विशेषताएँ हैं जो इस प्रकार हैं—गम्भीरता, अनिष्ठुरता, तार और मन्द्र स्वरों का निर्वाह तथा संयुक्त-वर्ण-लावण्य। गम्भीरता के अभाव में स्वर भाँय-भाँय करने लगता है जो कानों को कष्ट प्रद होता है। अतः कविता-पाठ करते समय स्वरों में सान्द्रता अवश्य होनी चाहिए। अनिष्ठुरता से हमारा तात्पर्य स्वरों की कोमलता से है जिसके कारण वे कानों को सुखद एवं प्रिय जान पड़ें। जहाँ तक तीसरी विशेषता का प्रश्न है, किसी कविता के पढ़ने में पहले जिस स्वर को आरम्भ करे, उसका अन्त तक निर्वाह करे। दोनों स्वरों (तार एवं मन्द्र स्वर) का मिश्रण कर अपने पाठ को दोषपूर्ण न बनाये। संयुक्त-वर्ण-लावण्य का अर्थ है संयुक्त-वर्ण-सौन्दर्य। अनेक वर्णों के संयोग से तैयार वर्णों का उच्चारण साधारणतया कठिन होता है। अतः उनका उच्चारण इस ढंग से किया जाय जिससे उनमें सुन्दरता आ जाय। पाणिनीय शिक्षा में भी अच्छे पाठक के गुणों का उल्लेख है जिसका उल्लेख पठन-शिक्षण एवं उच्चारण-शिक्षण नामक पाठों में किया जा चुका है।

---

1. ललितं काकुसमन्वितमुज्ज्वलमर्थवशकृतपरिच्छेदम् ।
श्रुति-सुख-विविक्त-वर्णं कवयः पाठं प्रशंसन्ति ॥—काव्य मीमांसा
2. गम्भीरत्वमनैष्ठुर्यं निर्व्यूढिस्तारमन्द्रयोः ।
संयुक्त वर्णलावण्यमिति पाठ गुणाः स्मृताः ॥—काव्यमीमांसा अ० 7

कविता-पाठ[1] की उसी समय प्रशंसा होती है जब कि पाठ करते समय विभक्तियाँ स्फुट हों, समासों का अर्थाभिव्यक्ति की दृष्टि से स्पष्ट उच्चारण किया गया हो तथा पद-सन्धियाँ अलग-अलग जान पड़ें। यह उसी समय संभव हो सकता है जब कि न तो पृथक्-पृथक् पदों का एक साथ उच्चारण किया जाय, न समस्त पदों को पृथक् किया जाय और न क्रिया-पदों का ऐसा उच्चारण किया जाय कि वे मलिन जान पड़ें। इन नियमों का पालन करने पर ही कविता-पाठ की प्रशंसा होती है और पाठक यशस्वी बनता है।

समस्त पदों को पृथक्-पृथक् कर पढ़ने से जो अनर्थ होता है उसका उदाहरण निम्नलिखित कथा में इस प्रकार मिलता है—

कहा जाता है कि एक कथावाचक थे जो जन्मान्ध थे, पर रामायण की कथा बड़े ही रोचक ढंग से कहा करते थे। उन्होंने श्लोकों के पढ़ने का भार अपने किसी शिष्य को सौंप रखा था। शिष्य श्लोकों को पढ़ता जाता था और कथावाचक महोदय उनको व्याख्या कर श्रोताओं को अपनी ओर आकर्षित किया करते थे। कथा-समाप्ति पर उन्हें पर्याप्त दक्षिणा मिला करती थी परन्तु अपनी अर्थ-लोलुपता के कारण वे शिष्य को इसका बहुत थोड़ा-सा अंश दिया करते थे। शिष्य इससे असन्तुष्ट हो गया और अपने गुरु को छकाने का अवसर ढूँढ़ने लगा। एक दिन जब कथा खूब जमी हुई थी तो वह जोरों से पढ़ उठा 'दशरा-मशरा।' व्यास जी इसका अर्थ न लगा सके। उन्होंने समझ लिया कि दाल में काला है। अतः उस दिन उन्होंने श्रोताओं को किसी प्रकार समझा-बुझा कर विदा किया और अपने शिष्य को बुलाकर कहा कि आज से कथा में जो कुछ भी दक्षिणा स्वरूप मिलेगा उसमें आधा तेरा हिस्सा रहेगा और आधा मेरा। शिष्य इससे सन्तुष्ट हो गया और दूसरे दिन उसने ठीक ढंग से पढ़ा—दश-राम-शराः। फलतः व्यास जी ने भी इसकी सही-सही व्याख्या की जिससे श्रोता बड़े प्रसन्न हुए और व्यास जी की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

---

1. **विभक्तयः स्फुटा यत्र, समासाश्चाकदर्थिताः।**
   अम्लानः पदसन्धिश्च, तत्र पाठः प्रतिष्ठितः॥
   न व्यस्तपदयोरैक्यं न भिदा तु समस्तयोः।
   न चाख्यातपदम्लानिं विदधीत सुधीः पठन्॥—काव्य मीमांसा अ० 7

कविता-पाठ रसानुकूल होना चाहिए। जिस रस की कविता हो, उसी के अनुकूल स्वर में उसका पाठ भी किया जाना चाहिए। यथा विप्रलम्भ शृङ्गार की कविता को सदैव मन्द्र स्वर में तथा वीर रस पूर्ण कविता को उच्च स्वर में पढ़ना चाहिए। विरह वेदना से पीड़ित कोई नायिका अपनी सखी से कहती है कि,

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिशानिशं बाला॥

इस श्लोक का आनन्द इसे मन्द्र स्वर में ही पढ़ने में आ सकता है। इसी प्रकार निम्नलिखित सवैया पढ़ने से भी आनन्द का स्रोत उमड़ सकता है जिसे महाकवि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बड़े ही प्रेम से पढ़ा करते थे—

अति सूधो सनेह को मारग है, तहँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तुम कौन सी पाटी पढ़े हो लला, मन लेत हो देत छटाँक नहीं॥

इसके ठीक विपरीत वीर रस पूर्ण कविताओं का सदैव उच्च स्वर में पाठ करने से आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। उत्तररामचरित में वर्णित लव की वीरता एवं उसकी वीरजनोचित आकृति से सम्बद्ध निम्नलिखित श्लोक को जब तक ऊँचे स्वर में नहीं पढ़ा जायेगा तब तक श्लोक का चमत्कार स्फुट रूप से अभिव्यक्ति नहीं होगा।

दृष्टिस्तृणीकृत जगत्त्रय सत्वसारा,
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम्।
कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुतां दधानः;
वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव॥

भूषण के ऊँचे स्वरों में बड़े उमंग तथा जोश के साथ अपनी ओजपूर्ण अधोलिखित कविता को पढ़कर शिवा जी को सुनाने पर ही उन्हें शिवा जी ने पुरस्कृत किया था। उन्होंने इस कविता को उनके मुख से बावन बार सुना और प्रसन्न होकर उन्हें बावन गाँव, बावन हाथी और बावन लाख रुपये दिये।

इन्द्र जिमि जम्भ पर, वाड़व सुअम्ब पर,
रावण सदम्भ पर रघुकुल राज है।
पवन वारि वाह पर, सम्भु रति नाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है।

दावा द्रुम दंड पर चीता मृगझुंड पर,
भूषण वितुण्ड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों म्लेच्छ वंश पर शेर शिवराज है॥

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में भारत के विभिन्न भागों में लोगों द्वारा कविता-पाठ किये जाने का बड़ा ही रोचक वर्णन किया है। ऐतिहासिक एवं भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इस वर्णन का बड़ा ही महत्त्व है। इससे उस समय की कविता-पाठ-परम्परा का परिचय भलीभाँति हो जाता है। काशी के पूरब के कवि संस्कृत कविता का पाठ बड़े ही मनोहर ढंग से करते थे। गुजरात के लोग संस्कृत द्वेषी होते थे। ये लोग संस्कृत शब्दों के इकार और उकार के स्थान पर अकार का उच्चारण करते थे। काश्मीर के कवियों का संस्कृत श्लोकों का पाठ अच्छा नहीं होता था। वह इतना कर्ण कटु होता था कि मानो कोई गुरुच का रस कानों में उड़ेल रहा हो। गिलगिट प्रान्त के निवासी संस्कृत शब्दों का सदैव सानुनासिक[1] पाठ किया करते थे। दक्षिण भारत के लोग (कर्णाट देश[2] के निवासी) हर तरह की संस्कृत कविता का पाठ गर्व पूर्वक जोशीले स्वरों में टंकार के ही साथ करते थे। उत्तर प्रदेश के निवासियों का कविता-पाठ[3] इतना मधुर होता है कि मानों वे श्रोताओं के कानों में मधु की धारा उड़ेल रहे हों। आज भी काशी निवासी पण्डितों का संस्कृत का उच्चारण शुद्ध, सुन्दर, मनोहर तथा आदर्श माना जाता है।

कविता-शिक्षण इतना सरल नहीं है जितना कि कुछ लोग समझ बैठे हैं। इसका शिक्षण तो प्रेम करने के सदृश है। प्रत्येक अध्यापक को इसे अपने ढंग से

---

1. ततः पुरस्तात् कवयो ये भवन्त्युत्तराषथे।
ते महत्यपि संस्कारे सानुनासिक पाठिनः॥ काव्य मीमांसा अ० 7

2. रसः कोप्यस्तु काप्यस्तु रीतिः कोप्यस्तु वा गुणः।
सगर्वं सर्वकर्णाटाः टंकारोत्तरवादिनः॥ वही।

3. मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानां,
सम्पूर्ण वर्णरचनो यतिभिर्विभक्तः।
पाञ्चालमण्डलभुवां सुभगः कवीनां,
श्रोत्रे मधुक्षरति किञ्चन काव्यपाठः॥ वही।

काव्यानन्द के तत्त्व

करना चाहिए। इसके वास्तविक आनन्द को अभिव्यक्ति सौन्दर्य, भाव-सौन्दर्य तथा विचार-सौन्दर्य इन तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम में नाद, मूर्छना आदि का सौन्दर्य होता है। इसके अन्तर्गत अनुप्रास, उपमा उत्प्रेक्षा, रूपक आदि के द्वारा वस्तु-व्यापार की अभिव्यक्ति होती है। दूसरे में लज्जा, शोक, उत्साह, वात्सल्य आदि का वर्णन होता है। तीसरी कोटि की कविताएँ उच्च कक्षाओं के लिए उपयुक्त होती हैं। नीति-साहित्य की रचनाएँ प्रायः इसी कोटि की होती हैं। वैसे तो सभी कविताओं में ये तत्त्व विद्यमान रहते हैं किन्तु प्रधानता केवल किसी एक विशेष तत्त्व की ही होती है जिसकी ओर बालकों का ध्यान आकर्षित करना अध्यापकों का मुख्य कर्त्तव्य होना चाहिए।

रसास्वादन के प्रमुख सिद्धान्त

रसास्वादन करने की क्षमता विभिन्न व्यक्ति में विभिन्न प्रकार की तथा विभिन्न मात्रा में होती है। अतः सबमें एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न हो सकती है। एतत्संबंधी क्षमता शिक्षण और अभ्यास के द्वारा बढ़ायी जा सकती है। इसके लिए सर्वप्रथम कविता का प्रभावोत्पादक परिचय दे कर उसके प्रति इतना कुतूहल उत्पन्न कर दिया जाय कि उसे सुनने के लिए छात्र स्वयं उत्सुक हो जायँ किन्तु कठिन शब्दों, दुरूह विचारों तथा अधिक विश्लेषण पर बल न दिया जाय क्योंकि ऐसा करने से रसास्वादन में बाधा उत्पन्न होती है। उचित प्रश्नों, व्याख्या, तुलना, विरोध आदि से विचारों, भावों, कल्पनाओं और शब्द चित्रों को व्यवस्थित किया जाय। कक्षा का वातावरण इस प्रकार का तैयार किया जाय जिसमें छात्र आनन्द का अनुभव करें और स्वाभाविक रूप से बात-चीत करने की स्थिति में आ जायँ। वे यथा सम्भव सरस पंक्तियों को दुहरायें। ऐसा करने से रसास्वादन को बड़ा बल मिलता है। बालक अपनी रुचि के अनुसार अच्छी-अच्छी कविताएँ कण्ठस्थ करें और समय-समय पर उनका सुपाठ करें। इसके लिए अन्त्याक्षरी सर्वोत्तम साधन है। अभिव्यक्ति होने से रसानुभूति की पुष्टि होती है। विचार विनिमय, समालोचना, सस्वर सुपाठ, व्याख्या, चित्र रचना, तुकान्त शब्दों को ढूँढ़ना, पद्य रचना करना, उपयुक्त उपमान बतलाना आदि अभिव्यक्ति के प्रमुख साधन हैं। कविता की तुकान्त योजना, पंक्ति का अन्त्यानुप्रास तथा वर्णवृत्तों के गुरु-लघु-क्रम के संगीत का रसास्वादन में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

पद्य का क्षेत्र गद्य से भिन्न है। इसकी अपेक्षा गद्य नीरस एवं संगीत-हीन होता है। अतः यह उतना रुचिकर नहीं होता जितना कि पद्य। गद्य की शिक्षा

एक नियमित यंत्र के समान होती है, जिसमें वास्तविक आनन्द का अभाव रहता है। पद्य द्वारा गूढ़ से गूढ़ विषय भी थोड़े समय में स्मरण किये जा सकते हैं। हमारे प्राचीन आचार्य इस बात से भली-भाँति परिचित थे और यही कारण है कि बाह्य आक्रमणों की लहरों के थपेड़ों के मध्य पड़ने पर भी हमारा सम्पूर्ण ज्ञान पद्यमय तथा कवितामय होने के कारण संचित रहा। मनुष्य स्वभाव से ही प्रयत्न-लाघव का प्रेमी होता है। अतः कुछ तो पद्य की मधुरता ने तथा कुछ उसके लघु स्वरूप ने मानव-हृदय तथा मस्तिष्क को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। पद्य में बहुत बड़ी बातें भी थोड़े शब्दों में कही जाती हैं किन्तु गद्य में उन्हीं विचारों की अभिव्यक्ति के लिए अधिक शब्दों की आवश्यकता होती है। पद्य का आविर्भाव गद्य से पहले हुआ, यह निर्विवाद है। संस्कृत साहित्य में तो इस प्रकार का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि इसका आदि ग्रन्थ ऋग्वेद छन्दोबद्ध है। ऋक् शब्द का अर्थ ही छन्द है। अतः इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मानव कविता का आदि काल से ही प्रेमी रहा है। कविता छन्दोमय एवं रागमय होती है। संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो रोना या गाना न जानता हो। कविता रागमय होने के कारण उसके अन्तःकरण से निकटतम सम्बन्ध स्थापित करती है और इस तरह उसके हृदय को कवितामय बना देती है। वह इसके कारण एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव करता है जिसका वर्णन करना कठिन है।

पद्य-शिक्षण एवं गद्य-शिक्षण में अन्तर

गद्य-पाठों का उद्देश्य भाषा सिखाना है। भाषा कविता का भी माध्यम है और कविता के पठन-पाठन से भाषा-ज्ञान की वृद्धि भी होती है किन्तु कविता पढ़ाने का लक्ष्य भाषा सिखाना नहीं है। कविता-अध्ययन का लक्ष्य एक विशेष आनन्द की प्राप्ति है जिसकी खोज अध्यापक और छात्र मिल कर करते हैं। इसी आनन्द की उपलब्धि ही कविता-शिक्षण का मुख्य उद्देश्य है। कविता-पाठ में अर्थ, व्याख्या आदि कार्य अवश्यक होते हैं और घटना-व्यापार, वैज्ञानिक सत्य, पशु-पक्षी-स्वभाव, अन्तः कथाओं आदि के वर्णन की भी आवश्यकता होती है, पर ये सब बातें गौण होती हैं। कविता शिक्षण का एक मात्र उद्देश्य रसानुभूति ही है। अतः अध्यापक को उपर्युक्त कार्यों में यथोचित समय लगा कर रसानुभूति की ही ओर अग्रसर होना चाहिए।

गद्य-पाठ को हम सुविधापूर्वक विभिन्न अन्वितियों में बाँट लेते हैं किन्तु कवि की अनुभूति के अखण्ड होने के कारण हमें कविता को यथासम्भव एक ही

अन्विति में पढ़ाना चाहिए। यदि लम्बी कविताओं को अन्वितियों में विभक्त करने की आवश्यकता हो पड़े तो उन्हें इस प्रकार विभक्त किया जाय जिससे प्रत्येक अन्विति अर्थ एवं भाव की दृष्टि से पूर्ण हो। कविता शिक्षण में मौन-पाठ का कोई स्थान नहीं है क्योंकि कविता प्रायः कान का ही विषय है, आँख का नहीं। वह नाद है, लिपिबद्ध विचारधारा नहीं।

कविता-पाठों के संचालन के लिए निम्नलिखित सोपानों का अनुसरण किया जाय—

1. प्रारम्भिक सामान्य बातें, यथा दिनांङ्क, कक्षा, कालांश, विषयादि।
2. सामान्य उद्देश्य।
3. मुख्य उद्देश्य।
4. सहायक-सामग्री।
5. पूर्व-ज्ञान।
6. प्रस्तावना—कतिपय प्रश्नों द्वारा, कवि का संक्षिप्त परिचय देकर, समानार्थक संस्कृत कविता अथवा मातृभाषा की किसी समान भाव वाली कविता का पाठ करके और उस पर प्रश्न पूछ करके अथवा कविता सम्बन्धी चित्र उपस्थित कर कविता की प्रस्तावना की जा सकती है।
7. उद्देश्य कथन।
8. विषयोपस्थापन—

क—पाठ्य-सामग्री का संकेत।

ख—शिक्षक द्वारा सम्पूर्ण पाठ्य-सामग्री का सस्वर एवं सुस्वर वाचन।

ग—अनुवाचन।

घ—अनुकरण वाचन।

ङ—केन्द्रीय भावग्रहण की परीक्षा।

9. स्पष्टीकरण—अन्वय, पदच्छेद अथवा पदार्थ-कथन द्वारा छात्रों की कठिनाइयों का निवारण। सूक्ष्म विश्लेषणात्मक प्रश्न।
10. आस्वादन की अभिव्यक्ति।

क—छात्रों द्वारा पूरी कविता का सस्वर एवं सुस्वर पाठ।

ख—सरल विवेचन तथा तुलनात्मक कविताओं का पठन।

11. प्रयोग-छात्रों को कण्ठस्थ कराना, प्रस्तावित कविता का मातृभाषा में भावानुवाद कराना, अन्वय लिखाना आदि।

शिक्षक द्वारा सुपाठ

कभी-कभी कविता के सम्बन्ध में कुछ प्रारम्भिक वक्तव्य देने अथवा बात-चीत करने की आवश्यकता पड़ती है। अतः ऐसा करते समय केवल अत्यन्त आवश्यक बातें ही कही जायँ। कविता के परिचय को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उसे सर्वप्रथम अच्छी तरह पढ़ कर सुना दिया जाय। ऐसा करते समय उच्चारण सम्बन्धी नियमों का पालन अवश्य किया जाय। इसके लिए 'वर्णोत्पत्ति एवं शुद्धोच्चारण' वाले पाठ का विधिवत् अध्ययन विशेष रूप से वाञ्छनीय है। कविता-पाठ की दो पद्धतियाँ हैं—छन्दानुगत पद्धति और भावानुगत पद्धति। प्रथम के अनुसार छन्द की गति, यति एवं लय पर विशेष ध्यान दिया जाता है किन्तु कक्षा में गाकर पढ़ना अनुचित है। भावानुगत पद्धति के अनुसार कविता वाचन में यद्यपि भावाभिव्यक्ति करना प्रधान उद्देश्य होता है फिर भी छन्दानुगत पद्धति की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। संगीत तत्त्वों को स्पष्ट करते हुए कविता इस ढंग से पढ़ी जाय और शिक्षक की वाणी एवं भावभंगिमा इस प्रकार की हो कि जिसमें कविता का रस स्पष्ट हो जाय। शृंगार रस की वाणी में प्रेम, हास्य में हास, करुण में शोक, रौद्र में क्रोध, वीर में उत्साह, भयानक में भय, बीभत्स में घृणा, अद्भुत में आश्चर्य, शान्त में निर्वेद तथा वात्सल्य में वत्सलतापूर्ण स्नेह अपेक्षित है। पढ़ते समय अर्थाभिव्यक्ति की रक्षा की जाय। ऐसा करते समय यति-स्थान पर रुकने की अपेक्षा अर्थ-विश्राम पर रुकना आवश्यक है।

प्रथम आस्वादन की जाँच

उपर्युक्त ढंग से कविता सुना लेने के पश्चात् यह जान लेना आवश्यक है कि छात्र किस सीमा तक उसे समझ सके हैं और शिक्षक को किस सम्बन्ध में किस प्रकार का कार्य करना है। अतः कविता के बारे में छात्रों से ऐसे प्रश्न पूछ लिए जायँ जिससे यह ज्ञात हो जाय कि वे तद्विषयक मोटी-मोटी बातें समझ गये हैं। इन्हीं प्रश्नों के आधार पर बालकों की कठिनाइयों का भी आभास हो जायगा। स्थूल से ही सूक्ष्म की ओर अग्रसर होना श्रेयस्कर होता है।

अन्तः कथाओं, साहित्यिक परम्पराओं एवं रुढ़ियों, कठिन शब्दों के रूप आदि सम्बन्धी कठिनाइयाँ छात्रों के समक्ष उपस्थित हो सकती हैं। ऐसे अवसरों

बालकों की कठिनाइयां

पर शिक्षक को इनके सम्बन्ध में अपना वक्तव्य दे देना चाहिए। जो बातें बालक न जानते हों उन्हें उनसे निकलवाने का यत्न नहीं करना चाहिए और जो शिक्षक को बतानी ही हों, उन्हें छात्रों को निःसंकोच बता देना चाहिए। इसमें तनिक भी देर नहीं करनी चाहिए। यह कहा जा चुका है कि भाषा सिखाना कविता का उद्देश्य नहीं है। अतः जहाँ तक सम्भव हो, शब्दार्थ को श्यामपट्ट पर लिखने और शब्दों को वाक्यों में प्रयोग करने की न तो आवश्यकता ही है और न वाञ्छनीय ही। इसमें व्याख्यात्मक युक्तियों का प्रयोग न कर अर्थकथन मात्र कर दिया जाय। श्यामपट्ट पर शब्दार्थ लिखने से बालकों का ध्यान इस ओर अनावश्यक रूप से आकृष्ट हो जाता है। अध्यापक को व्याकरण सम्बन्धी विवेचन में भी नहीं पड़ना चाहिए।

कविता पढ़ाते समय चार प्रकार की सौन्दर्यानुभूति करायी जाती है—विचार, कल्पना, शैली और भाव। इसके लिए अध्यापक को प्रश्नों की ऐसी योजना तैयार करनी चाहिए जिससे उक्त चारों प्रकार की अनुभूतियों के साथ-साथ यदि इनके उत्तरों को शृंखला-बद्ध कर दिया जाय तो कविता की एक सुन्दर सुसम्बद्ध व्याख्या तैयार हो जाय। यथा,

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

उपर्युक्त श्लोक के सम्बन्ध में अधोलिखित प्रश्न किये जा सकते हैं—अहं किं करोमि ? किं सृजामि ? अहं कदा आत्मानं सृजामि ? आदि। इस प्रकार के प्रश्नों के साथ-साथ कविता की अन्य बातों की ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित किया जाय, यथा, 'अहम्' शब्द का प्रयोग किसके लिए हुआ है ? यह किसकी सृष्टि कर रहे हैं ? ऐसा करने से तुम्हें उनकी कैसी शक्ति का आभास हो रहा है ? वह अपनी सृष्टि कब करते हैं ? आदि। गोस्वामी तुलसी दास जी ने इनके इस कार्य के सम्बन्ध में क्या कहा है ? यदा-तदा तथा धर्म-अधर्म की ओर इनका ध्यान आकर्षित किया जाय। ये प्रश्न लालित्य, भाव, अर्थ, संगीत, अलंकार, भाव-विभावादि के विषय किये जायँ, पर इनका नाम देने की आवश्यकता नहीं है। इन नामों से जिस प्रकार के सौन्दर्य का तात्पर्य हो, उसी की अनुभूति कराना आवश्यक है, जैसे उपर्युक्त श्लोको में यदा-यदा, यदा-तदा,

सूक्ष्म विश्लेषण

धर्मस्य-अधर्मस्य आदि की विशेषता की ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित किया जाय।

रसानुभूति की अभिव्यक्ति

छात्रों द्वारा सम्पूर्ण कविता का सस्वर एवं सुस्वर पाठ, ललित अंशों का चयन, इनके लालित्य पर मौखिक तथा लिखित रूप से प्रकाश डालना, लाक्षणिक एवं प्रतीकात्मक प्रयोगों की विशेषता बताना आदि रसानुभूति की अभिव्यक्ति के साधन हैं। यहाँ पर भी पारिभाषिक शब्दों के नामकरण की आवश्यकता नहीं है। जहाँ तक छात्रों द्वारा सस्वर एवं सुस्वर पाठ किये जाने का प्रश्न है, कविता को पहले अच्छे ही लड़कों से पढ़वाना चाहिए। कमजोर छात्रों से पढ़ने का आग्रह करना उचित नहीं है। छात्रों को पढ़ना सिखाना सरल नहीं है, परन्तु सहानुभूति और धैर्य के साथ कार्य करने से यह कार्य सरल हो जाता है और कमजोर छात्र भी सुचारु रूप से कविता-पाठ करने लगते हैं। छात्रों को ललित पदों को कण्ठाग्र करने, समभावात्मक पंक्तियों को ढूंढ़ने, अन्त्याक्षरी करने, कविता में आये हुए भावों को चित्रित करने आदि के लिए प्रोत्साहित किया जाय।

सारांश

संस्कृत में कविता लिखने का क्रम वाल्मीकि से प्रारम्भ हुआ तथा इसका जन्म तपोवन में हुआ। संस्कृत काव्यों में प्रकृति का सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है। इन काव्यों में गार्हस्थ्य जीवन का सुन्दर वर्णन है जिसमें प्रेम तत्त्व की साधना निहित है। ये काव्य राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत हैं।

उपरिवर्णित पृष्ठभूमि में उत्पन्न कविता के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्यों में मतैक्य नहीं है। कविराज विश्वनाथ ने रस युक्त वाक्य को, आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि को, वामन ने रीति को, पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ को तथा अन्य आचार्यों ने अलंकार को ही काव्य माना है। ये सभी तत्त्व वस्तुतः काव्य के विभिन्न स्वरूप हैं और कविता इन सबका समवाय है।

कविता में अद्भुत शक्ति होती है। इसीलिए कहा जाता है कि जहाँ न जाय रवि, तहाँ जाय कवि। वस्तुतः कवि प्रजापति है। वह अपनी रुचि के अनुसार सम्पूर्ण विश्व की रचना करता है। कवि स्रष्टा होने के साथ-ही-साथ द्रष्टा भी होता है। वह शब्दों के माध्यम से जगत् के रहस्यों की व्याख्या करता है।

कविता करने, पढ़ने तथा पढ़ाने का उद्देश्य चतुर्वर्ग की प्राप्ति है। इससे यश, अर्थ, व्यवहार-कुशलता, शिवेतर की क्षति, सद्यः परनिवृत्ति तथा कान्ता सम्मित उपदेश की प्राप्ति होती है। काव्य में रसांगभूत व्यापार की प्रधानता रहती है। इसी के कारण इसमें परम चमत्कार मय रस की उत्पत्ति होती है जिससे सहृदयों के हृदय में अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। छात्रों को इसी का अनुभव करने के योग्य बनाना ही कविता पढ़ाने का मुख्य उद्देश्य होता है।

छात्रों की मानसिक अवस्था, अभिरुचि, प्रवृत्ति तथा भाषा-ज्ञान के आधार पर निम्न प्रकार की कविताओं का चयन किया जाय—प्रारम्भिक कक्षाओं के लिए केवल लयदार सरल संस्कृत श्लोक, माध्यमिक कक्षाओं के लिए उपदेशात्मक एवं वर्णनात्मक श्लोक तथा उच्च कक्षाओं के लिए भावात्मक और साहित्यिक कविताएँ।

कविता-पाठ करने की भी एक कला होती है जो जन्मजात होती है। सुन्दर कविता-पाठ की गम्भीरता, अनिष्ठुरता, तार और मन्द्र स्वरों का निर्वाह तथा संयुक्त-वर्ण-लावण्य—ये चार विशेषताएँ होती हैं। काव्य-मीमांसा, पाणिनीय शिक्षा, याज्ञवल्क्य शिक्षा आदि ग्रन्थों में इसका सुन्दर विवेचन किया गया है।

कविता-शिक्षण प्रेम करने के सदृश है। प्रत्येक अध्यापक इसे अपने ढंग से करे। कविता से उत्पन्न आनन्द के तीन अंग हैं—अभिव्यक्ति सौन्दर्य, भाव-सौन्दर्य और विचार-सौन्दर्य। ये तत्त्व तो सभी प्रकार की कविताओं में पाये जाते हैं किन्तु प्रधानता केवल किसी एक विशेष तत्त्व की ही होती है, जिसकी ओर बालकों का ध्यान आकर्षित किया जाय। इसके लिए कविता का प्रभावोत्पादक परिचय देकर उचित प्रश्नों, व्याख्या आदि से विचारों, भावों आदि को व्यवस्थित किया जाय। छात्र यथासंभव सरस पंक्तियों को दुहरायें। ऐसा करने से रसास्वादन को बल मिलता है।

पद्य का क्षेत्र गद्य से भिन्न होता है। पद्य सरस एवं संगीतमय होता है, जब कि गद्य नीरस और संगीत-हीन। कविता रागमय होती है जिसके कारण उसका मनुष्य के अन्तःकरण से निकटतम संबन्ध स्थापित हो जाता है। फलतः वह एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव करता है। इसी आनन्द की उपलब्धि कविता-शिक्षण का प्रधान उद्देश्य है।

कविता-शिक्षण को निम्न क्रम से सम्पन्न किया जाय—प्रारंभिक सामान्य बातें, उद्देश्य, सहायक-सामग्री, पूर्व-ज्ञान, प्रस्तावना, उद्देश्य-कथन, विषयो-स्थापन, स्पष्टीकरण, आस्वादन की अभिव्यक्ति तथा प्रयोग।

प्रश्न

1. संस्कृत-कविता-उत्पत्ति की पृष्ठभूमि का विशद विवेचन कीजिए।
2. कविता क्या है—इस संबन्ध में विभिन्न आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए उसकी एक रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए।
3. कवि-शक्ति के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए एक संक्षिप्त लेख लिखिए।
4. काव्य-प्रयोजन की विशद व्याख्या कीजिए।
5. उपयुक्त कविताओं के चयन के सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए प्रत्येक स्तर के लिए उदाहरणस्वरूप कविताओं का उल्लेख कीजिए।
6. कविता-पाठ के गुण-दोषों का विवेचन कीजिए।
7. काव्यानन्द के तत्त्वों की चर्चा करते हुए रसास्वादन के प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
8. गद्य एवं पद्य-शिक्षण के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।
9. कविता-पाठ-संचालन संबन्धी विभिन्न सोपानों का विशद विवेचन कीजिए।

सहायक-पुस्तकें

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास—आचार्य बलदेव उपाध्याय।
2. उत्तर रामचरित—भवभूति।
3. काव्यालंकार—भामह।
4. काव्यादर्श—दण्डी।
5. काव्यालंकार सूत्र—वामन।
6. ध्वन्या लोक—आनन्दवर्धन।
7. काव्य प्रकाश—मम्मट।
8. रसगंगाधर—पण्डितराज जगन्नाथ।
9. साहित्य दर्पण—विश्वनाथ कविराज।
10. कवि रहस्य
11. काव्य मीमांसा

अध्याय 18

संस्कृत कविता शिक्षण भाग (2)

कविता शिक्षण की विभिन्न प्रणालियाँ प्रचलित हैं जो इस प्रकार हैं—दण्डान्वय प्रणाली, खण्डान्वय प्रणाली, गीत प्रणाली, अभिनय अथवा नाट्य प्रणाली, व्याख्या प्रणाली, अर्थ-बोध-प्रणाली, व्यास प्रणाली, तुलना प्रणाली तथा समीक्षा प्रणाली।

दण्डान्वय प्रणाली

श्लोक के अर्थ का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी स्वयं अथवा अध्यापक की सहायता से सर्वप्रथम कविता में प्रधान वाक्य को ढूँढ़ता है और इस प्रकार कर्त्ता, क्रिया और कर्म का ज्ञान प्राप्त करता है। इनके पता लगाने की क्रिया को ही दण्डान्वय कहते हैं। संस्कृत कविता शिक्षण में अन्वय का विशेष स्थान है। इससे श्लोकार्थ को समझने में सुविधा होती है। अन्वय[1] दो प्रकार के होते हैं—दण्डान्वय और खण्डान्वय। सम्पूर्ण श्लोक को एक पूर्ण वाक्य में बदल देना ही दण्डान्वय कहलाता है। दण्ड का अर्थ है गाँठों वाला दण्डा। दण्ड वाक्य का द्योतक है। अन्वय प्रबोध में दण्डान्वय की परिभाषा इस प्रकार की गयी है—

आद्ये विशेषणां योज्यं विशेष्यं तदनन्तरम्।
क्त्वाणमुल्ल्यप्प्रभृत्येवं पूर्वं दण्डान्वये भवेत॥

अर्थात् दण्डान्वय करते समय सर्वप्रथम विशेषण को ढूँढ़ कर उसके पश्चात् विशेष्य को जोड़ देना चाहिए। इसके अनन्तर 'कत्वाणमुल्, ल्यप्, आदि प्रत्ययों को ढूँढ़ा जाता है। इस प्रकार प्रधान वाक्य को ढूँढ़ कर उसके आश्रित वाक्यों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इस तरह सम्पूर्ण पद को एक वाक्य में बदलना ही दण्डान्वय पद्धति है—यथा निम्नलिखित श्लोक का दण्डान्वय इस प्रकार है—

---

1. 'दण्डवत् खण्डवच्चैव द्विभेदोऽन्वय उच्यते'—अन्वय प्रबोध।

नैनं छिन्दति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

दण्डान्वय--शस्त्राणि एनं न छिन्दन्ति, पावकः एनं न दहति, आपः एनं न क्लेदयन्ति, मारुतः (एनं) न शोषयति च । इस पद्धति के अन्तर्गत बालकों से इस प्रकार के प्रश्न पूछे जाते हैं कि इस श्लोक में कर्ता कौन है, कर्म कौन है तथा क्रिया कौन सी है । इन प्रश्नों का संबंध व्याकरण से होता है। अतः वे नीरस होते हैं जिसके फलस्वरूप कविता की सरसता ही नष्ट हो जाती है। इसलिए कविता शिक्षण में इस प्रणाली का प्रयोग न किया जाय, तो अच्छा है ।

अन्वय करने की दूसरी पद्धति खण्डान्वय पद्धति है । इसमें भी दण्डान्वय पद्धति की भाँति सर्वप्रथम प्रधान वाक्य को ढूंढ़ा जाता है । किन्तु जहाँ तक श्लोक के शेष अंश के ज्ञान का प्रश्न है, यह पद्धति दण्डान्वय पद्धति से भिन्न है । खण्डान्वय पद्धति के अनुसार उचित संस्कृत प्रश्नों द्वारा श्लोकान्तर्गत कर्त्ता[1], कर्म, क्रिया, विशेषण आदि का बोध कराया जाता है । ये प्रश्न मुख्य रूप से पाठ्य-विषय पर ही आधारित होते हैं और वे व्याकरण संबंधी न होकर साहित्यिक अर्थ रखते हैं । श्लोक में प्रयुक्त विभिन्न शब्दों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए निम्न प्रकार के प्रश्न पूछे जाने चाहिए—

खण्डान्वय पद्धति

संज्ञा तथा सर्वनाम का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कः कम्, केन्, कस्मै आदि का प्रयोग कर प्रश्न पूछे जायँ । विशेषणों की जानकारी के लिए कीदृश, कथम्भूत, किम्भूत आदि शब्दों का प्रयोग कर प्रश्न पूछा जाय । किं करोति, कुरुतः, कुर्वन्ति आदि का प्रयोग कर, तथा कदा, कुत्र, कथम्, किमर्थम्, कुतः आदि का प्रयोग कर क्रमशः क्रिया और क्रियाविशेषणों का ज्ञान प्राप्त किया जाय । खण्डान्वय प्रणाली का प्रयोग प्रायः उन पद्यों के पढ़ाने में किया जाय जिनमें विशेषणों की भरमार तथा भावों की अधिकता हो और प्रत्येक अंश को पृथक् किये बिना अर्थ स्पष्ट करने में बाधा उत्पन्न होती हो । यथा,

---

1. **कर्तृकर्मक्रियास्तावच्छ्लोके योज्यास्ततः परम् ।**
किमो रूपं पुरस्कृत्य तृतीयादि नियोजयेत् ॥
ल्यवन्तं च तुमन्तं च क्त्वान्तं कर्मविभूषितम् ।
खण्डान्वये पुनः प्रश्नंपूर्वमन्ते प्रयोजयेत् ॥ अन्वय प्रबोध

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ।।

इस श्लोक को इस रीति से पढ़ाने के लिए निम्नलिखित प्रश्न किये जायँ—

प्र०—अथ प्रजानामधिपः कां मुमोच ?

उ०—धेनुम् ।

प्र०—कस्य धेनुम् ?

उ०—ऋषेः ।

प्र०—कीदृशीं धेनुम् ?

उ०—जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् । पितावद्धवत्साम् च ।।

प्र०—किम् अर्थम् ?

उ०—वनाय गन्तुम् ।

प्र०—कदा ?

उ०—प्रभाते ।

प्र०—कीदृशः अधिपः ?

उ०—यशोधनः ।

इससे स्पष्ट है कि खण्डान्वय प्रणाली प्रश्नोत्तर प्रणाली का ही एक अंग है । यह पद्धति मीमांसा शास्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित है जिसके अनुसार आकांक्षा[1], योग्यता और सन्निधि का ज्ञान वाक्यार्थ के लिए आवश्यक है । उदाहरणस्वरूप 'रामोघटमानयति' में 'आनयति' शब्द के अभाव में क्रिया के जानने की इच्छा स्वतः उत्पन्न होती है और स्वाभाविक रूप से "किं करोति रामः", यह प्रश्न उठता है । आकांक्षा की पूर्ति उस समय होती है जब 'आनयति' क्रिया का प्रयोग होता है । आकांक्षा के अतिरिक्त योग्यता का होना भी आवश्यक है, यथा 'अग्निना सिंचति' का अर्थ योग्यतानुकूल नहीं है क्योंकि अग्नि से सींचना अस्वाभाविक एवं असम्भव है । पदों का अविलम्ब उच्चारण करना ही सन्निधि है । यदि किसी वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द का उच्चारण उचित

---

1. पदस्य पदान्तर व्यतिरेक प्रयुक्तन्वयाननुभावगत्वमाकांक्षा, अर्थाबाधो योग्यता,
पदानामविलम्बेनोच्चारणं संनिधिः । तर्कसंग्रह ।

समय के अन्तर पर न किया जाय तो वाक्य का, आकांक्षा और योग्यता रहने पर भी कोई अर्थ न होगा। अतः वाक्यार्थ के ज्ञान के लिए इन तीनों का होना आवश्यक है। प्रश्नोत्तर प्रणाली का उद्गम स्थान आकांक्षा ही है और इस तरह खण्डान्वय पद्धति मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है।

खण्डान्वय पद्धति दण्डान्वय पद्धति की अपेक्षा उत्तम है। यह पद्धति विद्यार्थियों की मनोवृत्ति के अनुकूल है। इसमें प्रश्नों के कारण पाठ के अन्त तक विद्यार्थियों की आकांक्षा जागरित रहती है। यह पद्धति व्यक्तिगत शिक्षण की अपेक्षा सामूहिक शिक्षण के लिए अधिक उपयोगी है। इस पद्धति के अनुसार सूक्ष्म से सूक्ष्म बात भी विद्यार्थी के समक्ष आ जाती है और वह उन्हें आसानी से आत्मसात् कर लेता है। दण्डान्वय पद्धति के अनुसार किया गया अन्वय पद्य की सुन्दरता को प्रायः नष्ट कर देता है, जबकि खण्डान्वय पद्धति के अन्तर्गत प्रश्न पद्यगत भावों को स्वयं प्रगट कर देते है और इस तरह विद्यार्थी तद्गत सौन्दर्य को स्वतः समझ लेते हैं।

अर्थ-बोध-प्रणाली को परम्परागत प्रणाली कहते हैं। इस प्रणाली के अनुसार किसी श्लोक को अध्यापक या तो स्वयं पढ़ कर उसका अर्थ बतला देते हैं अथवा छात्रों से उसे पढ़वा कर उन्हीं से उसका अर्थ कहलवा देते हैं। अध्यापक इस प्रणाली को कोर्स समाप्त करने की दृष्टि से अपनाते हैं क्योंकि परीक्षा की दृष्टि से कोर्स को समाप्त करना अत्यन्त आवश्यक होता है। उन्हें कोर्स समाप्त करना ही है इसलिए वे विवश होकर इस प्रणाली की शरण लेते हैं और निर्धारित समय में सम्पूर्ण पुस्तक समाप्त करने के लिए विवश हो जाते हैं। इस तरह वे जल्दी-जल्दी में कविता की हत्या कर देते हैं। यह प्रणाली अत्यन्त दूषित प्रणाली है।

उपर्युक्त पद्धतियों के अतिरिक्त अन्य पद्धतियों का भी कविता शिक्षण में प्रयोग किया जाता है। व्यास प्रणाली भी इनमें से एक है। इसे व्यास प्रणाली न कह कर भाष्य प्रणाली कहना अत्यन्त उचित होगा क्योंकि इस प्रणाली के अनुसार कविता पढ़ाने के लिए अध्यापक को कथावाचक की शैली अपनानी पड़ती है। इसमें प्रत्येक पद को भाषा एवं भाव की दृष्टि से परखना पड़ता है। भाषा की दृष्टि से विचार करते समय अध्यापक को प्रत्येक शब्द के महत्त्व, उसके स्थान पर दूसरा शब्द प्रयोग करने से अर्थ दोष, माधुर्य एवं वाक्य-विन्यास पर पड़े प्रभाव आदि की ओर संकेत करना पड़ता है। भाव की

व्यास अथवा भाष्य प्रणाली

दृष्टि से छात्रों का ध्यान आकर्षित करते समय अध्यापक अन्य उदाहरणों, दृष्टान्तों आदि से उसके भाव को स्पष्ट कर देता है। इस प्रणाली के अनुसार कविता पढ़ाने के लिए अध्यापक का ज्ञान विस्तृत होना चाहिए। उसे एक कुशल अभिनेता भी होना चाहिए। भाव प्रधान कविताओं का अध्यापन करने के लिए यह प्रणाली अत्यन्त उचित है। इस प्रणाली का अनुसरण करने में सारा कार्य अध्यापक ही करता है। छात्र चुपचाप श्रोता का काम करते हैं। अध्यापक कवितागत भावों को अपने अंग-प्रत्यंग से व्यक्त करता रहता है। गीता पर लिखित शंकर भाष्य इस विधि का सर्वोत्तम उदाहरण है, यथा,

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु सः युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

किं पुनस्तत्त्वं कर्मादिर्यवद्दोद्धव्यं वक्ष्यामीति प्रतिज्ञातमुच्यते--कर्मणीति। कर्मणि कर्म क्रियत इति व्यापारमात्रं तस्मिन्कर्मण्यकर्म कर्माभावं यः पश्येदकर्मणि च कर्माभावे कर्तृतन्मत्वात्प्रवृत्तिनिवृत्त्योर्वस्वप्राप्यैव हि सर्वं एवं करकादि व्यवहारेऽविद्याभूमावेव कर्म यः पश्येत्पश्यति स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तो योगी कृत्स्नकर्मकृत्समस्तकर्मकृच्च स इति स्तूयते आदि। तस्मादश्रुत एवार्थः कर्मण्यकर्मेत्यादेः।

उच्च कक्षाओं के लिए यह प्रणाली उपयुक्त है। प्रारम्भिक एवं मध्य स्तर पर इसका प्रयोग वाञ्छनीय नहीं है क्योंकि इन स्तरों पर यह प्रणाली उपयुक्त नहीं हो सकती है। उच्च भावों से युक्त कविताओं के अध्यापन के लिए ही यह प्रणाली उपयोगी है।

तुलना प्रणाली

कविता शिक्षण में तुलना प्रणाली का भी प्रयोग किया जाता है, इसमें अध्यापक प्रस्तुत कविता में व्यक्त भावों के समान भावों वाली कविता को ढूंढ़ कर विद्यार्थियों के समक्ष रखता है। ऐसा करने से छात्रों की विवेचना-शक्ति बढ़ती है और उनके ज्ञान-भाण्डार का विकास होता है। अध्यापक को परिश्रम करके अपने स्वाध्याय के आधार पर इस प्रकार की कविताओं का संग्रह करना चाहिए। इससे कविता पढ़ने में छात्रों की रुचि बढ़ती है और वे एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव करते हैं। यदि कविता संस्कृतेतर भाषा में हुई तो अध्यापक का व्याख्या करने का कार्य सरल हो जाता है और छात्र सुविधापूर्वक तद्गत् भावों को शीघ्रता से समझ लेते हैं—समभावों वाली कविताओं की तीन तरह

से तुलना की जा सकती है—एक ही भाव की एक ही कवि द्वारा विभिन्न स्थलों पर एक ही भाषा में की गई अभिव्यक्ति की तुलना, एक ही भाव की एक ही भाषा में विभिन्न कवियों द्वारा की गयी अभिव्यक्ति की तुलना तथा एक ही भाव की विभिन्न भाषाओं में विभिन्न कवियों द्वारा की गयी अभिव्यक्ति की तुलना। एक ही भाव को विभिन्न स्थलों पर एक ही कवि विभिन्न प्रकार से व्यक्त करता है। इस प्रकार के भावों की तुलना करने से छात्रों के हृदय में उस कवि के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है और वे उस कवि की अन्य कृतियों का अध्ययन करने के लिए लालायित हो उठते हैं। उदाहरणस्वरूप कविकुल गुरु कविवर कालिदास ने राजा दिलीप की नन्दिनी के साथ वन में यात्रा का वर्णन करते हुए शीतल, मन्द एवं सुगन्धित वायु का निम्नलिखित श्लोक में कितना सुन्दर चित्र खींचा है—

पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी।
तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे॥

पहाड़ी झरनों के जल-बिन्दुओं से मिली हुई एवं वृक्षों के हिले हुए फूलों से सुगन्धित वायु ने छत्र रहित, सूर्य के किरणों से संतप्त, सदाचार से शुद्ध उस दिलीप की सेवा की। यहाँ पर वायु पहाड़ी झरनों के जल-विन्दुओं से मिली हुई है, वृक्ष हिल रहे हैं, इसलिए मन्द है और इन वृक्षों के पुष्पों से युक्त है, अतः सुगन्धित है।

इसी प्रकार की वायु का वर्णन कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग में भी उन्होंने इस तरह किया है—

भागीरथी निर्झरशीकराणां
बोढामुहुः कम्पित देवदारुः।
यद्वायुरन्विष्ट मृगैः किरातै
रासेव्यते भिन्नशिखंडवर्हैः॥

रघुवंश के बारहवें सर्ग में इसी वायु की चर्चा इस प्रकार से की गई है—

असौ महेन्द्रद्विपदानगंधी
त्रिमार्गगा वीचिविमर्दशीतः।
आकाशवायुर्दिनयौवनोत्था—
न्वामतिस्वेदलवान्मुखे ते॥

ऋतु संहार में वसंत का वर्णन करते समय ऐसी ही वायु निम्न ढंग से वर्णित है--

लताकुञ्जं गुञ्जन्मदवदलिपुञ्जं चपलयन्,
समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन्।
रजोवृन्दं विन्दन्दलितमरविन्दं तरलयन्,
मरुन्मन्दं मन्दं किरतिमकरन्दं दिशि दिशि ॥

उपर्युक्त श्लोकों की तुलना कर अध्यापक भलीभाँति प्रथम श्लोक का अर्थ विद्यार्थियों को अवगत करा सकते हैं। ऐसा करने से छात्र कालिदास के उक्त आशय को अच्छी तरह समझ सकते हैं। उनके हृदय में अध्यापक के प्रति श्रद्धा के भाव जागरित हो सकते हैं और वे कक्षा में शान्त रह सकते हैं। अनुशासनहीनता का भी कोई प्रश्न नहीं खड़ा हो सकता है।

एक भाषा कवि तुलना प्रणाली

एक भाषा कवि तुलना प्रणाली के अनुसार संस्कृत के विभिन्न कवियों द्वारा व्यक्त एक ही भाव की तुलना कर यह दिखलाया जाय कि उनमें से किसकी पद्धति अधिक प्रभावोत्पादक है। यथा रघुवंश के तृतीय सर्ग का अध्ययन करते समय अश्वघोष विरचित 'बुद्ध चरित्' के प्रथम सर्ग में वर्णित भगवान् बुद्ध के जन्म की तुलना रघु जन्म से करनी चाहिए। इसमें केवल ऐसे स्थलों की ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित किया जाय जिनकी सुविधापूर्वक तुलना की जा सके। उदाहरणस्वरूप कुमार रघु के जन्मोत्सव का वर्णन करते समय वन्दीजनों के मुक्त किये जाने की चर्चा करते हुए कालिदास ने कहा है कि,

न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्यं सुतजन्महर्षितः।
ऋणाभिधानात्स्वयमेव केवलम् तदा पितृणां मुमुचे सबन्धनात् ॥

अर्थात् राजा के उत्तम प्रबन्ध से राज्य में चोरों के तथा अन्य दुष्टों के न रहने के कारण कोई कैदी न था जिसे पुत्र-जन्म-महोत्सव के अवसर छोड़ता। ऐसी दशा में वह राजा दिलीप ही स्वयं पितृऋण के बन्धन से मुक्त हुआ। इसी प्रकार का भाव बुद्ध चरित् में भी व्यक्त किया गया है। यथा,

नरपतिरपि पुत्रजन्मतुष्ये विषयगतानि विमुच्य बन्धनानि।
कुलसदृशमन्वीकरद्यथा वत्प्रियतनयस्तनमस्य जातकर्म ॥

अर्थात् पुत्र जन्म से सन्तुष्ट होकर राजा ने भी देश के सभी बन्धनों को छोड़ दिया·····।" इन दोनों स्थलों की तुलना के अतिरिक्त कालीदास द्वारा व्यक्त इसी प्रकार के अन्य भावों की तुलना की जा सकती है।

जहाँ तक 'भिन्न भाषा कवि तुलना प्रणाली' का प्रश्न है, इसके अनुसार अध्यापक को विभिन्न भाषा के कवियों की समभावात्मक रचनाओं की तुलना करनी चाहिए। ऐसा करने से अध्यापक का व्याख्या करने का कार्य सरल हो जायगा और विद्यार्थी सुविधापूर्वक तद्गत् भावों को समझ लेगें, उदाहरणार्थ,

काकः कृष्णः पिकः कृष्णः को भेदः पिककाकयोः।
प्राप्ते वसन्तसमये काकः काकः पिकः पिकः॥

भिन्न भाषा कवि तुलना प्रणाली

इस श्लोक को पढ़ाते समय यदि अध्यापक निम्नलिखित हिन्दी पद्य का पाठ करता है तो इसके अर्थ को समझने में विद्यार्थियों को किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होगी।

भले-बुरे सब एक से, जौं लों बोलत नाहिं।
जानि परत हैं काक पिक, ऋतु बसंत के माहिं॥

इस प्रकार के कुछ श्लोकों तथा हिन्दी पद्यों का संग्रह अधोलिखित हैं--

संस्कृत—विकृतिं नैव गच्छन्ति संगदोषेणसाधवः।
आवेष्टितं महासर्पैश्चन्दनं न विषायते॥

हिन्दी—जो रहीम उत्तम प्रकृति का करि सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग॥

संस्कृत—साधुरेवार्थिभिर्याच्यः क्षीणवित्तोऽपि सर्वदा।
शुष्कोऽपि हि नदी मार्गः खन्यते सलिलार्थिभिः॥

हिन्दी—रहिमन दानिदरिद्रतर तऊ जाँचिवे जोग।
ज्यों सरितन सूखा परे कुँआ खनावत लोग॥

संस्कृत—दुर्जनेन समं सख्यं प्रीतिं चापि न कारयेत्।
उष्णो दहति चांगारः शीतः कृष्णायते करम्॥

हिन्दी—रहिमन तजहु अँगार ज्यों, ओछे जन को संग।
सीरो पै कारो करे, तातो जारे अंग॥

संस्कृत—मूकं करोति वाचालं पंगु लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥

हिन्दी—मूक होहिं वाचाल, पंगु चढ़ै गिरिवर गहन ।
जासु कृपा सो दयाल द्रवहु सकल कलिमल दहन ॥

चरण कमल बन्दौं हरिराई ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधे को सब कुछ दरसाई ।
बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै रंक चलै सिर छत्र धराई ॥

उक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि इस प्रणाली द्वारा कविता पढ़ाने के के लिए बाह्य ज्ञान की कितनी आवश्यकता है तथा इससे विद्यार्थियों का कितना लाभ होगा और अध्यापक का कार्य कितना सरल हो जायगा । हिन्दी के अतिरिक्त दूसरी भाषाओं से भी इसी प्रकार के उदाहरण दिये जा सकते हैं ।

गीत प्रणाली

गीत प्रणाली प्रारम्भिक स्तर के छात्रों को कविता पढ़ाने के काम आ सकती है । इन बाल-गीतों में अर्थ की प्रधानता न हो कर लय, ताल आदि की प्रधानता होती है । इनमें संगीत तत्त्व की ओर छात्र का ध्यान आकर्षित करना ही लक्ष्य होता है । ये संगीत-प्रिय होते हैं तथा लय और ताल के साथ गाने में बड़ी ही रुचि लेते हैं। इन बाल-गीतों का अध्यापन करते समय शब्दार्थ पर अधिक ध्यान न देकर ध्वनि तत्त्व पर विशेष ध्यान दिया जाय । कविता की भाषा सरल हो जिसे छात्र सुविधापूर्वक उसे कण्ठस्थ कर लें । इनका एक-एक छात्र से अलग-अलग अथवा सम्पूर्ण कक्षा से एक ही साथ समवेत पाठ कराना चाहिए । गाते समय हाथों से ताली भी दिलायी जा सकती है । इस प्रकार के कुछ गीत इस प्रकार हैं—

क—भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढ़मते !
दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिर—वसन्तौ पुनरायातः ।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुः तदपि न मुञ्चत्याशावायुः ॥
भज गोविन्दं·····भज मूढ़मते !

यावद् वित्तोपार्जनशक्तः तावत् निजपरिवारे रक्तः ।
पश्चाद्धावति जर्जर देहे, वर्तां पृच्छति कोऽपि न गेहे ॥
भज गोविन्दं·····भज मूढ़मते !

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठेर शयनम् ।
इह संसारे खलु दुष्पारे कृपयाऽपारे पाहि मुरारे ।।
भज गोविन्दं·····भज मूढ़मते !

गेयं गीता-नाम-सहस्रं ध्येयं श्रीपति-रूपमजस्रम् ।
नेयं सज्जन-संगे चित्तं देयं दीन-जनाय च वित्तम् ।।
भज गोविन्दं·····भज मूढ़मते !

ख—जय नारायण जय पुरुषोत्तम, जय वामन कंसारे ।
उद्धर मामसुरेशविनाशन, पतितोऽहं संसारे ।। जय·····।।

दीनोद्धारण नरकरिपो हर केशव कल्मष-भारम् ।
मामनुकम्पय दीनमनाथं, कुरु भवसागर पारम् ।। जय·····।।

जय जय देव गयासुरसूदन, जय मुरमधुहन् विष्णो ।
जय लक्ष्मी-मुख-कमल-मधुव्रत, जय दशकन्धर जिष्णो ।। जय···।।

त्वं मे जननी जनकः प्रभुरच्युत त्वं मे कुल मित्रम् ।
त्वं शरणं शरणागतवत्सल भवभव-जलधि-वहित्रम् ।। जय·····।।

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि गर्भ-निवासम् ।
सोढुं नालं पुनरपि माधव, उद्धर मां निजदासम् ।। जय·····।।

जनक सुता-पति चरण परायण मुनिवर शंकर गीतम् ।
तारय नाथ परम पुरुषोत्तम मां भव जलधि-परीतम् ।। जय·····।।

अभिनय अथवा नाट्य प्रणाली

अभिनय प्रणाली गीत प्रणाली का ही एक अंग है । इसे नाट्य प्रणाली भी कहते हैं । इस प्रणाली से पढ़ायी जाने वाली कविताएँ अभिनय प्रधान होती हैं । इस प्रणाली में भी बच्चों को एक पंक्ति में खड़ा करके उनके समक्ष अध्यापक को स्वयं शब्दानुसार, वाक्यानुसार तथा भावानुसार अभिनय करते हुए कविता का सस्वर एवं सुस्वर पाठ करना चाहिए और छात्रों को तदनुकूल आचरण कर उसे दुहराना चाहिए । इस तरह जब कविता पढ़ने का अच्छी तरह अभ्यास हो जाय तो कविता का सारे छात्र अभिनय करें, यथा,

सादरं समीयताम्, वन्दना विधीयताम् ।
श्रद्धया स्वमातृभू-समर्चना विधीयताम् ।। 1 ।।

आपदो भवन्तु वा, विद्युतो लसन्तु वा ।
आयुधानि भूरिशोऽपि मस्तके पतन्तु वा ।।

धीरता न हीयताम्, वीरता विधीयताम् ।
निर्भयेन चेतसा पदं पुरो निधीयताम् ।। 2 ।।

प्राणदायिनी इयम्, त्राणदायिनी इयम् ।
शक्ति-भुक्ति-मुक्तिदा सुधाऽनपायिनी इयम् ।।

एतदीय - वन्दने, सेवनेऽभिनन्दने ।
साभिमानमात्मनो जीवनं प्रदीयताम् ।। 3 ।।

इस कविता का 'कदम-कदम बढ़ाये जा' के लय पर पाठ कर लेने के पश्चात् छात्र सैनिक का अभिनय करेंगे । उनके हाथ में तिरंगा झण्डा होगा और सामने भारतमाता का चित्र होगा । वे सबके सब उपर्युक्त 'लय' से गीत गा-गा कर प्रयाण-गान करेंगे । ऐसा करने से कविता के प्रति छात्रों की रुचि बढ़ने लगेगी, उन्हें सम्पूर्ण कविता कण्ठस्थ हो जायगी, उचित अंग संचालन द्वारा भाव व्यक्त करने की क्षमता आ जायगी और खेल-खेल में ही उन्हें संपूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जायगा । ऐसे बालगीतों का शब्दार्थ बताने को आवश्यकता नहीं पड़ती है ।

संस्कृत विद्वानों ने समय-समय पर हमारे समस्त प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं । इनमें मल्लिनाथ की टीकाएँ तो विशेष ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं । इनमें श्लोकों तथा अनुच्छेदों की साहित्यिक और व्याकरण संबन्धी हर प्रकार की व्याख्या कर दी जाती है तथा प्रसंगानुसार अमरकोष विधि, तुलना विधि, प्रयोग विधि, व्युत्पत्ति विधि आदि का प्रयोग किया जाता है ।

यथा, पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी ।
तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे ।।

टीका प्रणाली

टीका—गिरिनिर्झराणाम् (गिरिषु निर्झराः तेषां गिरिनिर्झराणां = पर्वत प्रवाहाणां, 'प्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः । तुषारैः = हिमकणैः, तुषारौ हिमसीकरौ इत्यमरः पृक्तः = सम्पृक्तः, अनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी = अनसः = शकटस्य, अकं = गति, हन्तीति अनोकहः तेषां आकम्पितानि च तानि पुष्पाणि तेषां गन्धोऽस्याऽस्तीत्यमोकहाकम्पित पुष्पगन्धी = वृक्षाकम्पितकुसुमसुगन्धी, पवनः =

पुनातीत पवनः = वातः, नभस्वद्वातपवन इत्यमरः, अनातपत्रम् = आतपात्रायत-इत्यातपत्रं, न विद्यते आतपत्रं यस्य तं अनातपत्रम् = छत्ररहितम् (अतएव) आतपक्लान्तं = आतपेन क्लातं आतपक्लान्तम् (उष्णम्लानं), आचारपूतं = आचारेण सदाचारेण पूतं पवित्रं सदाचार पवित्रं, तं = दिलीपं सिषेवे = सेवितवान् ।

यह पद्धति दण्डान्वय पद्धति का ही विकसित रूप है । इसका एक मात्र आधार दण्डान्वय पद्धति के अनुसार किया गया अन्वय ही है । इसी का आश्रय लेकर अन्य क्रियाओं यथा सन्धि विच्छेद, समास विग्रह, अमरकोष, शब्दार्थ आदि का उल्लेख किया जाता है । यह भावों का स्पष्टीकरण तथा विषय-सामग्री का आलोचनात्मक विश्लेषण करती है । निस्सन्देह यह विधि उच्च कक्षाओं के लिए अत्यधिक उपयुक्त है ।

व्याख्या प्रणाली के अनुसार कविता पढ़ाते समय अध्यापक प्रत्येक पद का अर्थ, उसके प्रयोग की यथार्थता, कवि का दृष्टिकोण, कवि की शैली, परिस्थिति आदि पर प्रकाश डालता है । इसमें भावार्थ का महत्त्व अधिक होता है । यदि श्लोक किसी ऐतिहासिक घटना से संबद्ध होता है तो इस प्रणाली के अनुसार इसे पढ़ाते समय उस घटना का भी उल्लेख कर दिया जाता है । यथा,

अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।
न पादयोर्न्मूलनशक्ति रहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥

इस श्लोक की व्याख्या करते समय साधारण अर्थ बतलाने के अतिरिक्त अध्यापक राजा दिलीप की पुत्र-प्राप्ति के निमित्त वशिष्ठ की नन्दिनी की सेवा करने, उनकी परीक्षा करने हेतु उस गाय पर निकुम्भ के मित्र कुम्भोदर नामक शंकरजा के सेवक का सिंह के रूप में आक्रमण करने तथा उनके श्रम एवं शक्ति की तुलना पेड़ को उखाड़ने वाले वेग से और अपनी शक्ति की तुलना पर्वत से करने की बात को छात्रों को बतायेगा । वह यह भी बतायेगा कि जिस प्रकार वायु का वेग केवल पेड़ को ही उखाड़ने में समर्थ होता है उसी प्रकार हे राजन् ! आप की शक्ति केवल साधारण वन्य पशुओं को ही मारने में समर्थ है । अतः आप अधिक परिश्रम न करें । आप का श्रम मुझ पर्वत सदृश के लिए व्यर्थ होगा । अर्थात् मुझे मारने में आप उसी प्रकार अक्षम होंगे जिस प्रकार वायु का वेग पर्वत को उखाड़ने में असमर्थ होता है । अध्यापक इस प्रकार यह सिद्ध

व्याख्या प्रणाली

करेगा कि राजा सिंह की दृष्टि में हर प्रकार से उसे मारने में असमर्थ है और इस तरह वह गौ की रक्षा करने में अक्षम है। कविता पढ़ाने की यह एक उत्तम विधि है।

कविता-शिक्षण-प्रणालियों में समीक्षा प्रणाली का विशेष स्थान है। छात्रों को समीक्षा-सिद्धान्तों का भली-भाँति ज्ञान हो जाने पर इस प्रणाली का प्रयोग किया जाय। इस प्रणाली को समीक्षात्मक अध्ययन प्रणाली भी कहते हैं। इस प्रणाली के अन्तर्गत कविता में प्रयुक्त भाषा, काव्यगत भाव तथा उस पृष्ठ-भूमि की जाँच की जाती है जिससे प्रेरित हो कवि ने उसकी रचना की हो। भाषा की परीक्षा करते समय कविता में प्रयुक्त शब्दों, मात्राओं, छन्द, अलंकार आदि पर विचार किया जाता है और यह देखा जाता है कि यह इन दृष्टियों से शुद्ध है कि नहीं। यथा वेणीसंहार के अधोलिखित श्लोक को ही ले लीजिए—

समीक्षा प्रणाली

चञ्चद्भुज-भ्रमित-चण्ड-गदाभिघात,
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्ध-घन-शोणितशोणपाणि,
रुचंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः॥

इस श्लोक में भीमसेन की प्रतिज्ञा का भव्य निदर्शन है। तथा इसके अनुकूल विकट वर्णों का सुन्दर विन्यास है। इसमें प्रयुक्त शब्द वीर रस के अनुकूल हैं। कवि कहता है कि यह भीमसेन शीघ्र ही फड़कती हुई भुजाओं से घुमाकर फेंकी गयी गदा के आघात से दुर्योधन की जाँघों को चूर्ण कर देगा। अधिक मात्रा में गिरे हुए चपके हुए गाढ़े-गाढ़े रुधिर से लाल हाथों वाला यह भीमसेन तुम्हारे इन खुले हुए बालों को स्वयं अपने हाथों से बाँधेगा। अतः तुम विश्वस्त रहो। तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होकर रहेगा।

इस प्रणाली के अन्तर्गत जहाँ तक काव्यगतभाव के परखने की बात है इसके अनुसार कवि की कल्पना-शक्ति, वर्णित वस्तुओं की स्वाभाविकता, यथार्थता, मानवभावों को व्यक्त करने की शक्ति आदि का विवेचन किया जाता है। उदाहरणार्थ मृच्छकटिक में शूद्रक द्वारा तत्कालीन कचहरी का सुन्दर चित्रण किया गया है। इससे संबद्ध श्लोक को पढ़ाते समय कवि की कल्पना, उसकी वर्णन शैली तथा उस समय की कचहरी की आजकल की कचहरी से तुलना कर उस समय की न्यायपालिका की ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित

किया जा सकता है। शूद्रक का कहना है कि कचहरी[1] समुद्र के सदृश जान पड़ती है। चिन्ताग्रस्त मन्त्री इसके जल हैं, दूतगण लहर तथा शंख सदृश हैं। (इधर-उधर दूर देशों में घूमने के कारण दोनों की यहाँ समानता दिखाई गयी है।) चारों ओर रहने वाले चर (आजकल की खुफिया पुलिस) घड़ियाल हैं। यह समुद्र हाथियों तथा घोड़ों के रूप में हिंस्र पशुओं से युक्त है। तरह-तरह के ठग तथा पिशुन लोग बगुले हैं। कायस्थ मुंशी लोग जहरीले सर्प हैं। नीति से इसका तट टूटा हुआ है। यह प्राचीन काल की कचहरी का स्वरूप है। आजकल की कचहरी तो कई बातों में इससे भी बढ़कर है। कचहरी में प्रथम बार जाने वाले व्यक्ति को शूद्रक के वर्णन की सत्यता का अनुभव पग-पग पर होगा।

इस प्रणाली के अनुसार कविता पढ़ाते समय कविता की पृष्ठभूमि की चर्चा कर उस समय की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, भौगोलिक, ऐतिहासिक परिस्थितियों पर प्रकाश डाला जाता है क्योंकि कवि इन्हीं से प्रेरित होकर कविता करता है। यथा निम्नलिखित श्लोक की समीक्षा करते हुए छात्रों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया जा सकता है कि उस समय समाज में कतिपय ब्राह्मण अपना जीवन जुआ और चोरी में व्यतीत करने लगे थे। शर्विलक ऐसा ही एक ब्राह्मण है जो अपने जनेऊ की भी हँसी उड़ाने से बाज नहीं आता। यह आर्य चारुदत्त के घर में रात में सेंध मारने जाते हैं। वहाँ पहुँचने पर उन्हें ज्ञात होता है कि वह अपना मानसूत्र भूल आये हैं। उन्हें उस समय गले में पड़े रहने वाले जनेऊ की याद आ जाती है। बस आप इसी से अपना कार्य करते हैं और कहते हैं—

यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यम्, विशेषतोऽस्मद्विधस्य।

कुतः—

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गान्,
एतेन मोचयति भूषणसंप्रयोगान्।
उद्घाटको भवति यंत्रदृढ़े कपाटे,
दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनं च॥

---

1. चिन्तासक्त निमग्नमन्त्रिसलिलं दूतोर्मिशंखाकुलं,
पर्यन्तस्थित चारनक्रमकरं नागाश्वहिंस्राश्रयम्।
नानावाशककंकपक्षिरुचिरं कायस्थर्स्पास्पदं,
नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिंस्रं, समुद्रायते॥—मृच्छकटिक

ब्राह्मणों के लिए जनेऊ बड़े काम की वस्तु है, विशेष रूप से हमारे जैसे (चोर) ब्राह्मणों के लिए, क्योंकि इससे भीत पर सेंध मारने की जगह को नापते हैं, आभूषणों के बन्धनों को छुड़ाते हैं, यंत्रों से मजबूती के साथ लगाये गये किवाड़ों को खोलते हैं और साँप अथवा कीट द्वारा काट लिये जाने पर उसे इसी से बाँध भी सकते हैं (जिससे विष न चढ़े)।

इस श्लोक को पढ़ाते समय छात्रों का ध्यान इस ओर भी आकर्षित किया जा सकता है कि जनेऊ का महत्त्व कम हो रहा है। इस समय के लोग भी इसकी उपेक्षा कर रहे हैं और यज्ञोपवीत संस्कार हो जाने पर इसे निकाल कर अलग रख दे रहे हैं तथा इसमें ताली या दंत खोदनी बाँध रहे हैं। यह है जनेऊ का महत्त्व के पतन का इतिहास। दूसरे इसमें चोरी करने की कला पर भी प्रकाश डाला गया है। तीसरे इसमें यह भी बताया गया है कि साँप द्वारा काट लिये जाने पर उसे बाँध देने पर विष नहीं चढ़ता है।

इस प्रकार विभिन्न पहलुओं से समीक्षा कर लेने के पश्चात् उस कवि की दूसरे कवियों की तुलना की जाती है और यह निश्चित किया जाता है कि संस्कृत साहित्य, विश्वसाहित्य तथा मानवसमाज को उस कवि की क्या देन है ? उपरिवर्णित कविता-शिक्षण की सभी प्रणालियों का अपना-अपना महत्त्व है। शिक्षक कक्षा स्तर के अनुकूल अपने विवेक से इन प्रणालियों में से किसी एक का अथवा कुछ के समन्वित स्वरूप का अनुसरण करने के लिए स्वतंत्र हैं।

सारांश

गीत प्रणाली, अभिनय प्रणाली, व्याख्या प्रणाली, दण्डान्वय प्रणाली, खण्डान्वय प्रणाली, अर्थ-बोध-प्रणाली, व्यास प्रणाली, तुलना प्रणाली और समीक्षा प्रणाली—ये नौ प्रकार की कविता-शिक्षण की प्रणालियाँ हैं। यथावसर कक्षानुसार इनका अनुसरण करना चाहिए। प्रथम दो प्रणालियों का प्रयोग प्रारम्भिक कक्षाओं में तथा व्यास और समीक्षा प्रणाली का प्रयोग ऊँची कक्षाओं में करना चाहिए। व्याख्या, खण्डान्वय तथा तुलना आदि प्रणालियों का प्रयोग तो सभी कक्षाओं में किया जा सकता है किन्तु इनका भी प्रयोग विशेष रूप से माध्यमिक एवं उच्च कक्षाओं में कविता शिक्षण करते समय किया जाय तो अच्छा है।

गीत प्रणाली का मुख्य उद्देश्य छात्रों को कविता में आये हुए संगीत से परिचित कराना तथा उन्हें सस्वर एवं सुस्वर पाठ करने के लिए तैयार करना

होता है। अभिनय प्रणाली अभिनय प्रधान होती है। इस प्रणाली में बच्चों को एक पंक्ति में खड़ा करके उनके समक्ष अध्यापक को कविता का अभिनयपूर्ण पाठ करते हुए छात्रों से तदनुकूल कविता-पाठ करवाना चाहिए। व्याख्या प्रणाली में प्रत्येक पद की व्याख्या करते हुए कविता में आयी हुई अन्तः कथाओं, घटनाओं आदि पर भी प्रकाश डाला जाता है। दण्डान्वय प्रणाली को अन्वय कहते हैं। टीका प्रणाली इसी का विकसित रूप है जिसमें शब्दार्थ, सन्धि विग्रह, समास विग्रह आदि के साथ ही साथ अमर कोष से शब्द विशेष के पर्यायवाची शब्द भी बता दिये जाते हैं। खण्डान्वय प्रणाली में प्रश्नों द्वारा कर्त्ता, कर्म, क्रिया, विशेषण आदि का विश्लेषण किया जाता है। ये प्रश्न मुख्य रूप से पाठ्य-विषय पर आधारित होते हैं और वे व्याकरण संबन्धी न होकर साहित्यिक अर्थ रखते हैं। कविता-शिक्षण की साधारण रूप से प्रचलित एवं व्यवहृत प्रणाली को अर्थ-बोध प्रणाली कहते हैं। यह अर्थ प्रधान होती है। व्यास प्रणाली को कथा-कथन प्रणाली कहते हैं। गीता में लिखित शंकरभाष्य इस विधि का सर्वोत्तम उदाहरण है। तुलना प्रणाली के अनुसार कविता पढ़ाते समय उसमें व्यक्त भाव की उसी कवि, समभाषा कवि तथा भिन्न भाषा कवि द्वारा दूसरे स्थान पर वर्णित भाव से तुलना की जाती है। इससे बालक की कविता पढ़ने में रुचि बढ़ती है और वह विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव करता है। समीक्षा प्रणाली में कविता की भाषा, उसमें व्यक्त भाव तथा जिस वातावरण में उसकी रचना की गयी है, उसकी समीक्षा कर हिन्दी साहित्य एवं विश्व साहित्य को कवि की देन का मूल्यांकन किया जाता है।

प्रश्न

1. कविता-शिक्षण की विभिन्न प्रणालियों की चर्चा करते हुए उनके लक्षणों का सूक्ष्म विवेचन कीजिए।
2. तुलना प्रणाली के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
3. दण्डान्वय एवं खण्डान्वय प्रणालियों में क्या अन्तर है? इनका एक-एक उदाहरण प्रस्तुत कर उन्हें स्पष्ट कीजिए।
4. व्यास प्रणाली का सोदाहरण सम्यक् विवेचन कीजिए।
5. समीक्षा प्रणाली की विशेषताओं पर सोदाहरण प्रकाश डालिए।

सहायक पुस्तकें

1. अन्वय प्रबोध ।
2. तर्क संग्रह ।
3. गीता रहस्य ।
4. रघुवंश, कुमारसंभव तथा ऋतुसंहार ।
5. बुद्ध चरित ।
6. गीतगोविन्द ।
7. वेणीसंहार ।
8. मृच्छकटिक ।

(पाठ-सूत्र संस्कृत कविता)

कक्षा 7 घण्टा-3 विषय—संस्कृत (गीता के के दो श्लोक)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥1॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे ॥2॥

उद्देश्य—1. शुद्धोच्चारण के साथ छात्र प्रस्तुत पद्यों को पढ़ सकें तथा इनके भाव को समझ सकें ।

2. ईश्वर के अवतार लेने के संबन्ध में छात्रों को परिचित कराना तथा यह बतलाना कि वह कब और किस लिए अवतार लेता है ।

पूर्वज्ञान—छात्र कृष्ण जन्माष्टमी तथा रामनवमी आदि त्यौहारों से परिचित हैं । वे इन्हें मनाते भी हैं । वे यह भी जानते हैं कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया ।

प्रस्तावना—1. तुम जन्माष्टमी क्यों मनाते हो ?

2. तुम कृष्ण को किस रूप में मानते हो ?

3. ईश्वर का अवतार कब होता है ? (समस्या) छात्र अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार भिन्न-भिन्न उत्तर देगें ।

उद्देश्य कथन—शिक्षक स्पष्ट करेगा कि आज हम गीता से उद्धृत उपरि-लिखित दोनों श्लोकों को पढ़ायेंगे जिससे स्पष्ट हो जायगा कि ईश्वर का अवतार कब और किस लिए होता है ।" इनमें श्रीकृष्ण स्वयं अपनी उत्पत्ति के बारे में कह रहे हैं ।

विषय-प्रवेश—1. अध्यापक द्वारा दोनों श्लोकों का आदर्श वाचन ।

2. छात्रों द्वारा सस्वर तथा सुस्वर वाचन ।

3. खण्डान्वय—(इसमें 'अहम्' शब्द का प्रयोग श्रीकृष्ण के लिए और भारत का प्रयोग अर्जुन के लिए हुआ है।

प्र०—अहं किं करोमि ?

उ०—सृजामि।

प्र०—किं सृजामि ?

उ०—आत्मानम्।

प्र०—कस्य ग्लानिः भवति ?

उ०—धर्मस्य।

प्र०—कस्य अभ्युत्थानम् भवति ?

उ०—अधर्मस्य।

प्र०—अहं कदा आत्मानं सृजामि ?

उ०—यदा यदा धर्मस्य ग्लानिः अधर्मस्य अभ्युत्थानम् च भवति।

प्र०—अहं युगे युगे किं करोमि ?

उ०—संभवामि।

प्र०—केषां परित्राणाय संभवामि ?

उ०—साधूनाम्।

प्र०—केषां विनाशाय संभवामि ?

उ०—दुष्कृताम्।

प्र०—कस्य संस्थापनार्थाय संभवामि ?

उ०—धर्मस्य संस्थापनार्थाय।

आत्मीकरण—अध्यापक इन श्लोकों में प्रयुक्त 'सृजामि' एवं 'संभवामि' क्रियाओं की ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित कर उनसे कहेगा कि 'सृजामि' का अर्थ है 'सृजन करता हूँ' और 'संभवामि' का अर्थ है 'उत्पन्न करता हूँ।' भगवान् स्वयं की रचना भी करते हैं और स्वयं उत्पन्न भी होते हैं। उनके इस प्रकार से सृजित होने एवं उत्पन्न होने को अवतार कहते हैं। जब-जब पृथ्वी पर धर्म की अवनति तथा अधर्म की उन्नति होती है तब-तब वे सज्जनों की रक्षा, दुष्टों का नाश और धर्म की स्थापना के लिए अवतार लेते हैं।

क—विस्तृत-व्याख्या

वस्तु	पाठन विधि
सृजाम्यहम्	सृजामि+अहम् (सन्धि विच्छेद द्वारा) मैं सृजन करता हूँ।
तदात्मानम्	तदा+आत्मानम् (सन्धि विच्छेद द्वारा) अध्यापक अभिनय द्वारा 'सृजामि' एवं 'आत्मानम्' का अर्थ स्पष्ट करेगा।
ग्लानिर्भवति	ग्लानिः+भवति (सन्धि विच्छेद द्वारा) तुलना द्वारा--उत्थान और पतन धर्म का नाश होता है।
अधर्मस्य अभ्युत्थानम् भवति	तुलना द्वारा--ग्लानि और अभ्युत्थान अधर्म की उन्नति होती है। पूरे श्लोक को पढ़कर उसकी तुलना गोस्वामी तुलसीदास जी की निम्नलिखित चौपाई से की जायगी। जब-जब होहिं धर्म की हानी। बाढ़ै असुर महा अभिमानी॥
युगे-युगे	प्रत्येक युग में। युग कितने हैं? (चार) कौन-कौन से? (सत्युग, त्रेता, द्वापर, और कलियुग।)
संभवामि	उत्पन्न होता हूँ (शब्दार्थ द्वारा)
साधूनाम् परित्राणाय दुष्कृताम् विनाशाय	सज्जनों की रक्षा करने के लिए } शब्दार्थ दुष्टों का नाश करने के लिए } द्वारा साधूनाम् और दुष्कृताम् की तुलना कर
धर्मसंस्थापनार्थाय	धर्म की स्थापना करने के लिए (शब्दार्थ द्वारा) पूरे श्लोक को पढ़कर उसकी तुलना गोस्वामी जी की निम्नलिखित चौपाई से की जायगी। तब-तब धरि प्रभु मनुज सरीरा। सदा हरहिं सज्जन कर पीरा॥

ख—विचार-विश्लेषण—

1. ईश्वर : आत्मानम् कदा सृजति ?
2. ईश्वर : युगे-युगे किमर्थम् संभवति ?

ग—कक्षा द्वारा दोनों श्लोकों का सस्वर एवं सुस्वर पाठ।

आवृत्त्यात्मक प्रश्न—1. ईश्वर पृथ्वी पर किस प्रकार अवतार लेता है।

2. वह यह अवतार कब-कब लेता है ?
3. वह यह अवतार किसलिए लेता है ?

गृह-कार्य—1. इन श्लोकों को कण्ठाग्र करो और इनका अर्थ लिखो।

2. इनसे सम्बद्ध गोस्वामी तुलसीदास जी की चौपाइयों को कण्ठस्थ करो।

●

अध्याय 19

संस्कृत गद्य शिक्षण

संस्कृत गद्य का इतिहास

आर्य जाति के साहित्य में गद्य का प्रथम दर्शन हमारी संस्कृत भाषा में ही हुआ। गद्य भाषा की परम्परा को वैदिक संहिताओं जितना प्राचीन कहा जा सकता है। गद्य युक्त होने के कारण ही कृष्ण यजुर्वेद का कृष्णत्व है। संस्कृत गद्य का प्राचीनतम उदाहरण तैत्तिरीय संहिता में उपलब्ध होता है। अथर्ववेद का छठाँ भाग गद्यात्मक ही है। समग्र ब्राह्मणों की रचना गद्य-रूप में ही है। आरण्यकों में भी गद्य की बहुलता है। उपनिषद् भी गद्यात्मक हैं। इस प्रकार वैदिक साहित्य में गद्य का प्रयोग बहुत ही व्यापक, उदार तथा उदात्त रूप में हुआ है। दर्शन ग्रन्थों में भी गद्य का व्यापक प्रयोग हुआ है। ज्योतिष तथा वैद्यक ग्रन्थों में इसका दर्शन पाना भी दुर्लभ है। लेखकों की रुचि गद्य की अपेक्षा पद्य की ओर अधिक रही है क्योंकि पद्य-बद्ध ग्रन्थ शीघ्रता से स्मरण किये जा सकते हैं। यही कारण है कि लौकिक संस्कृत में गद्य का उतना प्रचार एवं प्रसार न हो सका जितना कि स्वाभाविक रूप से होने की आशा की जाती थी। जो कुछ भी हो पर संस्कृत साहित्य में पद्य की अपेक्षा गद्य का अधिक सम्मानित होना जान पड़ता है। 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' की कहावत इस कथन की यथार्थता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। गद्य काव्यों की उत्कृष्ट कृतियों में दण्डी, सुबन्धु और वाण की कृतियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके ग्रन्थ हमें पूर्ण विकसित रूप में मिलते हैं।

संस्कृत गद्य की विशेषता है उसकी लघुकायता। जो विचार दूसरी भाषाओं में बहुत बड़े लम्बे-लम्बे वाक्यों में व्यक्त किये जा सकते हैं, वे संस्कृत गद्य में एक ही पद में अभिव्यक्त किये जा सकते हैं। इसका एक मात्र कारण समास ही है। वे ही संस्कृत गद्य के प्राण हैं। ओज का प्रधान लक्षण है समास बहुलता। कहा भी गया है कि 'ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्'। इस शैली का आभास हमें छत्रप रुद्रदामन के शिलालेख में भी मिलता है। हरिषेण की प्रयाग

प्रशस्ति में भी इस शैली का ज्वलन्त उदाहरण मिलता है जिसकी तुलना बाण की गद्य शैली से की जा सकती है।

कथा और आख्यायिका

संस्कृत गद्य प्रायः दो भागों में विभक्त है—कथा और आख्यायिका। कथा कवि-कल्पित होती है। इसमें वक्ता स्वयं नायक रहता है अथवा कोई अन्य व्यक्ति। इसमें आख्यायिका के समान न तो 'उच्छ्वास' का विभाग रहता है, न वक्त्रादि वृत्तों की व्याख्या। कथा कवि के मस्तिष्क की उपज होती है जिसमें कल्पना का पूर्ण साम्राज्य रहता है। इसके आरम्भ में कविवंश का संक्षिप्त श्लोकबद्ध वर्णन रहता है तथा मुख्यार्थ का आरम्भ कराने के लिए भूमिका रूप में दूसरी कथा कही गयी होती है। इसमें परिच्छेद नहीं होते है। आख्यायिका वह है जिसमें कुछ विस्तार के साथ लेखक के वंश की प्रशस्ति दी हुई रहती है, जिसमें कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ आदि का वर्णन रहता है, जिसमें रीति तथा वृत्ति का प्रभावशाली स्थान होता है, जिसकी कथावस्तु उच्छ्वासों में विभक्त रहती है तथा जिसमें वक्त्र और अपरवक्त्र नामक श्लोकों का समावेश रहता है।

संस्कृत गद्य चयन

अब प्रश्न यह है कि हमें अपने विद्यार्थियों को किस प्रकार का गद्य पढ़ाना चाहिए। इसका चयन करने के पूर्व हमें छात्रों की रुचि, उनके वातावरण तथा उनके बौद्धिक स्तर पर भी ध्यान देना चाहिए। इसके अतिरिक्त संस्कृत अध्ययन की प्रारम्भिक, मध्य तथा उच्च इन तीन अवस्थाओं पर भी ध्यान देना चाहिए। ऐसा करते समय क्रम-सिद्धान्त का अवश्य अनुसरण किया जाना चाहिए। अतः प्रारम्भिक कक्षाओं में ऐसे गद्य-पाठों की रचना एवं उनका चयन इस प्रकार किया जाय जिनमें वाक्य सरल हों और सन्धियों तथा समासों का कम से कम प्रयोग हुआ हो। कहानियों का संग्रह पंचतंत्र, हितोपदेश, वृहत्कथामञ्जरी, कथा सरित सागर, वेताल पंचविंशतिका, सिंहासन द्वात्रिंशिका, शुकसप्तति, भोज प्रबन्ध, भट्टक द्वात्रिंशिका आदि ग्रन्थों से किया जाय। कहानियाँ बालकों को प्रिय होती हैं। इनके संबंध में कहानी कथन-पद्धति में बहुत कुछ कहा जा चुका है। ज्यों-ज्यों छात्रों के संस्कृत-ज्ञान की वृद्धि होती जाय, त्यों-त्यों उन्हें कठिन गद्य-पाठों को पढ़ाया जाय। इन गद्य पाठों के अन्तर्गत कहानियों के अतिरिक्त वर्णन, यात्रा, प्राकृतिक दृश्य, जीवन चरित्र, विभिन्न देशों के मनुष्यों के रहन-सहन, आचार, व्यवहार, वैज्ञानिक आविष्कार, संवाद आदि विषयों से सम्बद्ध पाठों का समावेश किया जाय।

विभिन्न स्तरों पर इन गद्य पाठों के शिक्षण के विभिन्न उद्देश्य हैं जो इस प्रकार हैं। प्रारम्भिक स्तर पर अर्थात् कक्षा 6, 7 और 8 के छात्रों को इन गद्य-पाठों को इस उद्देश्य से पढ़ाया जाय कि उससे छात्रों के शब्द-भाण्डार की वृद्धि हो, वे नये शब्दों का अर्थ समझ कर उनका उचित प्रयोग कर सकें, पाठगत शब्दों एवं वाक्यों का शुद्ध उच्चारण कर सकें, संस्कृत भाषा की विशेषताओं से परिचित हो सकें, पाठगत भावों एवं विचारों को ग्रहण कर सकें, अपने चरित्र को सुधार सकें तथा संस्कृत भाषा के माध्यम से भारतीय संस्कृति को अपना सकें। मध्य-स्तर पर अर्थात् कक्षा 9, 10, 11 और 12 में गद्य उपर्युक्त उद्देश्यों के अतिरिक्त इस उद्देश्य से पढ़ाया जाय कि उससे छात्रों को विभिन्न विषयों का ज्ञान हो जाय। उनके व्यावहारिक ज्ञान की वृद्धि हो, उनमें संस्कृत भाषा के प्रति प्रेम उत्पन्न हो, तथा वे विविध गद्य-शैलियों से परिचित हो सकें। इसके अतिरिक्त उनमें लेखक के भावों को सस्वर एवं सुस्वर पाठ करते समय अभिव्यक्त करने की क्षमता उत्पन्न हो सके और उनकी कल्पना-शक्ति का विकास हो सके। उच्च-स्तर अर्थात् स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं में गद्य इस उद्देश्य से पढ़ाया जाय कि छात्र संस्कृत साहित्य की अक्षयनिधि से परिचित हो सकें और उनका अध्ययन कर एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव कर सकें। इतना ही नहीं अपितु वे अपनी तर्क शक्ति, विवेचनात्मक शक्ति तथा समालोचनात्मक शक्ति को विकसित कर सकें और इस प्रकार संस्कृत साहित्य की गद्य के रूप में निहित अमूल्य निधि की रक्षा कर सकें। वे गद्य की विभिन्न शैलियों का ज्ञान प्राप्त कर अपनी एक अलग शैली बना सकें और इस प्रकार अपने भावों की शुद्ध एवं ओज पूर्ण संस्कृत में अभिव्यक्ति कर सकें।

गद्य-शिक्षण के उद्देश्य

उपर्युक्त सामान्य उद्देश्यों के अतिरिक्त प्रत्येक गद्य पाठ के शिक्षण के कुछ मुख्य उद्देश्य भी हुआ करते हैं जिनका संबंध उस पाठ के निहित सन्देश से होता है। प्रत्येक पाठ यथा कहानी, जीवन चरित्र, नाटक, संवाद आदि का अपना एक संन्देश हुआ करता है। इसी सन्देश को छात्रों तक पहुँचाना उस पाठ के शिक्षण का मुख्य उद्देश्य होता है। उदाहरणार्थ किसी कहानी को पढ़ाते समय उससे सम्बद्ध चरित्र-निर्माण, कथानक, विभिन्न पत्रों का चरित्र-चित्रण, मुख्य पात्र की विशेषता, उसके सन्देश आदि की ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित करना उस

मुख्य उद्देश्य

कहानी के शिक्षण का मुख्य उद्देश्य होगा। इसी प्रकार किसी महापुरुष की जीवनी से संबद्ध गद्य-पाठ का मुख्य उद्देश्य उस महापुरुष के चरित्र की विशेषताओं को छात्रों को अवगत कराना होता है। इन पाठों के माध्यम से उनके जीवन के उच्च आदर्शों, साहसिक कार्यों आदि को इंगित कराना ही इनके शिक्षण का मुख्य उद्देश्य है। इसी तरह वर्णनात्मक निबन्धों को पढ़ाते समय उसमें वर्णित प्राकृतिक सौन्दर्य, लेखक की कल्पना शक्ति, उसकी वर्णन-शैली आदि का ज्ञान कराना इनके शिक्षण का मुख्य उद्देश्य है।

पाठ-प्रस्तावना

नवीन पाठ आरम्भ करने के पूर्व बालकों के समक्ष पाठ से सम्बद्ध प्रासंगिक ज्ञान, प्रश्न, व्याख्या, वर्णन आदि प्रस्तुत किया जाय। कभी-कभी एतत्सम्बन्धी चित्र दिखाये जायँ और उनके सम्बन्ध में प्रश्न किये जायँ जिससे छात्रों में उत्कण्ठा एवं जिज्ञासा उत्पन्न हो। फ्रैंक स्मिथ के अनुसार प्रस्तावना छात्रों के पूर्व ज्ञान की खोज है जिसके आधार पर अध्यापक अपने ध्येय की पूर्ति करता है और इसी को आधार मान कर पाठ पढ़ाने के लिए अग्रसर होता है। प्रस्तुत पाठ के तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कराने के लिए प्रस्तावना छात्रों के वर्तमान मानसिक तत्त्वों का विश्लेषण करती है क्योंकि प्राचीन अनुभवों के ही आधार पर नवीन अनुभवों को समझा जा सकता है। नये अनुभवों से ज्ञान का विकास होता है और उन्हीं के विश्लेषण से नये सिद्धान्तों की उत्पत्ति होती हैं। प्रस्तावना कई ढंग से की जा सकती है जो इस प्रकार हैं—आवृत्यात्मक प्रश्न प्रस्तावना करने के सरलतम उपाय हैं किन्तु इनका प्रयोग उन पाठों के पढ़ाने में विशेष रूप से किया जाय जिनके कुछ अंश बालक पढ़ चुके हों। इससे पढ़े हुए पाठ की आवृत्ति हो जाती है और अगले पाठ को पढ़ने के लिए उनमें एक विशेष भाव की उत्पत्ति हो जाती है। परिणाम स्वरूप कठिन पाठ भी सरल हो जाते हैं। इन प्रश्नों द्वारा पूर्व और पर का सम्बन्ध बना रहता है और निर्धारित ज्ञान क्रम से छात्रों के मस्तिष्क में आता रहता है। इस पद्धति का अनुसरण करने से दो लाभ होते हैं। एक तो बालक के अर्जित ज्ञान की परीक्षा हो जाती है और दूसरे, आगे आने वाले पाठ से इस पाठ का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। कभी-कभी अध्यापक आधुनिक घटनाओं से सम्बद्ध प्रश्नों को विद्यार्थियों के सम्मुख रखता है और इनसे प्राप्त उत्तरों के आधार पर प्रस्तुत पाठ के उद्देश्य को स्पष्ट करता है। ये प्रश्न सम्पर्क कड़ी के रूप में कार्य करते हैं जो छात्रों के इन घटनाओं से सम्बद्ध ज्ञान को पाठ के ज्ञान-लड़ी में जोड़ देती है। उदाहरणार्थ बुद्ध जी

का पाठ पढ़ाते समय महात्मा गान्धी की अहिंसात्मक नीति पर प्रश्न पूछ कर बुद्ध जी की नीति स्पष्ट की जा सकती है और यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार गाँधी जी अहिंसा के पुजारी थे उसी प्रकार बुद्ध जी भी इसके उपासक थे। आज हम इन्हीं के जीवन चरित् के बारे में पढ़ेंगे। स्थानीय ऐतिहासिक बातें भी इस प्रकार की सम्पर्क कड़ी का कार्य करती हैं और पाठ की तैयारी में सहायक होती हैं। उदाहरणार्थ, इलाहाबाद के छात्रों को अशोक का पाठ पढ़ाते समय वहाँ के किले में स्थित अशोक की लाट की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया जा सकता है और कहा जा सकता है कि जिस महान् सम्राट् ने इस लाट का निर्माण कराया था, उसी के बारे में आज हम पढ़ेंगे। इस प्रकार की सम्पर्क कड़ी को हम साहचर्य-कड़ी भी कह सकते हैं क्योंकि इसी के आधार पर भूत और वर्तमान की एक शृंखला तैयार होती है।

चित्रों द्वारा भी छात्रों की जिज्ञासा को जागरित कराया जा सकता है। छात्र स्वभाव से ही चित्रों के प्रेमी होते हैं। अतः उनकी इस प्रवृत्ति का पाठ की तैयारी में प्रयोग करना परम उपयोगी सिद्ध होगा। पर इनके प्रयोग के संबन्ध में विशेष सावधानी से काम लिया जाय। ये चित्र स्पष्ट हों तथा इतने बड़े हों कि उनमें दिखायी गयी प्रत्येक वस्तु को विद्यार्थी सुविधापूर्वक देख सकें। इन चित्रों पर प्रश्न पूछ कर प्रस्तुत पाठ से उनका संबन्ध जोड़ दिया जाय। श्यामपट्ट पर मानचित्र, रेखाचित्र आदि खींच कर पाठ-प्रस्तुत किया जा सकता है। इस संबन्ध में यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकार से पूछे गये प्रश्नों की संख्या सीमित हो और वे दो या तीन से अधिक न हों।

इस प्रकार छात्रों के पूर्वानुवर्त्ती ज्ञान को उद्बुद्ध कर अध्यापक को छात्रों का ध्यान प्रस्तावित विषय की ओर आकर्षित करना चाहिए। विषय-प्रवेश के पूर्व तथा प्रस्तावना के पश्चात् की कड़ी को उद्देश्य कथन कहते हैं। बालकों को पाठ का उद्देश्य अवश्य बतला दिया जाय। इसकी जानकारी के बिना छात्रों का ध्यान केन्द्रित न रह सकेगा। फलतः पाठ भी सफल न हो सकेगा।

उद्देश्य कथन

उद्देश्य कथन के पश्चात् अध्यापक छात्रों का ध्यान विषय की ओर आकर्षित करे। निर्दिष्ट पाठ खोलने तथा उसकी निर्दिष्ट अन्विति को देखने का आदेश देकर उसका आदर्श वाचन करें। इस संबन्ध में कविता-शिक्षण वाले पाठ के 'काव्य-पाठ' वाले अंश तथा

विषय-प्रवेश

आदर्श वाचन शुद्धोच्चारण वाले पाठ में उल्लिखित बातों पर विशेष ध्यान दिया जाय। आदर्श वाचन के पश्चात् उस अन्विति में आयी हुई सन्धियों का विग्रह कर दिया जाय। सन्धियुक्त पदों के उच्चारण का अभ्यास करा दिया जाय। एक-एक पद को श्यामपट्ट पर लिख कर उसका स्पष्ट उच्चारण किया जाय और छात्रों से उनका शुद्ध-शुद्ध उच्चारण कराया जाय। यहाँ पर छात्रों से अनुवाचन भी कराया जा सकता है। अध्यापक वाक्य अथवा वाक्यांश को पढ़ता जाय और छात्र तदनुकूल उनका अनुवाचन करते जायँ। यदि यह क्रिया न भी करायी जाय तो कोई विशेष हानि नहीं। शब्दोच्चारण-अभ्यास के पश्चात् अध्यापक द्वारा आदर्श वाचन किया जाना अपेक्षित है। इसके अनन्तर छात्रों द्वारा अनुकरण-वाचन कराया जाय। ऐसा कराते समय छात्रों के खड़े होने, पुस्तक को हाथ में लेने तथा पढ़ने के ढंग पर विशेष ध्यान दिया जाय।

बोध परीक्षात्मक प्रश्न अनुकरण वाचन करा लेने के पश्चात् प्रस्तुत अंश से सम्बद्ध एकाध बोध-परीक्षात्मक प्रश्न पूछ लिये जायँ। ये प्रश्न ऐसे हों जिनसे बालकों के केन्द्रीय भाव-ग्रहण एवं सामान्य अर्थ-बोध की जाँच हो जाय और अध्यापक को यह भी ज्ञात हो जाय कि छात्रों ने प्रस्तुत पाठ को कहाँ तक समझा है और उसे कहाँ, कब और किस प्रकार की व्याख्या करनी है जिससे छात्रों को पूरा पाठ सरलता से समझ में आ जाय।

व्याख्या बोध-परीक्षात्मक प्रश्नों के अनन्तर व्याख्या की बारी आती है। इसके अन्तर्गत पदच्छेद, पदार्थोक्ति, विग्रह, वाक्य-योजना, आक्षेप, समाधान आदि से सम्बद्ध क्रियाएँ की जाती हैं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार अध्ययन (शब्दों का सुनना), शब्द-बोध (शब्द का अर्थ समझना), ऊह (तर्क-वितर्क करना) श्रुत-प्राप्ति तथा दान (प्रयोग) इन पाँच प्रकारों से भी किसी तथ्य पर पहुँचा जा सकता है। माधवाचार्य के अनुसार विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, संगति आदि पाँच बातें भी प्रत्येक विषय को समझने के लिए आवश्यक होती हैं। भर्तृहरि के अनुसार संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, प्रकरण, लिङ्ग, सन्निधि, सामर्थ्य, औचिति, देश, काल, व्यक्ति, स्वर आदि भी शब्द के अर्थ को समझने के लिए आवश्यक हैं। कामन्दकी के अनुसार शुश्रूषा (सुनने की इच्छा, जिज्ञासा) श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊहापोह (वाद-विवाद), अर्थ

विवाद), अर्थ विज्ञान, तत्त्वज्ञान आदि शब्दार्थ बोध के आवश्यक तत्त्व[1] हैं। इनका होना शब्दार्थ बोध के लिए आवश्यक था। गद्य-शिक्षण के उद्देश्यों में शब्द-भाण्डार की वृद्धि करना एक मुख्य उद्देश्य है। इसकी पूर्ति के लिए पाठ के उन शब्दों मुहाविरों आदि को छाँट लिया जाय जिनको बालकों ने न पढ़ा हो और जिनके प्रयोग को जान लेना उस कक्षा के छात्रों को वांछनीय हो। इनका अर्थ अथवा प्रयोग बताते समय निम्नलिखित विधियों का अनुसरण किया जाय :—

संस्कृत शिक्षण की विभिन्न विधियों का उल्लेख करते समय सुगम पद्धति की चर्चा की गयी है। इसका अनुसरण करने में संस्कृत माध्यम का प्रयोग किया जाता है जिससे शब्दों और भावों में सीधा संबन्ध स्थापित होता है। छात्र भी बोली हुई संस्कृत को सुनकर उसके समझने में अभ्यस्त हो जाते हैं। अध्यापक एक शब्द या मुहाविरे को श्यामपट्ट पर लिखता है फिर या तो उस वस्तु को छात्रों के समक्ष प्रस्तुत करके या संकेत करके उनसे उसका अर्थ उद्‌बोधित कराता है। इस प्रकार की विधि को उद्‌बोधन विधि भी कहते हैं। इसका प्रयोग चार प्रकार से किया जाता है—यथा, वस्तु दिखा कर—'इदं पुष्पमस्ति' इदं किमस्ति ? इदं पुष्पमस्ति। इस प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्यंज्ञानं प्रत्यक्षम्। चित्र, मानचित्र रेखाचित्र अथवा प्रति मूर्ति दिखा कर शब्दार्थ ज्ञान कराया जा सकता है, जैसे राम और बुद्ध का ज्ञान कराने के लिए उनका चित्र प्रस्तुत कर तथा वीणा, त्रिभुज, चतुर्भुज आदि का बोध

उद्‌बोधन विधि

---

1. पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना।
आक्षेपोऽथ समाधानं व्याख्यायाः षड् लक्षणम्॥
विषयो संशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरः।
संगतिश्चेति पंचाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्॥ [माधवाचार्य]
संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्ग शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिति देशः कालो व्यक्ति स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेष स्मृति हेतवः॥ [भर्तृहरि]
एस० के० दास—दी एजूकेशनल सिस्टम्स आफ एनसियण्ट हिन्दूज पृष्ठ 128.

कराने के लिए उनका रेखाचित्र खींच कर अयं कः ? इयं का ? इदं किं आदि प्रश्न पूछ कर उनका ज्ञान कराया जा सकता है। इसी प्रकार अभिनय द्वारा भी अर्थ-बोध कराया जा सकता है, यथा धाव् का अर्थ बताने के लिए दौड़ने की क्रिया कर छात्रों से प्रश्न पूछा जाय कि अहं किं करोमि ? फिर अहं धावामि — यह उत्तर छात्रों से उद्‌बोधित कराया जाय। इसी प्रकार 'कुतः' का अर्थ बताने के लिए कुतः आगतोऽसि ? यह प्रश्न पूछ कर छात्रों से ही कहलाया जाय कि 'गृहात् आगतोऽस्मि'—

इस विधि के गुण-दोषों का सम्यक् विवेचन 'संस्कृत-शिक्षण विधियाँ भाग 2' वाले पाठ में भली-भाँति किया जा चुका है। कृपया उसे अवश्य पढ़ लें।

उपर्युक्त विधि के अतिरिक्त शब्दार्थ बोध के लिए अनुवाद विधि का भी अनुसरण किया जाता है जिसकी चर्चा 'संस्कृत-शिक्षण विधियों' वाले पाठ में विस्तारपूर्वक की जा चुकी है।

कोष-विधि

शब्दार्थ बतलाने के लिए कोष-विधि भी प्रयोग में लायी जाती है। इसमें अमर कोष से शब्दों का प्रर्याय दे दिया जाता है। इस विधि का प्रयोग टीका-पद्धति में विशेष रूप से देखा जा सकता है। ऐसा करते समय कभी-कभी सम्पूर्ण श्लोक का उल्लेख कर दिया जाता है और कभी-कभी केवल एक ही पर्याय दे दिया जाता है, यथा, गिरिनिर्झराणाम् = पर्वत प्रवाहाणाम्, 'प्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः। तुषारैः = हिमकणैः। पृक्तः = सम्पृक्तः आदि। शब्द-भाण्डार-वृद्धि के लिए यह विधि अत्यन्त उययोगी है। छात्र एक ही शब्द के एक ही साथ कई पर्याय जान लेता है और उसी की सहायता से उसे कठिन शब्दों के अर्थों का बोध भी हो जाता है। इसीलिए प्राचीन-संस्कृत-शिक्षण पद्धति में प्रारम्भ से ही अमरकोष को कण्ठस्थ करा देने की प्रथा का प्रचलन था। ऐसा करने से शब्द-कोष देखने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। आजकल अमरकोष को कण्ठस्थ करने की कौन कहे, उसके नाम से विरले ही छात्र परिचित होते हैं और यदि परिचित भी होते हैं तो उन्हें देखना नहीं जानते हैं। यह अत्यन्त खेद जनक परिस्थिति है। छात्रों को शब्दों एवं धातुओं के विभिन्न वर्गों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। उन्हें आधुनिक संस्कृत शब्द-कोषों के देखने की भी जानकारी होनी चाहिए।

इस विधि की भी अपनी एक सीमा है क्योंकि यह हर तरह के शब्दों के लिए उपयुक्त नहीं हैं। यह न तो उपसर्गों अथवा प्रत्ययों से बने हुए शब्दों

और न तो व्याकरण के क्लिष्ट रूपों, संयुक्त पदों, ऐतिहासिक शब्दों आदि के लिए उपयुक्त है। सरल शब्दों के लिए भी यह विधि उपयुक्त नहीं हैं—क्योंकि इनके पर्यायवाची शब्द प्रायः कठिन हो जाते हैं और छात्रों को चकित कर देने वाले होते हैं।

तुलना-विधि

शब्दों की व्याख्या के लिए तुलना-विधि का भी प्रयोग किया जाता है। इसमें प्रस्तुत शब्दों के पर्यायवाची, विपरीतार्थक, अनेकार्थक, अनेकरूपार्थक, समानार्थक आदि शब्दों का उल्लेख कर उनके अर्थ को स्पष्ट किया जाता है यथा, पर्यायवाची शब्द—स्त्री, नारी, वामा, वनिता, गृहिणी आदि इन शब्दों को पूर्ण व्याख्या कर उनके अर्थों को स्पष्ट कर दिया जाय। विपरीतार्थक शब्द—राग = द्वेष, आदि = अन्त, उत्तरायण = दक्षिणायण, सबल = निर्बल; कृतघ्न = कृतज्ञ आदि; इसी प्रकार अनल-अनिल, गृह-ग्रह, कुल-कूल, प्रसाद-प्रासाद आदि का अन्तर स्पष्ट किया जाय। अनेकार्थक शब्द, यथा पयः = दूध और जल के अर्थ में, बाल = केश, मूर्ख आदि। अनेक रूप समानार्थक शब्द, यथा, नृत्यम् नृत्तम्, विहग-विहंगम् आदि। इसी प्रकार के और भी उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। यह विधि शब्द-भाण्डार-वृद्धि के लिए अत्यन्त उपयुक्त है और भाषा सिखाने की सर्वोत्तम विधि है।

वाक्य-प्रयोग-विधि

वाक्य योजना को प्रयोग विधि कहते हैं। इस विधि के अनुसार प्रयोग द्वारा शब्दों का अर्थ भली-भाँति समझाया जा सकता है। इसके लिए वाक्य प्रयोग आदर्श वाक्य आदि आवश्यक हैं। यथा, मृषा = मृषा वदति लोकोऽयं ताम्बूलं मुखभूषणम्। अकस्मात् = अकस्मात् आगतेन सह मैत्री न युक्ता। तारस्वेरण = गर्दभः तारस्वरेण वदति। आदर्श वाक्य, यथा, छिद्रेष्वनर्थाः बहुली भवन्ति, दैवो दुर्बलघातकः, उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः, तेजसां हि वयः न समीक्षते। आदि। संस्कृत-वाक्य-रचना का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह विधि बड़ी ही उपयुक्त है। वाक्य-रचना तथा कारकों के ज्ञान के बिना शब्दों एवं वाक्यों अथवा वाक्यांशों का समझना कठिन होता है। वाक्यों में प्रयुक्त शब्दों का चिर-स्थायी प्रभाव पड़ता है। इतना होते हुए भी यह विधि सर्वत्र लाभदायक नहीं सिद्ध हो सकती है।

शब्दों की विधिवत् व्याख्या बिना उनकी व्युत्पत्ति के ज्ञान के अधूरी रहती है। धातुओं, प्रत्ययों, उपसर्गों, विभक्तियों आदि के योग से शब्दों की उत्पत्ति

व्युत्पत्ति विधि

होती है। व्युत्पत्ति-विधि में इन सबका विश्लेषण किया जाता है, यथा, गत्वा = गम् धातु + क्त्वा प्रत्यय, जाकर। कर्तुम् = कृ धातु + तुमुन् प्रत्यय, करने के लिए। दातव्य = दा धातु + तव्यत् प्रत्यय, देना चाहिए। संज्ञा या सर्वनाम शब्दों से सु, औ जस् तथा धातुओं से तिङ् विभक्तियों को अलग करके उनके पुरुष, वचन एवं कारक तथा लकार का ज्ञान कराना चाहिए। इसी प्रकार समस्त पदों एवं सन्धियुक्त पदों का विग्रह कर इनकी व्याख्या की जाय, जैसे, पीताम्बरम् = पीतं च तत् अम्बरम्, (पीला वस्त्र, कर्मधारय) अथवा पीतं अम्बरम् यस्य सः तम् (विष्णुम्) पीतवस्त्र है जिसका उसको (विष्णु को)। सत् + चित् = सच्चित्; ने + अनम् = नयनम् आदि। इसी प्रकार शब्दों की और भी व्युत्पत्ति मूलक व्याख्या की जा सकती है। यह प्रक्रिया शब्दों के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए बड़ी ही उपयोगी है। इतना होते हुए भी इसकी कुछ सीमाएँ हैं। यह सभी कक्षाओं के लिए उपयोगी नहीं सिद्ध हो सकती है। प्रारम्भिक कक्षाओं के बालकों के लिए यह अत्यन्त कठिन सिद्ध होगी क्योंकि इस विधि का मूलाधार व्याकरण ही है। इसका प्रयोग ऊँची कक्षाओं के छात्रों के लिए लाभप्रद हो सकता है।

प्रसंग विधि

शिक्षण के समय कभी-कभी ऐसे शब्द भी आ जाते हैं जिनकी व्याख्या करने के लिए उनसे सम्बद्ध ऐतिहासिक, भौगोलिक, पौराणिक प्रसंगों की चर्चा करनी पड़ती है। इन प्रसंगों की विस्तृत चर्चा किये बिना शिक्षण के सांस्कृतिक उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती है। यथा, हाई स्कूल की कक्षाओं के लिए निर्धारित "देववाणी परिचायिका" नामक पुस्तक के 'गुरु-दक्षिणा' नामक पाठ पढ़ाते समय छात्रों का ध्यान उस समय के गुरु आश्रमों, छात्रों की गुरु भक्ति, राजाओं की दानशीलता ब्राह्मणों की निर्लोलुपता आदि की ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित करना चाहिए। उस समय छात्र गुरु आश्रमों में रहकर विद्याध्ययन करते थे। वे वहाँ रहकर अपने गुरुओं की सेवा-शुश्रूषा भी किया करते थे। वरतन्तु ऋषि का कौत्स से यह कहना कि 'अहं तव सपर्यया अत्यधिकं प्रसन्नोऽस्मि···' इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। विद्याध्ययन के अन्त में गुरु दक्षिणा देने की भी प्रथा थी। राजा लोग विश्वजिति नामक यज्ञ करते थे जिसमें अपना सर्वस्व दान दे दिया करते थे। राजा लोग हर प्रकार से गुरु-आश्रमों की रक्षा करते थे। याचकों को अपने दरवाजे से निराश लौट जाने में ये लोग अपना अपमान

समझते थे। राजा रघु की दानशीलता तथा कौत्स की निःस्पृहता की अयोध्या-वासियों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की थी—

जनस्य साकेत निवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्य सत्त्वौ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोर्थी नृपोऽर्थिकामादधिक प्रदश्च॥

इसी पाठ में उल्लिखित साकेत नगरी महाराज रघु की राजधानी थी—इसके इतिहास की ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित किया जाय और उन्हें बताया जाय कि वर्तमान अयोध्या ही उस समय की साकेत नगरी थी जिसे रघुवंशियों ने अपनी राजधानी बनायी थी। इसी प्रकार के अन्य प्रसंगों की भी चर्चा कर छात्रों के ज्ञान को विस्तृत किया जा सकता है।

संस्कृति ग्रन्थों पर टीका लिखने की अत्यन्त प्रचलित प्रथा थी। इसकी पद्धति की चर्चा पिछले पाठ में की जा चुकी है।

उपरिवर्णित विधियों के अनुसार सम्पूर्ण प्रस्तावित पाठ की विस्तृत व्याख्या कर लेने के पश्चात् छात्रों से उसका मौन-पाठ कराया जाय जिसके संचालन के संबन्ध में 'पठन-शिक्षण' वाले पाठ में विशद विवेचन किया जा चुका है। मौन-पठन करा लेने के अनन्तर छात्रों से कतिपय आवृत्यात्मक प्रश्न पूछे जायँ जिससे यह जानकारी हो जाय कि छात्रों ने मूल पाठ को कहाँ तक समझ लिया है। यदि उसे समझने में किसी प्रकार की कमी रह गयी हो तो उसे वहीं पर दूर कर दिया जाय। ऐसा कर लेने के पश्चात् अध्यापक नये शब्दों, उनके अर्थों प्रयोगों, एवं रूपों, प्रसंगों के अन्तर्गत कथाओं, क्लिष्ट वाक्यों के अनुवाद अलंकार आदि के संबन्ध में प्रश्न पूछे। इस तरह हर दृष्टि से सन्तुष्ट हो जाने के अनन्तर छात्रों को गृह-कार्य दिया जाय जिसका स्वरूप निम्नवत् हो—

मौन-पठन आवृत्यात्मक प्रश्न एवं गृह-कार्य

नये शब्दों के अर्थों का कण्ठाग्र करना, उनका अपने वाक्यों में प्रयोग करना, उनके पर्यायवाची शब्दों को कोशादि से ढूँढ़ कर लिखना, उनके रूपों को कण्ठस्थ करना, सन्धि एवं समास-विग्रह करना, क्लिष्ट स्थलों का मातृ-भाषा में अनुवाद करना, सप्रसंग व्याख्या करना, पाठान्तर्गत कथाओं को लिखना, तुलना करना, रिक्त स्थानों की पूर्ति करना, आदि। यह सोपान शिक्षण-क्रम का अन्तिम सोपान होता है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गद्यात्मक पाठों का पाठ-संकेत तैयार करते समय निम्नलिखित सोपानो का अनुसरण किया जाय और उनका पाठन-क्रम इस प्रकार हो—

1. कक्षा घण्टा दिनांक
2. विषय—पाठ का शीर्षक।
3. सामान्य उद्देश्य।
4. मुख्य उद्देश्य।
5. सहायक सामग्री।
6. प्रस्तावना।
7. उद्देश्य कथन।
8. विषय प्रवेश।
   - क—अध्यापक द्वारा आदर्श वाचन।
   - ख—उच्चारण-अभ्यास।
   - ग—छात्रों द्वारा अनुकरण वाचन।
   - घ—बोधपरीक्षात्मक प्रश्न।
   - च—विस्तृत व्याख्या।
   - छ—विचार-विश्लेषण।
   - ज—मौन पठन।
9. आवृत्यात्मक प्रश्न।
10. गृह-कार्य।

सारांश

आर्य जाति के साहित्य में गद्य का प्रथम दर्शन हमारी संस्कृत भाषा में ही हुआ है। वैदिक साहित्य में तो इसका प्रयोग अत्यन्त व्यापक रूप से हुआ है। पद्य की अपेक्षा गद्य का अधिक सम्मान था। 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' की कहावत इस कथन की यथार्थता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। संस्कृत गद्य की विशेषता है उसकी लघुकायता। यह समास बहुल है। यह दो भागों में विभक्त है—कथा और आख्यायिका।

गद्य-पाठों का चयन छात्रों की रुचि, उनके वातावरण तथा उनके बौद्धिक स्तर के अनुसार किया जाय। ऐसा करते समय क्रम-सिद्धान्त का अवश्य अनुसरण किया जाय। इन पाठों में कहानियों के अतिरिक्त वर्णन, यात्रा,

प्राकृतिक दृश्य, जीवन-चरित्र, विभिन्न देशों के लोगों के रहन-सहन, आचार-व्यवहार, वैज्ञानिक आविष्कार, संवाद आदि विषयों से सम्बद्ध पाठों का समावेश किया जाय।

विभिन्न स्तरों पर इन गद्य-पाठों के शिक्षण के विभिन्न उद्देश्य हैं प्रत्येक पाठ का अपना एक सन्देश हुआ करता है जिसको छात्रों तक पहुँचाना उस पाठ के शिक्षण का मुख्य उद्देश्य होता है। नवीन पाठ आरम्भ करने के पूर्व पाठ से सम्बद्ध प्रासंगिक ज्ञान, प्रश्न, व्याख्या, वर्णन आदि प्रस्तुत किया जाय। यह प्रस्तावना का एक अंग है जो कई ढंगों से की जाती है, यथा, चित्रों आवृत्यात्मक प्रश्नों, ऐतिहासिक घटनाओं द्वारा आदि। इस प्रकार छात्रों के पूर्वानुवर्त्ती ज्ञान को उद्बुद्ध कर अध्यापक को छात्रों का ध्यान प्रस्तावित विषय की ओर आकर्षित किया जाय। ऐसा कर लेने के पश्चात् आदर्श वाचन, अनुकरण वाचन तथा उच्चारण अभ्यास कराया जाय। इसके अनन्तर बोध परीक्षात्मक प्रश्न पूछे जायँ।

व्याख्या के अन्तर्गत पदच्छेद, पदार्थोक्ति, विग्रह, वाक्य-योजना, आक्षेप, समाधान आदि से सम्बद्ध क्रियाएँ की जायँ। इसके संबन्ध में वाचस्पति मिश्र, माधवाचार्य, भर्तृहरि, कामन्दकी प्रभृति शिक्षा विदों ने अपने-अपने ढंग से तरह-तरह से व्याख्या करने की शैलियों का वर्णन किया है। व्याख्या के लिए सुगम पद्धति, उद्बोधन विधि, कोषविधि, तुलनाविधि, वाक्य प्रयोग विधि, व्युत्पत्ति विधि, प्रसंग विधि आदि का प्रयोग किया जाय। इसके पश्चात् मौन पठन, आवृत्ति, तथा गृह-संबन्धी कार्य कराये जायँ।

शिक्षण संबन्धी सभी क्रियाओं का निम्नलिखित क्रम हो—

सामान्य उद्देश्य, मुख्य उद्देश्य, सहायक सामग्री, प्रस्तावना, उद्देश्य कथन, अध्यापक द्वारा आदर्श वाचन, उच्चारण-अभ्यास, छात्रों द्वारा अनुकरण वाचन, बोध परीक्षात्मक प्रश्न, विस्तृत व्याख्या, विचार-विश्लेषण, मौनपठन आवृत्यात्मक प्रश्न तथा गृह-कार्य।

प्रश्न

1. संस्कृत गद्य साहित्य के इतिहास पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।
2. गद्य पाठों के शिक्षण के विभिन्न उद्देश्यों का विशद विवेचन कीजिए।

3. गद्य-शिक्षण में प्रस्तावना का क्या स्थान है ? प्रस्तावना करने के ढंगों पर प्रकाश डालिए।
4. गद्य-शिक्षण के समय व्याख्या करने की विविध शैलियों का विस्तृत विवेचन कीजिए।
5. मौन-पठन एवं सस्वर पठन के अन्तर को व्यक्त करते हुए इनके संचालन पद्धतियों पर प्रकाश डालिए।
6. बोध परीक्षात्मक, व्याख्यात्मक तथा आवृत्यात्मक प्रश्नों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए इन पर एक विस्तृत लेख लिखिए।
7. गद्य-शिक्षण के विभिन्न सोपानों का क्रमिक वर्णन करते हुए इनके आधार पर एक पाठ-मूल तैयार कीजिए।

सहायक पुस्तकें

1. भाषा की शिक्षा—आचार्य सीताराम चतुर्वेदी।
2. संस्कृत शिक्षण—डा० रामशकल पाण्डेय।
3. संस्कृत साहित्य का इतिहास—आचार्य बलदेव उपाध्याय।
4. Problem of Sanskrit teaching—by G. S. Huparikar.
5. Language Teaching—Frank Smith.
6. The Educatioanal Systems of Ancient Hindus—S.K Das.

पाठ-सूत्र-गद्य

पाठ्य-विषय—कुम्भकारः

कुम्भकारः दण्डेन चक्रं भ्रामयति । सः मृत्तिकया भाण्डानि रचयति । सः शुष्काम् मृत्तिकाम् आनयति जलेन सिञ्चति च । आर्द्रां तां पादाभ्याम् मर्दयति । सुमर्दितां तां चक्रे निक्षिपति । तदनन्तरं दण्डेन चक्रं चालयति । यदा चक्रं वेगेन भ्रमति तदा सः मृत्पिण्डं हस्ताभ्यां स्पृशति, विविधानिभाण्डानि रचयति च । तानि भाण्डानि सूत्रेण कर्तयति । सः तानि भाण्डानि घर्मे शोषयति पाचयति च गोमयाग्नौ । गृहस्थाः तानि मृत्पात्राणि कार्येषु योजयन्ति ।

कक्षा 6 घण्टा–4 दिनांक

उद्देश्य—1. छात्रों के शब्द भाण्डार एवं सूक्ति-भाण्डार की वृद्धि करना ।

2. छात्रों को पाठ का अर्थ समझने के योग्य बनाना ।

3. छात्रों को मिट्टी के बरतन बनाने की क्रिया से परिचित कराना ।

सहायक-सामग्री—बरतन बनाते हुए कुम्भकार का चित्र, चक्र, दण्ड, सूत्र आदि ।

पूर्व-ज्ञान—छात्रों ने अपने गाँव के कुम्भकार को बरतन बनाते हुए देखा है ।

प्रस्तावना—कुम्भकार का चित्र दिखला कर अध्यापक छात्रों से निम्नलिखित प्रश्न करेगा ।

1. यह किसका चित्र है ? (यह कुम्भकार का चित्र है)

2. इसमें कुम्भकार क्या कर रहा है ? (वह मिट्टी से बरतन बना रहा है)

उद्देश्य कथन— आज हम लोग "कुम्भकार मिट्टी से किस प्रकार बरतन बनाता है" यही पढ़ेगें ।

विषय-प्रवेश—1. अध्यापक द्वारा सम्पूर्ण पाठ का आदर्श वाचन ।

2. छात्रों द्वारा सस्वर एवं सुस्वर पाठ ।
3. बोध परीक्षात्मक प्रश्न--

क--कुम्भकारः किं करोति ?
(सः दण्डेन चक्रं भ्रामयति)

ख--यदा चक्रं वेगेन भ्रमति तदा सः किं करोति ?
(तदा सः भाण्डानि रचयति)

आत्मीकरण (क) विस्तृत व्याख्या ।

वस्तु	पाठन विधि
दण्डेन--दण्ड से	चित्र में दण्डे की ओर संकेत करके तथा प्रश्न पूछकर इसमें तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है ।
चक्रम--चाक	चित्र में चाक की ओर संकेत करके तथा प्रश्न पूछकर ।
भ्रामयति--घुमाता है	घुमाने का प्रदर्शन कर ।
भाण्डानि--मिट्टी के बरतन	चित्र में संकेत करके ।
रचयति--बनाता है	वाक्य में प्रयोग करके । सः चित्रं रचयति ।
शुष्कां मृत्तिकाम्--सूखी मिट्टी	शुष्क और आर्द्र की तुलना कर ।
मर्दयति--मर्दन करता है	अभिनय कर ।
सुमर्दिताम्--भली-भाँति गूँथी हुई	सु+मर्दिताम्, 'सु और कु' के प्रयोग का अन्तर बतला कर, यथा सुयोग्य, कुयोग्य, सुसंग और कुसंग ।
निक्षिपति--रखता है ।	क्रिया द्वारा ।
चालयति--चलाता है ।	चलति और चालयति का प्रयोग कर, अभिनय कर तथा तुलना कर ।
वेगेन--तेजी से ।	प्रयोग द्वारा, सः वेगेन धावति ।
भ्रमति--घूमता है ।	भ्रमति और भ्रामयति की तुलना कर तथा प्रयोग कर ।
स्पृशति--छूता है ।	अभिनय कर एवं प्रयोग कर ।

विविधानि—तरह-तरह।	शब्दार्थ द्वारा।
सूत्रेण कर्तयति—सूत से काटता है।	कैंची से काटने का अभिनय कर।
घर्मे—धूप में	अर्थ बतला कर।
पाचयति = पकाता है।	पचति तथा पाचयति की तुलना कर।
योजयन्ति = काम में लाते हैं।	अर्थ बतला कर।

(ख) विचार-विश्लेषण —

1. कुम्भकारः शुष्काम् मृत्तिकाम् केन सिंचति ?
2. सः सुमर्दितां मृत्तिकाम् कुत्र निक्षिपति ?
3. सः हस्ताभ्यां किं करोति ?
4. सः भाण्डानि केन कर्तयति ?
5. गृहस्थाः मृत्पात्राणि किं कुर्वन्ति ?

(ग) कक्षा द्वारा सम्पूर्ण पाठ का सस्वर एवं सुस्वर पाठ।

आवृत्त्यात्मक प्रश्न :—

1. कुम्भकारः कथम् भाण्डानि रचयति ?
2. सः तानि कुत्र शोषयति पाचयति च ?

गृह-कार्य—शिल्प (क्राफ्ट) में घंटे जाकर मिट्टी का बरतन तैयार करो।

●

अध्याय 20

संस्कृत नाट्य-शिक्षण

संस्कृत नाट्य-शिक्षण-पद्धतियों का विवेचन करने के पूर्व उसकी परिभाषा, उसके लक्षण, प्रयोजन आदि की जानकारी कर लेना आवश्यक है। नाट्य-विशारद भरत के अनुसार 'किसी भी अवस्था के अनुकरण को नाट्य कहते हैं। 'अवस्था' शब्द से हमारा तात्पर्य मनुष्य जीवन की उन समस्त परिस्थितियों से है जिनका सामना करते हुए मनुष्य अपना जीवन-निर्वाह करता है। वही राजा, सेवक, वीर, कायर, धनी, निर्धन आदि के रूप में कार्य करता है। वही दण्ड देता है, और वही दण्ड भोगता है। मनुष्य-जीवन की इन्हीं परिस्थितियों के व्यवस्थित तथा नियमित अनुकरण को नाटक कहते हैं। हम जो नहीं हैं, वही रूप धारण कर जब हम अपनी वेष-भूषा, बोल-चाल एवं व्यवहार से दूसरों को अपने में आरोपित अवस्था के सत्य होने का विश्वास दिलाते हैं और जब वे इसे सत्य समझने लगते हैं तभी हमारा अभिनय सफल होता है। इस कला की वास्तविक सफलता उस समय अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती है जब दर्शक का भ्रम ही विश्वास बन जाता है और वह अभिनेता को वास्तविक पात्र समझ कर उसके प्रति करुणा, दया, घृणा, सहानुभूति आदि की अभिव्यक्ति करने लगता है। भरत मुनि[1] के अनुसार 'इसमें शरीर के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग एवं गति के माध्यम से मनुष्य स्वभाव को व्यवस्थित करके उसका अभिनय किया जाता है और

नाटक की परिभाषा

---

1. यस्मात्स्वभावं संहृत्य साङ्गोपाङ्गगतिक्रमैः।
अभिनीयते गम्यते च तस्माद्वै नाटकं स्मृतम्॥
नाट्यशास्त्र अ० 21.

मृदुललित पदार्थं गूढ़ शब्दार्थहीनं,
बुधजनसुखयोग्यं बुद्धिमन्नृत्तयोग्यम्।
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं,
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्॥
नाट्यशास्त्र अ० 17.

उसे दर्शकों तक पहुँचाया जाता है, इसीलिए इसे नाटक कहते हैं।" जिसमें कोमल ललित पद और अर्थ हों, गूढ़ शब्दार्थ न हों, विद्वानों को सुख देने वाले हों, बुद्धिमान लोग उसका अभिनय कर सकें, जिसमें अनेक रसों की अनुभूति का अवसर हो, जिसकी सन्धियों के सभी जोड़ ठीक हों, वही नाटक प्रदर्शन के लिए अधिक उपयुक्त माना जाता है।

नाटक-लक्षण के सन्दर्भ में अभिनव-नाट्यशास्त्र में उल्लिखित अभिनव भरत की उक्ति इस प्रकार है—"किसी प्रसिद्ध या कल्पित कथा के आधार पर नाट्यकार द्वारा रचित रचना के अनुसार नाट्य-प्रयोक्ता द्वारा सिखाये हुए नट जब रंगमंच पर जनता के सम्मुख अभिनय, संवाद, संगीत आदि के माध्यम से प्रेक्षकों के हृदय में रस उत्पन्न करके उनका विनोद करते हैं और प्रेक्षक उस मनोविनोद से उपदेश और मनःशान्ति प्राप्त करते हैं, वह सम्पूर्ण प्रयोग नाटक या रूपक कहलाता है।"

नाटक के उद्देश्य

उपर्युक्त लक्षण से यह सिद्ध होता है कि रसोन्मेष ही मुख्यतः नाट्यकार का ध्येय होता है और दूसरे सारे तत्त्व, व्यापार, चरित, संविधानक योजनाएँ आदि इसी की पूर्ति के हेतु गौण रूप से विद्यमान रहती हैं। यद्यपि अवस्था की अनुकृति ही नाट्य है फिर भी व्यापार तथा चरित्र-चित्रण नाट्यकार के लिए गौण हुआ करते हैं। वह तो इसके भीतर की विषमता को सदैव अपने से दूर रखता है कि कहीं ऐसा न हो कि दर्शक का मन इन्हीं में उलझ जाय और वह रसास्वादन से वंचित हो जाय। यही कारण है कि वह प्रदर्शन हेतु परिचित आख्यान को ही चुनता है जिससे रसास्वादन की अधिक से अधिक सामग्री को उपस्थित कर वह प्रेक्षकों के हृदय में उन भावों को सद्यः उत्पन्न कर सके जो उनके हृदय को प्रभावित और उल्लसित कर सकें। वस्तुतः इसके मूल में तो "नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते" का सिद्धान्त निहित है। रसोन्मेष के अतिरिक्त मनोविनोद, उपदेश प्राप्ति तथा मनःशान्ति की प्राप्ति भी नाटक के प्रमुख उद्देश्य हैं। भरत मुनि ने "हितोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति, विनोद करणं लोके

---

1. नाट्यकार कृत प्रसिद्ध कल्पित कथाधार ग्रथित रचनानुसारि रंगपीठे प्रयोक्तृशिक्षित-नटाभिनयसंगीतादि जन्यरस द्वारा प्रेक्षकणां हृदये विनोद विश्रान्त्युपदेशजनको व्यापारः नाटकं रूपकं वा।

अभिनव नाट्यशास्त्र 3/40

नाट्यमेतद्भविष्यति" का उल्लेख कर उक्त तीनों उद्देश्यों की यथार्थता को प्रमाणित किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत नाटकों से हित कर उपदेश की प्राप्ति होती है, मनोविनोद होता है और मन को शान्ति मिलती है। यह शक्तिहीनों के हृदय में शक्ति का संचार करता है, शूर वीरों के हृदय में उत्साह की वृद्धि करता है और विद्वानों में विद्वता का उत्कर्ष करता है। इस अपार संसार में सुख और दुःख की जो भी प्रवृत्तियाँ अपने प्रभाव से प्रभावित कर मनुष्य जीवन को सुखी अथवा दुःखी बनाती हैं, उन सब का चित्रण करना नाटक का मुख्य उद्देश्य है। संसार का कोई भी ज्ञान, शिल्प, विद्या, योग अथवा कर्म ऐसा नहीं है जो इस नाट्य में नहीं दिखलाई पड़ता[1] है। इसीलिए कालिदास[2] ने कहा है कि विभिन्न रुचि के लोगों को सामान रूप से सन्तुष्ट करने का एक मात्र साधन नाटक ही है। अभिनव भरत का भी कथन है कि गीत, वाद्य, नृत्य, अभिनय, दृश्य-सौन्दर्य, चित्रकला, प्रकाश-कौशल, यांत्रिक-कौशल, नायक-नायिकाओं के रूप और विचित्र वेष-विन्यास, चल-चित्र आदि अनेक आकर्षक कलाओं से युक्त होने के कारण ही नाटक सर्वप्रिय विनोद है। इस प्रकार आनन्द के साथ चरित्र को उदार बनाना, जीवन के स्तर को ऊँचा उठाना एवं उसे आदर्श बनाना नाटक का प्रमुख उद्देश्य है।

सुखान्तता

संस्कृत नाटक की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी सुखान्तता। सभी संस्कृत नाटक सुखान्त हैं। इसका प्रमुख कारण है भारतीय जीवन दर्शन का आशावादी दृष्टिकोण। उसका सारांश यह है कि संसार का चक्र अन्ततोगत्वा सौन्दर्य एवं आनन्द का उत्पादक होता है। मार्ग के विभिन्न विघ्न-बाधाओं से सम्बद्ध प्रसंग भले ही हमारे जीवन को दुःखी बनायें परन्तु उसका अवसान सदैव आनन्द दायक एवं सुखद होता है। भारतीय नाट्यकार की दृष्टि में जीवन का उद्देश्य आनन्द की प्राप्ति है। वे कर्त्तव्य परायण एवं सत्यनिष्ठ व्यक्ति के जीवन का अन्त दुःखद नहीं देखना चाहते हैं। हो सकता है कि उच्च संकल्प का निर्वाह-पथ

---

1. न तद् ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
   नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥
   नाट्यशास्त्र 1/114

2. नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाऽप्येकं समाराधनम्।
   [कालिदास मालविकाग्निमित्र]

संकटापन्न हो किन्तु अन्ततोगत्वा उसका पर्यवसान सुखपूर्ण ही होता है। ऐसे दृढ़व्रती पुरुषों का दुःखान्त जीवन महत् की प्रतिष्ठा को एक भीषण चुनौती हो सकता है जिससे निराशा का प्रादुर्भाव हो सकता है जो समाज को दूषित कर सकती है। इसी दृष्टिकोण से भारतीय नाटककारों ने महापुरुषों के जीवन का अन्त दुःखमय नहीं दिखाया है। वे तो जीवन के दुःख तथा क्लेश को आध्यात्मिकता की शिक्षा देने का एक साधन मानता है जिसका अन्त सदा सुखद तथा कल्याणकारी ही होता है।

कला के दृष्टिकोण से भी नाटक का सुखान्त होना उचित है। यह तो सत्यं, शिवं सुन्दरम् का प्रतीक है और इसी नाते यह अपने साधक को इस ओर ले जाती है। नाटक तो इसकी आनन्दमय अभिव्यक्ति का स्वरूप ही है। अतः इसका आनन्दमय होना सर्वथा उचित है। इन्हीं दार्शनिक, आध्यात्मिक एवं कलात्मक दृष्टियों से नाटक का सुखान्त होना स्वाभाविक है।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में विद्यालयों में संस्कृत नाटक-शिक्षण के चार प्रमुख उद्देश्य हैं जो इस प्रकार हैं—

1—अवसरानुकूल वार्त्तालाप करने एवं आचरण करने की शिक्षा देना।

2—जीवन की विभिन्न परिस्थितियों, दशाओं और मानसिक अवस्थाओं में मानव स्वभाव एवं उसके चरित्र का अध्ययन कराना।

3—छात्रों को इस बात की शिक्षा देना कि इन अवस्थाओं में किस तरह का व्यवहार करना आवश्यक और निरापद होता है।

4—छात्रों में शुद्ध-शुद्ध उच्चारण करने, बोलने, अभिनय करने तथा अवसरानुकूल अपने भावों को व्यक्त करने की क्षमता उत्पन्न करना।

नाटक-शिक्षण के उद्देश्य

ऐसे करने से छात्रों के भाषा-ज्ञान की वृद्धि होती है। उन्हें इनका प्रयोग करने की शैली आ जाती है। उन्हें इस बात का भी ज्ञान हो जाता है कि किस परिस्थिति में किस प्रकार की भाषा का प्रयोग करने से किस तरह का प्रभाव पड़ सकता है। छात्र बात करने की कला में दक्ष हो जाते हैं और जान जाते हैं कि इस प्रकार की बात करने पर वह विपत्ति में पड़ सकता है और इस तरह की बात करने से उनके मनोरथ की सिद्धि हो सकती है। उन्हें पद की गरिमा के अनुकूल सम्बोधन सम्बन्धी शब्दों के प्रयोग का भी ज्ञान हो

जाता है। उन्हें सामाजिक एवं घरेलू आचार-व्यवहार की भी शिक्षा प्राप्त हो जाती है। राज-सभा के दृश्यों का अभिनय कर छात्र सभा-समिति विषयक अनुशासन की भी शिक्षा ग्रहण कर लेते हैं। इसका उनके चरित्र पर विशेष प्रभाव पड़ता है जिसके फलस्वरूप वे समाज में तद्वत् आचरण करने लगते हैं। नाटक छात्रों को व्यवहार कुशन भी बनाते हैं। वे इनके माध्यम से यह भी सीख लेते हैं कि किस परिस्थिति में उन्हें किस प्रकार का आचरण करना चाहिए। नाटकों में आये हुए विभिन्न पात्रों की गतिविधियों का अवलोकन कर तथा उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर वे अपने समाज के लोगों को समझ सकने के योग्य हो जाते हैं। उन्हें विभिन्न प्रकार के लोगों से व्यवहार करने की क्षमता आ जाती हैं। नाटक छात्रों को कुशल वक्ता बनाने के लिए एक विशिष्ट पाठशाला है जिसके माध्यम से उन्हें इसकी सुन्दर से सुन्दर शिक्षा दी जा सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटक छात्रों को एक कुशल सामाजिक प्राणी, एक कुशल वक्ता तथा एक व्यावहारिक व्यक्ति बनाने में सक्षम हैं।

प्रयोग-विधि अथवा अभिनय-विधि

नाटक-शिक्षण की विशिष्ट विधि प्रयोग विधि है। इसे अभिनय विधि भी कहते हैं। इसके अनुसार नाटक का शिक्षण करते समय सम्पूर्ण नाटक का नियमित रूप से रंगमंच पर अभिनय किया जाता है। इसमें छात्र नाटक में आये हुए विभिन्न पात्रों की वेश-भूषा में यथा सम्भव उन्हीं की वाणी में उनके कार्यों का वास्तविक अभिनय करते हैं जिससे वे नाटक के कथानक, पात्र, वेश-भूषा, परिस्थिति, दृश्य आदि से पूर्णतया परिचित हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी रंगमंच, वेश-भूषा आदि के अभाव में छात्र कक्षा में ही इसका अभिनय करते हैं। इसमें वे न तो वेश-भूषा का ही ध्यान रखते हैं और न तो रंगमंच आदि का ही। वे केवल विभिन्न पात्रों की वाणी तथा कार्य का ही वाचिक एवं कायिक अभिनय करते हैं। कभी-कभी वे इनका मूक अभिनय करते हैं जो क्रिया-प्रधान होता है। पहली अभिनय-विधि व्यावहारिक नहीं जान पड़ती है। इसके लिए पर्याप्त समय, धन, सामग्री, शक्ति आदि की आवश्यकता पड़ती है। दूसरी और तीसरी अभिनय विधियाँ इसकी अपेक्षा अधिक व्यावहारिक हैं। इनका प्रयोग सरलता से किया जा सकता है।

नाटक शिक्षण की दूसरी विधि आदर्श नाट्य-विधि है। इसमें अध्यापक स्वयं सम्पूर्ण नाटक का इस ढंग से वाचन करता है कि विभिन्न पात्रों के भावों

आदर्श नाट्य-विधि

एवं उनके चरित्रों की पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाती है। इस पद्धति की सफलता अध्यापक के वाचन की अनेक रूपता पर निर्भर करती है। वह नाटक का सम्पूर्ण वाचन इसमें आये हुए विभिन्न पात्रों के रूप में करता है। वह शब्दों की व्याख्या न कर उचित वाचिक एवं आंगिक अभिनय द्वारा नाटक में आये हुए विभिन्न संवादों में व्यक्त क्रोध, प्रेम, घृणा, करुणा आदि की अभिव्यक्ति करता है। यह विधि पूर्णतया दोष रहित नहीं है क्योंकि इसमें छात्रों का ध्यान केवल अध्यापक की अभिनय-शैली पर ही केन्द्रित रहता है जिससे इसके द्वारा व्यक्त भावों एवं चरित्रों को वे समझ तो अवश्य जाते हैं किन्तु इससे नाटक-शिक्षण के अन्य उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो पाती है।

नाटक-शिक्षण की तीसरी विधि व्याख्या-विधि है जिसके अनुसार अध्यापक नाटक के कथानक, चरित्र-चित्रण, भाव-सौन्दर्य, भाषा-सौन्दर्य आदि के सम्बन्ध में उपयुक्त प्रश्नों के आधार पर नाटक की विशेषताएँ बनाता है। यथा अभिज्ञान शाकुन्तल का शिक्षण करते समय निम्न प्रकार के प्रश्नों को पूछ कर इसकी विशेषता की ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित किया जा सकता है।

व्याख्या-विधि

कथानक सम्बन्धी प्रश्न—शाकुन्तल के मूल आख्यान का स्रोत क्या है? इसमें कालिदास ने कौन-कौन सा परिवर्तन किया है और क्यों?

शाकुन्तल की विशेषता—इस नाटक का कौन सा अंक सर्वोत्तम है? इसकी क्या विशेषता है? शकुन्तला की दुर्दशा को दिखला कर कालिदास ने युवकों और युवतियों को किस प्रकार की शिक्षा दी है? **पात्र-विशेषता**—कालिदास के हाथों में निर्जीव दुष्यन्त किस प्रकार सजीव और रूक्ष प्रायः शकुन्तला किस प्रकार परम स्निग्ध रूपिणी हो उठती है? आदि। इसी प्रकार इसके अन्य पहलुओं के सम्बन्ध में भी प्रश्न पूछ कर उनकी ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित किया जा सकता है।

उपर्युक्त तीनों विधियों का सम्यक् विवेचन करने से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि ये सबकी सब अलग-अलग नाटक-शिक्षण के लिए उपयुक्त नहीं है। नाटक गद्य-पद्य मिश्रित हुआ करते हैं। अतः इनके शिक्षण के लिए इन सबकी मिश्रित पद्धति ही अत्यधिक उपयुक्त सिद्ध हो सकती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि नाटकों के शिक्षण का क्रम क्या हो? पाठ्य-पुस्तक में दिये हुए संवाद अथवा नाटकों के किसी ऐसे अङ्क, दृश्य या सम्पूर्ण

संवाद को निर्धारित कर लिया जाय जो एक घण्टे में पढ़ाया जा सके और उसे निम्नलिखित क्रम से पढ़ाया जाय—

नाटक शिक्षण-क्रम

सामान्य उद्देश्य, मुख्य उद्देश्य, सहायक सामग्री, पूर्व-ज्ञान, प्रस्तावना, विषयोपस्थापना, संक्षिप्त व्याख्या, पाठाभिनय आदि। जहाँ तक प्रस्तावना का प्रश्न है इसमें केवल कतिपय प्रश्न ही पूछ लेना उचित नहीं होगा। यहाँ पर तो नाटककार का परिचय देने के साथ ही साथ पाठ सम्बन्धी कतिपय महत्त्वपूर्ण बातों को भी छात्रों को बता दिया जाय किन्तु नाटक या संवाद के विषय का परिचय न दिया जाय अन्यथा कथा का कुतूहल समाप्त हो जायगा और नाटक अथवा संवाद के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकेगी। विषयोपस्थापना के अन्तर्गत सम्पूर्ण पाठ का एक ही अन्विति में पठन, शिक्षक द्वारा आदर्श पाठ, छात्रों द्वारा अनुकरण वाचन तथा आवश्यकतानुसार बोध-परीक्षात्मक प्रश्नों का समावेश कर दिया जाय। अध्यापक निर्धारित अंश को इस तरह पढ़े मानो वह रंगमंच पर स्थित सभी पात्रों का पार्ट कर रहा हो। पढ़ते समय उसकी वाणी में उतार-चढ़ाव हो जिससे विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति हो सके। ऐसा करते समय अत्यधिक हाथ-पैर चलाने अथवा आङ्गिक अभिनय करने की आवश्यकता नहीं है। कक्षा द्वारा अनुकरण वाचन कराते समय नाटक के पात्रों की संख्या के अनुसार छात्रों को भी छाँट लिया जाय और उन्हें विभिन्न पात्रों की उक्तियों को देकर उनसे उन-उन पात्रों के संवाद का अनुकरण वाचन कराया जाय। कभी-कभी एक ही छात्र पढ़ता जाय और अध्यापक उस अंश का वाचिक, आङ्गिक तथा सात्त्विक अभिनय करता जाय; पर यह शैली अधिक उपयुक्त नहीं है। अनुकरण वाचन करा लेने के पश्चात् अध्यापक छात्रों से प्रश्न भी पूछे। ये प्रश्न ऐसे हों जिनसे विभिन्न पात्रों के चरित्र पर प्रकाश पड़े, कथानक की बारीकियों का आभास हो सके और छात्रों की कल्पना शक्ति एवं विवेचना शक्ति का विकास हो सके। उनसे ऐसे भी प्रश्न पूछे जायँ कि छोटों, बड़ों, राजाओं, महाराजाओं आदि को किस प्रकार सम्बोधन किया जाय, उनके समक्ष कैसा व्यवहार किया जाय, किसी परिस्थिति विशेष में जिसमें अमुक पात्र ने अमुक ढंग का व्यवहार किया, तुम किस प्रकार का व्यवहार करते, इससे तुम्हें क्या शिक्षा मिलती है आदि।

अन्त में नाटक या संवाद से सम्बद्ध ऐतिहासिक बातों, घटना-क्रमों के मोड़, उसमें प्रयुक्त भाषा, भाव, शैली, प्रकृति विवेचन, सामाजिक चित्रण आदि

के सम्बन्ध में भी छात्रों का ध्यान आकर्षित किया जाय। यह सब कर लेने के पश्चात् सम्पूर्ण पाठ्य-विषय का अभिनय करा दिया जाय क्योंकि वस्तुतः नाटक शिक्षण की यही विधि सर्वश्रेष्ठ विधि है। जहाँ तक इसमें आये हुए श्लोकों या गद्यांशों के पढ़ाने का प्रश्न है, इन्हें अलग-अलग पद्य अथवा गद्य के समान पढ़ा दिया जाय। नाटक पढ़ाते समय शब्दार्थ, व्युत्पत्ति, व्याख्या, सन्धि अथवा समास विग्रह आदि की ओर रंचमात्र भी ध्यान न दिया जाय क्योंकि नाटक भाव प्रधान होते हैं न कि शब्दार्थ प्रधान।

इण्टर कक्षा तक के छात्रों के लिए ऐसे नाटकों का चयन किया जाय जिनमें यथा सम्भव कम से कम पात्र हों, जिनकी भाषा स्पष्ट, प्रवाहपूर्ण, मुहाविरेदार एवं समुचित उपयुक्त उत्तरों से युक्त हो, जिनमें संवाद कथानक के प्रसार एवं पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालते वाले हों, रंग निर्देश तथा नाट्य निर्देश इस प्रकार और इतने स्पष्ट हों कि पात्रों को वेशभूषा धारण करने, अभिनय एवं नाटकीय व्यापार करने यथा प्रवेश करने, बाहर जाने, गिरने उठने, मारने, विलाप करने आदि के लिए समुचित निर्देश मिलते रहें। इनके कथानक से छात्रों का मनोविनोद हो और वे इनसे उदात्त गुणों को सीख भी सकें। नाटक में न तो किसी समाज अथवा धर्म के प्रति और न तो किसी जाति अथवा व्यक्ति पर आक्षेप किया गया हो। उनमें उदात्त गुणों यथा दया, क्षमा, करुणा, सहानुभूति, परोपकार, देशभक्ति, पितृभक्ति, पतिभक्ति, गुरुभक्ति, स्वामिभक्ति, भ्रातृ स्नेह, मातृभक्ति, उदारता, त्याग, वीरता, धार्मिक सहिष्णुता आदि की अभिव्यक्ति की गयी हो। उदाहरणार्थ "स्वामिभक्ता धात्री पन्ना' नामक नाटक को ही ले लीजिए। इसे पढ़ कर इस बात का आभास हो जायगा कि ऐसे नाटक कैसे होने चाहिए।

स्वामिभक्ता धात्री पन्ना

पात्र	परिचय
1. धात्री पन्ना	—महाराज विक्रम सिंह की सेविका तथा उनके पुत्र उदय सिंह की पोषिका।
2. उदय सिंह	—महाराज विक्रम सिंह का पुत्र।
3. बलवीर	—राज परिवार का एक लोलुप सदस्य।
4. रामलः	—एक स्वामिभक्त राजकीय कर्मचारी।
5. चन्दनः	—पन्ना का पुत्र।

स्थान—उदय सिंह का शयन-कक्ष ।

[उदय सिंहः स्वपिति । सहसा रामलः प्रविशति]

रामलः —हन्त ! सर्वनाशः संजातः । हतकः बलवीरः कारागारे महाराजं विक्रमं हत्वा उदयमपि हन्तुं इत एव आगच्छति ।

पन्ना —रामल ! किमद्यजातम् ? कथं प्रलपसि ?

रामलः —अम्ब ! सत्यं वदामि । त्वर्यताम्, त्वर्यताम्, कुमारस्य रक्षोपायः क्रियताम् ।

पन्ना —यदि सत्यं तर्हि उदयं दुर्गात् बहिर्नयस्व ।

रामलः —अम्ब ! त्वया विना कुमारः कथं जीविष्यति ? वने तस्य कः रक्षां करिष्यति ? कुमारं अदृष्ट्वा बलवीरः त्वां हनिष्यति ।

पन्ना —सर्वं निर्णीतं मया । तं वञ्चयिष्यामि । उदयस्य स्थाने कमपि शाययिष्यामि ।

रामलः —कम् ? मातः स्पष्टं वद ।

पन्ना —अरे, एनं चन्दनम्, प्रियं चन्दनम् ।

रामलः —अहो, धन्यासि देवि ! या स्वपुत्रं स्वामिपुत्रस्य रक्षायै मृत्युमुखे निक्षिपसि ।

पन्ना —अलम्, अलम् । समयः अत्येति । उदयं शीघ्रं बहिर्नय । अहम् आगच्छामि ।

[पन्ना वंशपात्रात् पत्रावलीः निःसार्य सावधानतया उदयं तत्र शाययति । उच्छिष्टपत्रैः तमाच्छादयति च । रामलः उदयं नीत्वा बहिर्गच्छति । सा उदयस्य स्थाने चन्दनं शाययति, तं परिचुम्ब्य वस्त्रेण आच्छादयति च । सहसैव रक्तरंजितं खड्गं गृहीत्वा बलवीरः प्रविशति ।

बलवीरः —पन्ने ! निर्दिश, उदयः कुत्र अस्ति ।

पन्ना —बलवीर ! त्वमुदयस्य संरक्षकः असि । किमिदम् आचरसि ?

बलवीरः --विलम्बं मा कुरु। किं त्वं न जानासि यत् शत्रुवधः महत्पुण्यम् अस्ति।

पन्ना —रे शठ ! किं प्रलपसि ? अहं तव कार्ये विघ्नं करिष्यामि। [सा बलवीरात् कृपाणं ग्रहीतुमिच्छति]

बलवीरः --(भर्त्सयन्) पन्ने ! दूरम् अपसर, अन्यथा त्वामपि मारयिष्यामि।

(पर्यङ्कं दृष्ट्वा) किम् अयमेव उदयः ?

पन्ना—तिष्ठ रे नराधम ! तिष्ठ, परलोकात् बिभीहि।

बलवीर—नहि, नहि, शत्रुकण्टकाः अवश्यं दूरीकर्त्तव्याः। अयमेव परमोधर्मः।

[पन्ना तं पृष्ठतः गृह्णाति। बलवीरः पन्नायः बन्धनात् आत्मानं उन्मोच्य चन्दनस्य बधं करोति]

पन्ना—हा राक्षस !

[भूमौ अचेतना निपतित। बलवीरः अट्टहासं कुर्वन् गच्छति]।

पाठ-सूत्र

सामान्य उद्देश्य—1. छात्रों को अवसरानुकूल बातचीत करने का अवसर प्रदान करना।

2. छात्रों का अभिनय करने की शैली से परिचित कराना।

3. उनमें विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल आचरण करने की शिक्षा देना।

4. मानव-प्रकृति एवं चरित्र के परखने की क्षमता उत्पन्न करना।

5. उनके शब्द-भाण्डार एवं भाषा-ज्ञान की वृद्धि करना।

6. प्रभावोत्पादक ढंग से अपने भावों को व्यक्त करने की क्षमता उत्पन्न करना।

मुख्यउद्देश्य—1. छात्रों के समक्ष पन्ना का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उनमें साहस, शौर्य, स्वामिभक्ति आदि उदात्त गुणों का प्रादुर्भाव करना।

2. देश एवं समाज के लिए अपने को न्यौछावर करने की क्षमता उत्पन्न करना।

3. क्रोध, करुणा आदि भावों की अभिव्यक्ति करते हुए बात-चीत करने की शैली का ज्ञान कराना।

सहायक-सामग्री—भारतवर्ष का राजनीतिक मानचित्र एवं अन्य उपकरण।

पूर्व-ज्ञान—छात्र भारतवर्ष के मानचित्र में राजस्थान की भौगोलिक स्थिति का अध्ययन कर चुके हैं। वे मारवाड़ प्रदेश से परिचित हैं।

प्रस्तावना—छात्रों के समक्ष भारतवर्ष का मानचित्र प्रस्तुत कर निम्नलिखित प्रश्न पूछेगा।

1. इस मानचित्र में राजस्थान की स्थिति बताओ।
2. राजस्थान के मारवाड़ प्रदेश की स्थिति दिखाओ।

उद्देश्य कथन—यह मारवाड़ प्रदेश वीर पुरुषों एवं नारियों के साहस, शौर्य त्याग आदि की कहानियों से भरा पड़ा है। इसी प्रदेश की थी पन्ना धाली जिसने अपनी स्वामिभक्ति एवं युक्ति से अपने स्वामी के पुत्र उदयसिंह की क्रूर बलवीर से रक्षा की थी। इसी गाथा का अध्ययन आज हम "स्वामिभक्ता धाली पन्ना" नामक नाटक में करेगें।

आदर्श पाठ—भावानुकूल आरोह-अवरोह के साथ शिक्षक सम्पूर्ण पाठ का आदर्श वाचन करें।

अनुकरण वाचन—कतिपय छात्र सम्पूर्ण पाठ का आदर्श वाचन करें।

बोध-परीक्षात्मक प्रश्न—1. पन्ना कस्य धात्री आसीत् ? (पन्ना किसकी धाय थी) ?

2. बलवीरः कं हन्तुम् अगच्छत् ? (बलवीर किसे मारने गया था) ?

3. सः कस्य वधम् अकरोत् ? (उसने किसका वध किया) ?

विस्तृत व्याख्या—

शब्द	अर्थ	पद्धति
संजातः	हो गया	अर्थ कथन द्वारा
प्रलपसि	प्रलाप कर रहे हो (प्र+लप्+सि)	व्युत्पत्ति द्वारा
त्वर्यताम्	जल्दी करो	(पर्याय कथन द्वारा) शीघ्रतां कुरु
रक्षोपायः	रक्षा का उपाय (रक्षायः उपायः) (रक्षा+उपायः)	समास विग्रह एवं सन्धि विग्रह द्वारा
अदृष्ट्वा	न देखकर (अ+दृश्+क्त्वा)	व्युत्पत्ति द्वारा
वञ्चयिष्यामि	धोखा दूँगी	(अर्थ कथन द्वारा)
शाययिष्यमि	सुला दूँगी	(संकेत द्वारा)
अत्येति	बीत रहा है (अति+एति)	सन्धि विच्छेद द्वारा
अपसर	दूर हट	अभिनय द्वारा
विभीहि	डरो	अर्थ कथन द्वारा

नोट :—इस प्रकार की पद-व्याख्या पहले ही बता देनी चाहिए।

भाव-विश्लेषणात्मक प्रश्न—

रामलः कः आसीत् ? (रामल कौन था) ?

सः पन्नां किं सन्देशम् अकथयत् ? (उसने पन्ना से कौन सा सन्देश कहा।)

सः कस्य रक्षोपायं कर्त्तुम् अकथयत् ? (उसने किसकी रक्षा करने के लिए कहा।)

पन्ना उदयस्य रक्षां कथम् अकरोत् ? (पन्ना ने किस प्रकार उदय की रक्षा की ?)

रामलः तस्य रक्षोपायं श्रुत्वा पन्नां किम् अवदत् ? (रामल ने उसकी रक्षा का उपाय सुनकर पन्ना से क्या कहा ?)

रामलः उदयं दुर्गात् बहिः कथम् अनयत् ? (रामल उदय को किले से बाहर कैसे ले गया ।)

तत्र बलवीरः कं गृहीत्वा आगच्छत् ? (वहाँ बलवीर क्या लेकर आया) ?

सः पन्नां किम् अपृच्छत् ? (उसने पन्ना से क्या पूछा ?)

तं पन्ना किम् अकथयत् ? (पन्ना ने उससे क्या कहा ?)

यदा पन्ना बलवीरात् कृपाणं ग्रहीतुम् ऐच्छत् तदा सःपन्नां किम् अकथयत् ? (जब पन्ना ने बलवीर से कृपाण लेना चाहा तो उसने उससे क्या कहा ।)

बलवीर : उदयस्य स्थाने कस्य वधम् अकरोत् (बलवीर ने उदय के स्थान पर किसका बध किया ?)

चन्दनः कः आसीत् । (चन्दन कौन था ?)

पन्ना इदं रहस्यं बलवीरं कथं न अकथयत् ? (पन्ना ने बलवीर से यह रहस्य क्यों नहीं बताया ?)

अनेन तस्याः कस्य गुणस्य आभासः अभवत् ? (इससे उसके किस गुण का आभास होता है ?)

पन्ना बलवीरयोः त्वं कं प्रति श्रद्धां करोषि ? (पन्ना और बलवीर में से तुम किसके प्रति श्रद्धा करते हो ?)

कं प्रति घृणां करोषि ?

सम्पूर्ण पाठ का अभिनय--छात्रों द्वारा सम्पूर्ण पाठ का अभिनय किया जाय। एक छात्र पन्ना, दूसरा रामल, तीसरा बलवीर, चौथा उदय और पाँचवा चन्दन का अभिनय करें।

गृह-कार्य—पन्ना के संबन्ध में दस वाक्य संस्कृत में लिखो यथा—पन्ना उदयस्य धात्री आसीत् । सा महाराज विक्रमस्य सेविका आसीत् आदि ।

सारांश

किसी भी अवस्था के अनुकरण को नाट्य कहते हैं । इसमें शरीर के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग एवं गति के माध्यम से मनुष्य स्वभाव को व्यवस्थित करके उसका अभिनय किया जाता है । इसीलिए इसे नाट्य कहते हैं । नाट्यकार का मुख्य

ध्येय रसोन्मेष होता है। नाट्य के दूसरे सारे तत्त्व, व्यापार, चरित, संविधानक योजनाएँ आदि इसी की पूर्ति हेतु गौण रूप से विद्यमान रहती हैं। नाटक उपदेश प्रद, विनोद प्रद तथा विश्रान्ति प्रद हुआ करते हैं। ये आनन्द देने के साथ-ही-साथ चरित्र को उदार बनाने, जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने तथा उसे आदर्श बनाने का कार्य करते हैं।

भारतीय नाट्यकार की दृष्टि में जीवन का उद्देश्य आनन्द की प्राप्ति है। वे कर्त्तव्य परायण एवं सत्यनिष्ठ व्यक्ति के जीवन का अन्त दुःखद नहीं देखना चाहते हैं। इसी दृष्टिकोण से संस्कृत के सभी नाटक सुखान्त हैं और सुखान्तता ही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है।

विद्यालयों में संस्कृत नाटक-शिक्षण के निम्नलिखित चार उद्देश्य हैं—अवसरानुकूल वार्त्तालाप करने एवं उच्चारण करने की शिक्षा देना, जीवन की विभिन्न परिस्थितियों, दशाओं और मानसिक अवस्थाओं में मानव स्वभाव एवं उसके चरित्र का अध्ययन कराना, उन्हें इस बात की भी शिक्षा देना कि इन अवस्थाओं में किस तरह का व्यवहार करना आवश्यक और निरापद होता है तथा छात्रों में शुद्ध-शुद्ध उच्चारण करने, बोलने, अभिनय करने, तथा अवसरानुकूल अपने भावों को व्यक्त करने की क्षमता उत्पन्न करना।

नाटक-शिक्षण की प्रमुख तीन शिक्षण विधिया हैं—प्रयोग विधि अथवा अभिनय विधि, आदर्श नाट्य विधि, तथा व्याख्या विधि। इनको निम्नलिखित क्रम से पढ़ाया जाय—सामान्य उद्देश्य, मुख्य उद्देश्य, सहायक सामग्री, पूर्वज्ञान, प्रस्तावना, विषय-प्रवेश, संक्षिप्त व्याख्या, पाठाभिनय, गृह-कार्य आदि।

प्रश्न

1. नाटक किसे कहते हैं ? इनके लक्षणों एवं उद्देश्यों का विशद विवेचन कीजिए।
2. "संस्कृत नाटक की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी सुखान्तता"—इसे सिद्ध कीजिए।
3. संस्कृत नाटक-शिक्षण के उद्देश्यों का सम्यक् विवेचन कीजिए।
4. नाटक शिक्षण विधियों की सोदाहरण विस्तृत व्याख्या कीजिए।
5. नाटक शिक्षण-क्रम का विस्तृत वर्णन करते हुए कक्षा 8 के छात्रों के लिए एक आदर्श पाठ-सूत्र तैयार कीजिए।

सहायक पुस्तकों की सूची

1. संस्कृत शिक्षण—डा० रामशकल पाण्डेय ।
2. भाषा शिक्षण—आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ।
3. संस्कृत साहित्य का इतिहास—आचार्य बलदेव उपाध्याय ।
4. संस्कृत नाटकों में समाज चित्रण—डा० चित्रा शर्मा ।
5. नाट्य शास्त्र—भरत ।
6. मालविकाग्निमित्र—कालिदास ।

अध्याय 21

संस्कृत-पाठ्य-पुस्तक

प्रस्तावना

भारत की सांस्कृतिक भाषा होने पर भी जहाँ एक ओर सारे संसार में दिन पर दिन संस्कृत का अध्ययन बढ़ता जा रहा है, वहीं भारत में उसके प्रति छात्रों की उदासीनता बढ़ती जा रही है। छात्र संस्कृत के नाम से आतंकित हो उससे दूर रहना चाहते हैं। अनेक अंग्रेजी विद्यालयों एवं संस्कृत पाठशालाओं में संस्कृत अध्यापक छात्रों के अभाव का रोना रोते दिखाई पड़ते हैं। आखिर यह क्यों ? उत्तर स्पष्ट है। हमारे यहाँ की संस्कृत-शिक्षण-पद्धति दोष पूर्ण है, पाठ्य-पुस्तकें शिक्षा मनोविज्ञान एवं बालमनोविज्ञान के आधार पर नहीं लिखी गयी हैं तथा संस्कृत अध्यापक शिक्षण-पद्धति से अनभिज्ञ हैं। वे अप्रशिक्षित हैं। यही कारण है कि आज संस्कृत का इतना पतन है।

पाठ्य-पुस्तकों की उपादेयता

पाठ्य-पुस्तक अध्यापन-कला का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। प्राचीन काल में पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता न थी क्योंकि उस समय की मौखिक शिक्षा की परम्परा में सारी बातें गुरुमुख से सुन कर ही कण्ठस्थ कर ली जाती थीं। उस समय व्यक्तिगत रूप से शिक्षा दी जाती थी। पर आज इस प्रकार के शिक्षण का स्थान सामूहिक शिक्षण ने ले लिया है। अतः पाठ्य-पुस्तकों की उपादेयता बढ़ गयी है और वे ही आजकल की शिक्षण-पद्धति का केन्द्र-बिन्दु बन गयी हैं। यही शिक्षा की आधार शिला है जिन पर अध्यापक एक कुशल कारीगर की भाँति अपने शिष्यों के ज्ञान-मन्दिर की रचना करता है।

संस्कृत-पाठ्य-पुस्तकों की दयनीय दशा

संस्कृत-पाठ्य-पुस्तकों का इतना महत्त्व होने पर भी आज इनकी इतनी दयनीय दशा क्यों है, इसे भी जान लेना आवश्यक है। इसका पहला कारण तो यह है कि संस्कृत-पाठ्य-पुस्तकों के लिए निर्धारित पाठ्य-क्रम छात्रों के बौद्धिक-स्तर के अनुकूल नहीं हैं। यह प्रायः कक्षा-स्तर से ऊँचे होते हैं और इनका

विस्तार भी अधिक होता है। फलतः इनके आधार पर तैयार की गयी पाठ्य-पुस्तकें कठिन होती हैं और उनका विस्तार अधिक हो जाता है जिनके समझने में साधारण छात्रों को कठिनाई होती है। दूसरे इन पाठ्य-पुस्तकों को तैयार करने के निमित्त शिक्षा विभाग द्वारा निर्धारित नियम इतना विस्तृत नहीं होता जिससे वह लेखकों का पूर्ण रूप से पथ-प्रदर्शन कर सके। इनसे यह भी स्पष्ट नहीं हो पाता है कि ये पुस्तकें किस प्रकार की होनी चाहिए तथा उनका क्या उद्देश्य होना चाहिए। इसके अतिरिक्त इन पुस्तकों की रचना के लिए पर्याप्त समय भी नहीं दिया जाता है। तीसरे प्रायः वे अध्यापक, जो छात्रों के सम्पर्क में रहते हैं, पुस्तकों को लिखने के लिए प्रोत्साहित नहीं किये जाते हैं। यदि किसी तरह इन्हें इन पुस्तकों को लिखने का अवसर भी मिला तो वे पुस्तकों को लिखने के समुचित साधनों के अभाव के कारण उन्हें ठीक ढंग से तैयार नहीं कर पाते हैं। इन पाठ्य-पुस्तकों की रचना तो वे अध्यापक और लेखक करते हैं जो प्रारम्भिक कक्षाओं के छात्रों के सम्पर्क में नहीं रहते हैं। वे प्रायः विश्वविद्यालयों अथवा बड़े-बड़े महाविद्यालयों के प्राध्यापक हुआ करते हैं जिससे उनकी लिखी हुई पाठ्य-पुस्तकें छात्रों के बौद्धिक-स्तर के अनुकूल नही होती हैं। चौथे इन पाठ्य-पुस्तकों में प्रयुक्त भाषा भी प्रायः क्लिष्ट हुआ करती है। इनमें समासों एवं सन्धियों की भरमार रहती है जिससे ये और भी दुरूह हो जाती हैं और छात्रों को इनके पढ़ने में कठिनाई होती है। पाँचवें इन पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशक भी इन छात्रों की ओर से उदासीन रहते हैं। वे भी उच्चकोटि की पुस्तकें प्रकाशित करने का कष्ट नहीं करते हैं। ये न तो किसी विशेष शिक्षण-पद्धति के आधार पर ही लिखी जाती हैं और न तो इनमें पर्याप्त चित्र ही रहते हैं जिससे अध्यापकों को भी पढ़ाने में कठिनाई होती है। इन पुस्तकों का ठीक ढंग से चयन भी नहीं होता है।

संस्कृत पाठ्य-पुस्तकों की विषय-सामग्री

इन पाठ्य-पुस्तकों की दशा को सुधारने के लिए क्रम-सिद्धान्त के आधार पर पद्य की अपेक्षा गद्य को प्राथमिकता दी जाय। प्रारम्भिक कक्षाओं के छात्र जो मातृ-भाषा के गद्य से परिचित रहते हैं, संस्कृत पद्य की अपेक्षा संस्कृत गद्य को सरलता से समझ सकते हैं। विभिन्नता लाने के लिए बीच-बीच में पद्य का भी पुट दिया जाय और इनमें पंचतंत्र तथा हितोपदेश में प्रयुक्त भाषा-शैली का प्रयोग किया जाय। इन कक्षाओं के लिए छात्रों की योग्यता के अनुसार नये पाठों की रचना की जाय जिनमें घरेलू, नित्य प्रयोग में आने वाले एवं छात्रों के वाता-

वरण से सम्बद्ध विषयों का वर्णन हो। इनसे आरम्भ कर साधारण कहानियों, नाटकों के सरल उद्धरणों एवं सरल गद्य-खण्डों का चयन किया जाय। महाभारत तथा रामायण से धार्मिक कहानियों, कथा सरित्सागर, भोजप्रबन्ध, वेताल पंच-विंशति, भट्टक द्वात्रिंशतिका आदि ग्रंथों से प्राचीन जन-श्रुतियों काल्पनिक कहानियों, पंचतंत्र तथा हितोपदेश से जानवरों की कहानियों एवं रामायण आदि ग्रन्थों से विभिन्न ऋतुओं, स्थानों के वर्णन आदि का संग्रह किया जाय अथवा इनको सरल संस्कृत में लिख कर इन पुस्तकों में सम्मिलित किया जाय। पुस्तकों की रचना 'ज्ञात से अज्ञात' तथा सरल से कठिन की ओर के आधार पर की जाय। प्रारम्भ में सरल एवं सुभाषित पद्यों से आरम्भ कर क्रमशः ऐसी उदात्त कविताओं का समावेश किया जाय जिनमें सुरुचि, भाव, सरलता तथा उदात्त प्रवृत्तियों को उत्पन्न करने की क्षमता हो। इन पद्यों का चयन रामायण, महाभारत, गीत गोविन्द, रघुवंश आदि ग्रन्थों से किया जाय।

संस्कृत पाठ्य-पुस्तकों में प्रयुक्त भाषा

इन पाठ्य-पुस्तकों की भाषा बालकों की अवस्था के अनुसार प्रारम्भ में सरल फिर क्रमानुसार कठिन होनी चाहिए। सरल एवं छोटे वाक्यों से आरंभ कर क्रमशः संयुक्त एवं मिश्रित वाक्यों का प्रयोग करना चाहिए। प्रारम्भिक कक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकों में प्रयुक्त शब्द सरल और थोड़े हों। जहाँ तक हो सके केवल ऐसे ही शब्दों का प्रयोग किया जाय जिनके अर्थों एवं रूपों से विद्यार्थी हिन्दी में परिचित हों। ऐसे नये शब्दों का पाठ में बार-बार प्रयोग होना चाहिए जिन्हें बालक उत्साहपूर्वक सीखने के लिए उत्सुक रहें और उनका अर्थ सरलता से उनकी समझ में आ जाय। इन पुस्तकों में सन्धियों एवं समासों का प्रयोग न हो। भाषा अध्ययन के लिए तथा वाणी प्रयोग के लिए होती है। जब हम शब्दों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं, तब हम भाषा संबंधी ज्ञान प्राप्त करते हैं, किन्तु जब हम उनके द्वारा अपने भावों को व्यक्त करते हैं तब हम उनका वाणी से संबन्ध स्थापित करते हैं। प्रथम का शब्दों से तथा दूसरे का भावों से संबन्ध होता है। जब बालक मातृभाषा के अतिरिक्त दूसरी भाषा का अध्ययन करता है तब वह उसी भाषा में अपने भावों को व्यक्त करना चाहता है। वह उस भाषा की सत्यता का अनुभव उसी समय करता है जब कि वह उसके माध्यम से अपने भावों को व्यक्त करता है। अतः भावों की अभिव्यक्ति के लिए ऐसे शब्दों के ज्ञान की आवश्यकता है जो दैनिक जीवन में व्यवहृत होते हैं, यथा विद्यालय संबन्धी शब्द—श्यामपट्ट, अध्यापक, पुस्तक, कक्षा, छात्र,

पुस्तकालय, आसन, आदि, घर में प्रयोग किये जाने वाले शब्द—पितृ, मातृ, स्वस्ट, दुहितृ, पुत्र, भृत्य आदि, खाद्य-सामग्री सम्बन्धी शब्द—गोधूम, ओदन, शाक, शर्करा, घृत, दुग्ध आदि, साधारण क्रियाएँ—गम्, पठ्, दृश्, वद्, पिब्, पृच्छ्, धाव् आदि, क्रिया विशेषण—कुत्र, कथम्, कदा, यदा, किम्, तदा, यत्र, तत्र, सर्वत्र, अधस्, बहिस्, ह्यस्, श्वस् आदि। प्रारम्भिक कक्षाओं में इसी प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया जाय। इन पुस्तकों की रचना इस प्रकार हो जिससे वे 'रीडर[1]' और 'रचना' दोनों की पुस्तकों का कार्य दे सके। एक पाठ में केवल ऐसे ही शब्दों का प्रयोग हो जिनका रूप एक सा चलता हो, यथा, बालक, वानर, छात्र आदि। अध्यापक 'पक्षिन्' शब्द का प्रयोग न कर 'खग' शब्द का प्रयोग करे जिसके रूप से छात्र सुगमता से परिचित हो सकें। व्याकरण सम्बन्धी बातों को पुस्तक भर में इस प्रकार वितरित कर दिया जाय जिससे वे साहित्य के सौन्दर्य को कम न कर सकें। मूल उद्देश्य भाषा का ज्ञान प्राप्त कराना है न कि व्याकरण[2] का। व्याकरण तो भाषा को परिष्कृत करने के लिए होता है।

बेसिक अंग्रेजी की भाँति संस्कृत की शब्दावली

इन पुस्तकों की रचना के लिए बेसिक अंग्रेजी की भाँति उपरिलिखित संकेतों के आधार पर बेसिक संस्कृत की भी एक ऐसी शब्दावली तैयार कर ली जाय जिसका प्रयोग संस्कृत की प्रारंभिक पुस्तकों में किया जा सके। सेन्ट्रल पेडागाजिकल इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद तथा इस प्रकार की दूसरी संस्थाओं को इन शब्दों की सूची 'आधुनिक शब्द परीक्षा'[3] के आधार पर तैयार करनी चाहिए और इन्हीं के आधार पर पुस्तकों के लिए निकष भी तैयार करना चाहिए जिससे लेखकों को पुस्तकों की रचना में सुविधा

---

1. "It should serve the double purpose of a guide to composition and that of a 'Reader'—Benoy Kumar Sarkar.
2. "No preliminary training in generalisations and definitions of grammar is therefore required and the studeents may be at-once introduced to the sentences as the nit of thought and empression."— Benoy Kumar Sarkar.
3. Vocabulary Test.

हो। इस तरह तैयार की हुई पुस्तकें विद्यार्थियों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं।

इन पुस्तकों के अन्तर्गत आये हुए पाठों की रचना कक्षानुकूल शिक्षण-पद्धति के अनुसार होनी चाहिए। पाठों का शिक्षण-पद्धति के साथ समन्वय होना परमावश्यक है। संस्कृत की वर्तमान पाठ्य-पुस्तकों में इस सिद्धान्त की प्रायः उपेक्षा की गयी है। पुस्तक के अन्त में दिये गये परिशिष्ट में उल्लिखित संस्कृत शिक्षण संबन्धी पद्धतियों से सम्बद्ध प्रश्नावली के उत्तर में प्राप्त संकेतों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि प्रारम्भिक कक्षाओं की पुस्तकों में आये हुए पाठों की रचना में सुगम प्रणाली, कथोपकथन प्रणाली, देखो और कहो प्रणाली आदि का प्रयोग किया जाना चाहिए। यदि इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाय तो यह कहा जा सकता है कि वर्तमान संस्कृत पाठ्य-पुस्तकों में इसका कम प्रयोग हुआ है। इनमें तो प्रायः 'अनुवाद-पद्धति' का ही अनुसरण किया गया है जिसका एक मात्र आधार व्याकरण ही है। व्याकरण के आधार पर रचे गये पाठ शुष्क एवं अरुचिकर होते हैं। वे भाषा को और क्लिष्ट बना देते हैं। ऐसे पाठों में 'भाव प्रकाशन' का कोई स्थान नहीं होता है।

पुस्तकों की रचना का आधार कक्षानुकूल शिक्षण-पद्धति

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार केवल एक ही नियम एक बार पढ़ाना चाहिए। प्रत्येक बात के सीखने का कोई न कोई आधार होता है जिसकी उत्पत्ति साहचर्य (असोसियेशन अथवा बाण्ड्स) से होती है। प्रत्येक असोसियेशन के स्थापित होने के लिए कुछ समय की आवश्यकता होती है। यदि इसकी स्थापना के लिए पर्याप्त अवसर न दिया गया और कोई दूसरी बात किसी दूसरे 'असोसियेशन' के आधार पर सिखायी गयी, तो इससे अड़चन उत्पन्न हो सकती है। ऐसी कठिनाइयों को दूर करने के लिए केवल एक ही नियम एक बार बतलाना चाहिए। वर्तमान संस्कृत पाठ्य-पुस्तकों में इस सिद्धान्त की उपेक्षा की गयी है और एक ही पाठ में एक से अधिक नियमों को सिखाने का यत्न किया गया है।

एक बार में एक ही नियम के शिक्षण का सिद्धान्त

पाठ में वर्णित विषयों का चयन इस प्रकार किया जाय जिससे उस श्रेणी के योग्य दूसरे विषयों का भी ज्ञान होता चले। विषय ऐसे न हों जिनका उस

संस्कृत पाठ्य-विषयों का अन्य विषयों के साथ समन्वय

कक्षा के अन्य विषयों से कोई संबन्ध न हो, यथा छठी कक्षा में भारतवर्ष का भूगोल पढ़ाया जाता है किन्तु उस कक्षा की संस्कृत की पुस्तक में जापान के लोगों के रहन-सहन की चर्चा की जाती है। ऐसा करना उचित नहीं है। अतः कक्षा के अन्य विषयों के पाठ्य-क्रम पर भी दृष्टिपात कर पाठों का इस प्रकार संग्रह किया जाय जिससे इनका दूसरे विषयों से संबन्ध हो और जिनसे उनके सम्यक् ज्ञान-प्राप्ति में सहायता मिल सके।

पुस्तक में पाठ इस क्रम से रखे जायँ कि जिससे पूर्व और पर का संबन्ध बना रहे। पहले के पढ़े हुए पाठ आगे आने वाले पाठों को समझने में सहायक हों। प्रत्येक पाठ कड़ी की भाँति विषय रूपी लड़ी में गुम्फित हों। इनके अलग-अलग रहने पर अर्जित ज्ञान का कोई क्रम न होगा और छात्रों को दूसरे पाठ के समझने में कठिनाई होगी। अतः पाठ शृंखला बद्ध हों और उनका क्रमिक विकास हो। पाठों का उचित क्रम छात्रों को नवीन वस्तु सीखने के लिए स्वतः प्रेरित करता है। वे सदैव उस अवसर की खोज में रहते हैं जहाँ के पूर्वार्जित ज्ञान का परज्ञानार्जन में उपयोग कर सकें। पाठों का अन्त इस प्रकार किया जाय कि जिससे छात्र आगे आने वाले पाठ को पढ़ने के लिए लालायित हो उठें। पुस्तक के पाठ ज्ञान-मन्दिर के सोपान हैं जिनके आधार पर अध्यापक छात्र को क्रमशः अभीष्ट देव तक पहुँचाता है।

प्रत्येक पाठ में परस्-पर पूर्व-पर सम्बन्ध हो

पाठ्य-पुस्तक का प्रत्येक पाठ उतना ही बड़ा हो जितना कि विद्यालय के एक घण्टे में भली-भाँति पढ़ाया जा सके। यदि ऐसा सम्भव न हो सके तो उसे ऐसे भागों में विभक्त कर दिया जाय कि जिससे प्रत्येक भाग एक घण्टे में पढ़ाया जा सके। लम्बे पाठों को देखकर छात्र घबरा उठते हैं। उस पाठ को पढ़ने में उन्हें अरुचि हो जाती है। यदि पाठों का परिमाण उचित होता है तो छात्र उन्हें देखकर एक विचित्र प्रकार का सन्तोष व्यक्त करते हैं और विषय की कठिनाई उन्हें खलती नहीं है।

पाठ इतने बड़े हों कि एक घण्टे में समाप्त हो जायँ

पाठ्य-पुस्तकों के प्रत्येक पाठ के अन्त में उचित प्रश्नों तथा अभ्यासों का होना आवश्यक है। यहाँ पर आवृत्यात्मक प्रश्नों का होना मनोवैज्ञानिक दृष्टि

से लाभप्रद होता है। यह स्थल पाठान्तर्गत नियमों के प्रयोग का होता है। अतः अभ्यास के अन्तर्गत रिक्त स्थानों की पूर्ति, शब्दों एवं मुहाविरों का वाक्य में प्रयोग, तत्सम् तद्भव शब्दों संबन्धी अभ्यास, कक्षानुकूल वाक्यों का हिन्दी में अनुवाद आदि का समावेश किया जाय। इस संबन्ध में रचना संबन्धी पाठों, कहानी कथन पद्धति वाले पाठ तथा मूल्यांकन वाले पाठ में भी अभ्यासों की सूची दी हुई है।

पाठ्य-पुस्तकों में सुन्दर चित्र हों

वर्तमान संस्कृत पाठ्य-पुस्तकों में उपरिवर्णित बातों की उपेक्षा है। इन पुस्तकों में जहाँ ये दोष हैं, वहीं एक दोष यह भी है कि इनमें उचित सुन्दर, आकर्षक, उदात्तभावों को जागरित करने वाले तथा पाठ में आये हुए भावों को व्यक्त करने वाले चित्रों का अभाव है। यह स्मरणीय है कि इस प्रकार के चित्र पाठ्य-पुस्तकों को पढ़ाने के लिए प्रेरणा उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। बालक चित्र-प्रिय होते हैं। ऐसे चित्रों से युक्त पुस्तकों को देखकर वे मचल उठते हैं और कम से कम एक बार उन्हें देखे तथा उनके किसी न किसी भाग को पढ़े बिना नहीं रहते हैं। पाठ की अधिकांश बातों को वे चित्र देखकर ही समझ जाते हैं। इन चित्रों को सुन्दर, आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक बनाने का दायित्व प्रकाशकों एवं लेखकों पर है। लेखक चित्रों की रूपरेखा भली-भाँति बता कर प्रकाशकों की सहायता कर सकते हैं। क्योंकि इन्हें ही इन पुस्तकों को सजाना एवं बालकों की रुचि के अनुकूल मुद्रित करना होता है। पुस्तकों में पतले, छोटे, टेढ़े मुँह वाले अक्षरों तथा सजे हुए अक्षरों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। काले एवं बड़े अक्षरों का ही प्रयोग किया जाना चाहिए। इनमें 12 प्वाइण्ट से कम पाईका वाले अक्षरों को काम में नहीं लाना चाहिए। दो शब्दों के बीच कम से कम 1/8 इंच का अन्तर होना चाहिए। यह अन्तर अक्षरों के आकार के अनुपात से घटना और बढ़ना चाहिए।

काले एवं बड़े अक्षरों के ही प्रयोग वांछनीय

संस्कृत पाठ्य-पुस्तकों की रचना के सिद्धान्तों का विवेचन कर लेने के पश्चात् उनके चयन के सिद्धान्तों पर भी प्रकाश डालना अत्यन्त आवश्यक है! इसमें तो किसी प्रकार का संदेह है ही नहीं कि हम बच्चों को सर्वोत्तम पुस्तक ही पढ़ने के लिए देना चाहते हैं। इस ध्येय की पूर्ति उसी समय होगी जब कि हम स्वीकृत्यर्थ समर्पित सभी पुस्तकों की भली-भाँति परीक्षा

संस्कृत पाठ्य-पुस्तकों के चयन-सिद्धान्त

कर सर्वोत्तम पुस्तक का ही चुनाव करें। इस प्रकार की पुस्तकों का चयन करते समय कतिपय नियमों का पालन किया जाय जो इस प्रकार हैं—योग्य समीक्षकों का चयन, उनके कार्यों का निर्धारण, पुस्तकों की समीक्षा करने के लिए पर्याप्त समय निर्धारण, समीक्षकों को उचित पारिश्रमिक का दिया जाना, इनके कार्यों की पूर्ण छान-बीन, विशेषज्ञों की कमेटी द्वारा अन्तिम निर्णय।

उपरिलिखित पाठ्य-पुस्तकों की रचना के सिद्धान्त पर योग्य, अनुभवी एवं प्रशिक्षित लेखकों द्वारा लिखी गयी पुस्तकों के चयन हेतु विशेषज्ञों की कमेटी तीन समीक्षकों का चयन करे। इन समीक्षकों का चयन करते समय निम्नलिखित बातों पर अवश्य ध्यान दिया जाय जो इस प्रकार है—

योग्य समीक्षकों का चयन

इन समीक्षकों का चयन केवल विभागीय अधिकारियों अथवा ऐसे लोगों में से किया जाय जिससे उन पर विभाग का नियंत्रण रह सके। ऐसे प्रत्येक समीक्षक संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान हों, 'पूर्व' और 'पश्चिम' दोनों के ज्ञाता हों तथा आधुनिक शिक्षण-पद्धति से परिचित हों। इन्हें कम से कम पाँच वर्ष का संस्कृत शिक्षण अथवा निरीक्षण का अनुभव हो। इन समीक्षकों के पास पुस्तकों की समीक्षा करने के लिए पर्याप्त समय हो। ये निःस्वार्थ भाव से कार्य करने वाले अपनी ईमानदारी के लिए ख्याति प्राप्त व्यक्ति हों।

समीक्षकों के कार्य

इन बातों को ध्यान में रखकर योग्य समीक्षकों का चुनाव कर लेने के पश्चात् उनके कार्यों को भी निश्चित कर दिया जाय। उनका मुख्य कर्त्तव्य प्रत्येक पुस्तक के गुण-दोष का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन करना है तथा उन्हें 'प्रपत्र क'[1] के आधार पर प्रत्येक

---

1. प्रपत्र-क

पुस्तक संख्या.....विषय.....कक्षा.....

.....सम्बन्धी अशुद्धियाँ

क्रम संख्या	पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध

पुस्तक के संबन्ध में विशद व्याख्या देनी है। इस प्रपत्र में विषय, भाषा, व्याकरण, चित्र एवं मुद्रण संबन्धी अशुद्धियों का उल्लेख किया जाय। पुस्तक में इन अशुद्धियों के संबन्ध में संकेत करने के लिए क्रमशः वि[1], भा, व्या, चि, मु आदि का प्रयोग किया जाय। इन अशुद्धियों को प्रपत्र के निर्दिष्ट स्तम्भ में पृष्ठ एवं पंक्ति संख्या का उल्लेख करते हुए अंकित कर दिया जाय। इनके समक्ष शुद्ध रूप भी लिख दिये जायँ। एक तरह की अशुद्धियों का उल्लेख एक ही प्रपत्र में हो। विभिन्न प्रकार की अशुद्धियों का पृथक्-पृथक् 'प्रपत्र-क' में उल्लेख कर लेने के पश्चात् समीक्षकों को निम्नलिखित प्रश्नों का भी उत्तर देना चाहिए जो इस प्रकार हैं :—

(1) क्या पुस्तक निर्धारित पाठ्य-क्रम के अनुकूल तैयार की गयी है ? यदि नहीं तो इसमें किन-किन बातों का पालन नहीं किया गया है ? (2) क्या पुस्तक निर्धारित निकष (Criteria) के आधार पर लिखी गयी है ? यदि नहीं तो इसके किन-किन अंशों का पालन नहीं किया गया है। (3) क्या पुस्तक के पृष्ठों की संख्या निर्धारित संख्या से अधिक, कम अथवा उसके बराबर है ? (4) क्या पुस्तक का मुद्रण उचित है ? क्या शीर्षक बड़े तथा मोटे टाइप में और प्रश्न, अभ्यास आदि छोटे तथा पतले टाइप में मुद्रित हैं ? क्या एक पृष्ठ के अक्षर तथा चित्र दूसरी ओर तो नहीं दिखलाई दे रहे हैं ? क्या पुस्तक में काली स्याही के अतिरिक्त किसी दूसरे रंग की स्याही का प्रयोग किया गया है ? क्या पुस्तक के लिए प्रयुक्त कागज़ निर्धारित 'पौण्ड' का है अथवा नहीं ? (5) क्या पुस्तक में दिये गये चित्र उचित, आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक हैं और विशिष्ट भावों को समझने में छात्रों के लिए उपयोगी हैं ? (6) क्या पुस्तक के अन्तर्गत आये हुए पाठ विद्यार्थियों के बौद्धिक-स्तर, व्याकरण और अवस्था के अनुकूल हैं ? (7) क्या इन पाठों की भाषा संस्कृत मुहाविरों एवं वाक्य-रचना-प्रकार के अनुकूल है और इन पाठों का क्रम ठीक है ? (8) क्या पाठ संस्कृत भाषा के प्रति रुचि उत्पन्न करने वाले हैं ? (9) क्या पाठ विद्यार्थियों के उदात्त भावों को जागृत कराने में सहायक हैं ?

---

1. वि = विषय सम्बन्धी अशुद्धियां; व्या = व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियां; भा = भाषा सम्बन्धी अशुद्धियां; चि = चित्र सम्बन्धी अशुद्धियां। मु = मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियां।

'प्रपत्र-क', उपरिलिखित प्रश्नों की सूची, पाठ्य-क्रम तथा निकष प्रत्येक समीक्षक के पास भेज दिया जाय। इन समीक्षकों को समीक्षा करने के निमित्त पुस्तकों की संख्या के अनुसार पर्याप्त समय दिया जाय।

अन्य आवश्यक बातें शीघ्रता में किये गये प्रत्येक कार्य का बुरा परिणाम होता है। पर्याप्त समय देने के साथ ही साथ उन्हें उचित पारिश्रमिक भी दिया जाय। समीक्षकों को इन पुस्तकों की समीक्षा करने के लिए कठिन परिश्रम करना होगा। अतः उनको इसके लिए उचित पारिश्रमिक देना आवश्यक है। उनकी परिश्रम की प्रशंसा के उपलक्ष्य में उनका नाम पुस्तक के भीतरी मुख पृष्ठ पर 'समीक्षक अमुक' के रूप में अवश्य मुद्रित कर दिया जाय। इससे उनको मानसिक सन्तोष होगा और उनसे जब कभी भी कार्य के सम्पादन के लिए आग्रह किया जायगा, तब वे सहर्ष उसे करने के लिए तैयार हो जायँगे।

पुस्तकों की इस प्रकार समीक्षा करा लेने के पश्चात् विशेषज्ञों की एक कमेटी द्वारा इन समीक्षकों की छान-बीन करायी जाय। यह कमेटी पुस्तकों के लिए अंक भी प्रदान करे। अंकों का विभाजन निम्नलिखित ढंग से किया जाय—

(क) विषय संबन्धी अशुद्धियाँ—	30 अंक (प्रत्येक अशुद्धि के लिए 5 अंक काटे जायँ)।
(ख) व्याकरण संबन्धी अशुद्धियाँ—	30 अंक (प्रत्येक अशुद्धि के लिए दो अंक काटे जायँ)।
(ग) भाषा संबन्धी अशुद्धियाँ—	10 अंक (प्रत्येक अशुद्धि के लिए एक अंक काटा जाय)।
(घ) चिह्न संबन्धी अशुद्धियाँ—	10 अंक (प्रत्येक अशुद्धि के लिए दो अंक काटे जायँ)।
(च) मुद्रण-संबन्धी-अशुद्धियाँ—	20 अंक (प्रत्येक अशुद्धि के लिए एक अंक काटा जाय)।
	पूर्णाङ्क 100 प्राप्तांक·····

प्रत्येक प्रकार की अशुद्धि के लिए प्रयुक्त 'प्रपत्र-क' के अन्त में एक और स्तम्भ बनाकर अंकों को उसमें अंकित कर दिया जाय। तत्पश्चात् 'प्रपत्र-ख'[1] के अनुसार एक स्पष्ट विवरण तैयार कर लिया जाय।

विशेषज्ञों की समिति द्वारा इन पुस्तकों की समीक्षा

इस प्रकार समीक्षकों द्वारा दिये गये समीक्षा-विवरण की भली-भाँति छान-बीन कर लेने के पश्चात् अन्तिम निर्णय पर पहुँचा जाय। इस प्रकार इस प्रपत्र के आधार पर निर्णीत पुस्तकें ही स्वीकृत की जायँ। ये पुस्तकें छात्रों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होगीं। इन पुस्तकों की उपयोगिता की जाँच के लिए प्रत्येक जिला विद्यालय निरीक्षक से इनके बारे में कम से कम पाँच विवरण पत्र मँगवा कर यह भी देख लिया जाय कि ये पुस्तकें बच्चों के बौद्धिक-स्तर के अनुकूल हैं या नहीं। इन विवरण-पत्रों को इन पुस्तकों के

---

1. प्रपत्र–ख

पुस्तक संख्या.....विषय.....कक्षा.....

क्रम संख्या	प्रथम समीक्षक द्वारा दिये गये अंक	द्वितीय समीक्षक द्वारा दिये गये अंक	तृतीय समीक्षक द्वारा दिये गये अंक	विशेषज्ञों की समिति द्वारा दिये गये अंक	योग	विवरण

पढ़ाने वाले अध्यापक ही तैयार करें। ये विवरण-पत्र 'प्रपत्र-ग'[1] के अनुसार तैयार किये जायँ। इन विवरण-पत्रों के आधार पर पुस्तकों की अच्छाई-बुराई का ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् इन पुस्तकों को अन्तिम रूप से स्वीकृत किया जाय। आशा है, इस प्रकार स्वीकृत पुस्तकें विद्यार्थियों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होंगी।

इस प्रपत्र में निम्न प्रश्नों का उत्तर दिया जाय :—

1—उन पाठों, पृष्ठों, अनुच्छेदों एवं पंक्तियों का उल्लेख किया जाय जो विद्यार्थियों के बौद्धिक-स्तर से उच्च अथवा निम्न स्तर के हों।

2—उन प्रकरणों का उल्लेख किया जाय जिन्हें समझने में विद्यार्थियों को कठिनाई हो।

3—उन प्रकरणों का उल्लेख किया जाय जो छात्रों के लिए रुचिकर हों तथा उनमें जिज्ञासा उत्पन्न करने वाले हों।

4—क्या पुस्तक बच्चों के उदात्त भावों को जागृत करने में सहायक है ?

अध्यापक के हस्ताक्षर

सारांश

पाठ्य-पुस्तक अध्यापन-कला का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यही शिक्षा की आधार-शिला है। संस्कृत पाठ्य-पुस्तकों की दशा दयनीय है। इसके पाठ या

---

1. प्रपत्र—ग

पुस्तक का नाम.....

विषय.....कक्षा.....

पाठशाला.....जनपद.....

क्रम संख्या	पाठ संख्या	पृष्ठ संख्या	अनुच्छेद	पंक्ति संख्या	विवरण

तो छात्रों के बौद्धिक स्तर से ऊँचे हैं अथवा उससे निम्न स्तर के। पाठ्य-क्रम अत्यन्त विस्तृत है। एतदर्थ तैयार किया गया निकष अपूर्ण रहता है। इन पाठ्य-पुस्तकों के लेखक भी विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक हुआ करते हैं जो प्रारम्भिक कक्षाओं के छात्रों के सम्पर्क में नहीं रहते हैं। फलतः इनमें प्रयुक्त भाषा भी क्लिष्ट हुआ करती है। इन पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशक भी इन छात्रों की ओर से उदासीन रहते हैं। अतः इनका प्रकाशन भी उच्च स्तर का नहीं होता है। इनमें प्रयुक्त चित्र भी प्रभावोत्पादक नहीं होते हैं।

इनकी रचना करते समय गद्य को प्राथमिकता दी जाय। बीच-बीच में पद्यों का भी पुट हो। वाक्य छोटे और सरल हों। पाठ छात्रों के वातावरण से सम्बद्ध विषयों से संबन्ध रखने वाले हों। इनमें प्रयुक्त भाषा छात्रों के बौद्धिक-स्तर के अनुकूल हो। इनमें ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाय जो उनके दैनिक जीवन में व्यवहृत होते हों। इसके लिए बेसिक अंग्रेजी की भाँति संस्कृत की भी शब्दावली तैयार की जाय। पाठों की रचना कक्षानुकूल शिक्षण-पद्धति के अनुसार की जाय। संस्कृत पाठ्य-विषयों का अन्य विषयों के साथ समन्वय हो। प्रत्येक पाठ में परस्पर पूर्व पर संबन्ध हो। पाठ इतने बड़े हों कि एक ही घण्टे में समाप्त हो जायँ। इनमें सुन्दर चित्रों का भी प्रयोग किया जाय। इनमें प्रयुक्त अक्षर काले हों।

इन पाठ्य-पुस्तकों के चयन हेतु योग्य समीक्षकों का चयन, उनके कार्यों का निर्धारण, इनकी समीक्षा के निमित्त पर्याप्त समय, समीक्षकों के लिए उचित पारिश्रमिक का प्रबन्ध, तथा विशेषज्ञों की कमेटी द्वारा अन्तिम निर्णय किया जाय। इसके निमित्त प्रपत्र क, ख और ग का प्रयोग किया जाय।

प्रश्न

1. वर्तमान शिक्षण-पद्धति में संस्कृत-पाठ्य-पुस्तकों की उपादेयता का विशद विवेचन कीजिए।
2. संस्कृत की वर्तमान पाठ्य-पुस्तकों की दयनीय दशा पर एक विस्तृत निबन्ध लिखिए।
3. संस्कृत-पाठ्य-पुस्तकों के चयन-सिद्धान्तों की विशद व्याख्या कीजिए।

अध्याय 22

मूल्याङ्कन अथवा परीक्षा-प्रणाली

प्रस्तावना

संस्कृत भाषा के विभिन्न अंगों की शिक्षण-विधियों एवं इनके शिक्षण के उद्देश्यों का विवेचन कर लेने के पश्चात् इनकी मूल्याङ्कन अथवा परीक्षा-प्रक्रिया पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के निमित्त शिक्षक और शिक्षार्थी कुछ क्रियाएँ करते हैं। शिक्षक इन क्रियाओं के माध्यम से शिक्षार्थी के व्यवहार में वाञ्छित परिवर्तन लाना चाहता है। वह उसे प्रेरित तथा प्रोत्साहित करना चाहता है। वह उसकी विषयगत कठिनाइयों की जानकारी प्राप्त कर उन्हें दूर करने का उपाय करता है। परीक्षा शैक्षिक प्रगति का मापदण्ड है जिसके अनुसार समय-समय पर बालकों का वर्गीकरण और उनकी कक्षोन्नति होती रहती है। इससे बालकों की क्षमता तथा रुचि का भी पता लग जाता है जिसके आधार पर उपयुक्त व्यवसाय की शिक्षा देने की व्यवस्था की जाती है। शिक्षक द्वारा की गयी सभी क्रियाओं की सफलता तथा संस्कृत शिक्षण के उद्देश्य की प्राप्ति भी इसी पर निर्भर करती है। इसलिए इसका मूल्याङ्कन करना अत्यन्त आवश्यक है और यही कारण है कि मूल्याङ्कन शिक्षण-प्रक्रिया का एक प्रमुख अंग है।

पिछले पाठों में यह बात स्पष्ट कर दी गयी है कि भाषा शिक्षण के चार प्रमुख अंग है जो इस प्रकार हैं—

(1) सुन कर समझने की योग्यता प्राप्त करना।

(2) पढ़कर समझने की योग्यता प्राप्त करना।

(3) वाणी द्वारा अपने भावों को व्यक्त करने की क्षमता प्राप्त करना।

(4) लिखकर अपने भावों को व्यक्त करने की क्षमता प्राप्त करना।

परीक्षा इन्हीं अंगों की जाँच का माध्यम है। अतः यह इस तरह की हो कि इससे इनके कौशल की पूरी-पूरी जाँच हो जाय।

आधुनिक मूल्यांकन पद्धति के दोष

संस्कृत की प्रचलित मूल्याङ्कन पद्धति इस दृष्टि से दोष पूर्ण है। वस्तुतः हम पढ़ाने के लिए परीक्षा नहीं लेते हैं, अपितु परीक्षा के लिए पढ़ाते हैं। शिक्षण और परीक्षण दोनों में ही पाठ्य-पुस्तकें साधन के स्थान पर साध्य बन गयी हैं। परीक्षा के निकट इस बात का अटकल लगाया जाने लगता है कि अमुक प्रश्न महत्त्व का है। अध्यापक लोग अपने-अपने अनुभवों के आधार पर पुस्तक में आये हुए अवतरणों पर लाल-लाल रेखाएँ खिंचवाने तथा उनका उत्तर लिखवा कर उन्हें रटवाने में लग जाते हैं क्योंकि प्रश्न तथाकथित महत्त्व-पूर्ण स्थलों के ही आधार पर चुने हुए होते हैं जिन्हें तैयार कर छात्र इनका उत्तर देने में सफल हो जाते हैं और एतदर्थ प्रमाण-पत्र पाकर अपने कर्त्तव्य की इति-श्री समझ लेते हैं, किन्तु इससे इनके वास्तविक ज्ञान का सही-सही मूल्याङ्कन नहीं हो पाता है। छात्र इन स्थलों की भी अच्छी तरह तैयारी नहीं करते हैं। वे तो येन-केन प्रकारेण परीक्षा पास करना चाहते हैं और इसके लिए तथा इसमें अधिक से अधिक अंक प्राप्त करने के लिए हर तरह का कार्य करने के लिए तैयार रहते हैं। इसके लिए देवी-देवताओं की पूजा करना, उनकी मनौतियाँ मानना, परीक्षा के सम्भावित प्रश्नों के उत्तरों को रटना, परीक्षा के समय सहायता लेना, नकल करना, अध्यापकों की खुशामद करना, और सम्भव हुआ तो परीक्षक को किसी न किसी तरह से प्रभावित कर अत्यधिक अंक प्राप्त करना आदि अत्यन्त साधारण कार्य बन गये हैं। छात्र परीक्षा के दो-तीन मास पूर्व बाजारों में सस्ते किस्म के नोट्स को खरीद कर रात-दिन उनके आधार पर अपना विषय तैयार करने में लग जाते हैं। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि वे बीमार पड़ जाते हैं और उनका स्वास्थ्य खराब हो जाता है। वे रात-रात भर बैठ कर तरह-तरह की पूर्जी तैयार करते हैं और उनके सहारे परीक्षा भवन में नकल कर उत्तीर्ण होना चाहते हैं। उनके ऐसा करने पर जब कक्ष-निरीक्षक उन्हें टोकते हैं तो वे उन पर घातक प्रहार कर उन्हें भी अपना कर्त्तव्य करने से विमुख कर देते हैं। इन कक्ष-निरीक्षकों की सुरक्षा के लिए पुलिस की व्यवस्था की जाती है और विद्यालय के आस-पास धारा 144 लागू कर दी जाती है। केन्द्र व्यवस्थापक को मजिस्ट्रेट का अधिकार दे दिया जाता है; किन्तु इससे भी समस्या का समाधान नहीं हो पाता है।

इस संबन्ध में पूज्य विनोबा जी ने कहा था कि "पुरानी तालीम पर इतने आक्षेप किये गये हैं कि मेरे लिए किसी ने कुछ बाकी नहीं छोड़ा है। लेकिन इसका

बुरा से बुरा चित्र तो मेरे सामने उस समय खड़ा होता है जब हमारी परीक्षाएँ ली जाती थीं। उस समय हम पर देख-रेख के लिए निरीक्षक रखे जाते थे ताकि विद्यार्थी चोरी से एक दूसरे की नकल न करें। मुझे दुःख होता था कि अगर हमारे बारे में पहले से ही यह धारणा बना ली गयी है कि हम चोरी कर सकते हैं तो विद्यार्थी के नाते हम पहले ही फेल हो गये। फिर हमारी परीक्षा लेने के लिए क्या बाकी रहा[1] ?"

इस परीक्षा पद्धति के अनुसार जिस प्रकार की परीक्षाएँ होती हैं, वे अधिकांश रूप में व्यक्ति निष्ठ होती हैं, विषय-निष्ठ कम। इनमें केवल निबन्धात्मक प्रश्न पूछे जाते हैं जिनसे केवल छात्र की स्मृति और उसकी लेखन शक्ति का ही परीक्षण हो पाता है। इनसे न तो उनकी शेष मानसिक शक्तियों का ही परीक्षण हो पाता है और न तो भाषा के ही शेष अंगों का। इसके लिए जिस ढंग से शिक्षा दी जाती है, जिस ढंग से परीक्षा ली जाती है और विद्यार्थी जिस ढंग से उसे ग्रहण करते हैं, वह बिलकुल गलत है। इसके कारण आज सारी शिक्षा ही निरर्थक हो गयी है और वह परीक्षा पास करने का साधन बन गयी है। पाठ्य-क्रम की पुस्तकों को छोड़ कर और भी कोई पुस्तक पढ़ने के योग है, यह बात छात्र नहीं जानते। वे तो विवश होकर बड़ी अनिच्छा से पाठ्य-क्रम की ही पुस्तकें पढ़ते हैं। वे तो इन पाठ्य-पुस्तकों के आधार पर लिखी गयी 'प्रश्नोत्तरी' को ही खरीदते और पढ़ते हैं। किन्तु दुर्भाग्य तो इस बात का है कि ऐसा करने पर भी वे उन्हें याद नहीं हो पाती हैं। वे इस तरह से किसी भी तरह की पुस्तकों (पाठ्येतर, पाठ्य-पुस्तकों अथवा प्रश्नोत्तरियों) से भी लाभ नहीं उठा पाते हैं। वे यह भी नहीं समझ पाते हैं कि परीक्षा में पूछे गये प्रश्नों के उत्तरों के गलत होने के कारण हमारी साल भर की मेहनत व्यर्थ हो जायगी, हमारा एक वर्ष का अमूल्य समय नष्ट हो जायगा तथा माता-पिता की गाढ़ी कमाई का दुरुपयोग हो जायगा।

इस परीक्षा पद्धति के अन्तर्गत छात्रों से पूछे गये प्रश्नों की रचना भी त्रुटिपूर्ण होती है। अधिकतर प्रश्न सूचनाओं एवं तथ्यों पर आश्रित होते हैं। जिनका कोई विशेष महत्त्व नहीं होता है। इनकी परीक्षा की अपेक्षा इनकी बुद्धिमत्ता से प्रयोग करने की क्षमता की परीक्षा अधिक आवश्यक है। इसके अतिरिक्त इन प्रश्नों के न तो एक उत्तर होते हैं और न तो सभी परीक्षक इनके

1. नयी तालीम—5 नवम्बर 1947 पृष्ठ 273।

लिए समान अंक प्रदान करते हैं। इनका उत्तर निश्चित न होने के कारण अंक-निर्णय परीक्षक के विवेक पर निर्भर करता है। फलतः एक ही उत्तर के लिए विभिन्न परीक्षक भिन्न-भिन्न अंक प्रदान करते हैं। यहाँ तक कि एक बार जब एक परीक्षक द्वारा लिखे गये एक आदर्श उत्तर की जाँच विभिन्न परीक्षकों द्वारा करायी गयी तो अंक-निर्णयों में बड़ी विषमता देखने को मिली। आदर्श उत्तर लिखने वाले उस परीक्षक ने भी उसी उत्तर पर दूसरी बार जाँच करने पर कम अंक प्रदान किया। इस प्रकार इस परीक्षा प्रणाली की सत्यता पर कोई विश्वास ही नहीं किया जा सकता। इसमें तो अवसर की ही प्रधानता रहती है। इसमें हम विभिन्न स्तरों के अनुकूल तथा छात्रों की रुचि एवं योग्यता के अनुसार परीक्षा-प्रश्नों में अन्तर नहीं रखते हैं अथवा इस ओर कम ध्यान देते हैं।

नवीन मूल्याङ्कन पद्धति

परीक्षा-पद्धति के उपरिलिखित दोषों को दूर करने के लिए इसे आमूल परिवर्तित कर देना आवश्यक है। परीक्षा एवं परीक्षणीय विषयों के शिक्षण उद्देश्यों में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इन्हीं की जाँच के लिए परीक्षा ली जाती है। इसलिए परीक्षा के सम्पूर्ण प्रक्रिया इसी के आधार पर निश्चित करनी चाहिए। इन उद्देश्यों की पूर्त्ति भी तभी सम्भव हो सकेगी जबकि छात्र तदनुरूप अपने व्यवहार में परिवर्तन लायेंगे। ऐसा करने के लिए पठन-पाठन की स्पष्ट रूपरेखा तैयार की जाय और एतदर्थ तत्सम्बन्धी लक्ष्य निश्चित किये जायँ जिनकी चर्चा "संस्कृत शिक्षण के उद्देश्य" नामक अध्याय में विधिवत् की गयी है। इन्हीं लक्ष्यों के आधार पर ही शिक्षकों और शिक्षार्थियों की शैक्षणिक क्रियाएँ निश्चित कर दी जायँ और इन्हीं क्रियाओं का मूल्याङ्कन किया जाय। इस नवीन दृष्टिकोण के अनुसार संस्कृत-पाठ्य-क्रम, संस्कृत शिक्षण पद्धति तथा परीक्षा पद्धति को एक इकाई के रूप में देखा जाय तथा इन्हें संस्कृत शिक्षण की सम्पूर्ण लड़ी की विभिन्न कड़ियाँ समझी जायँ। सच पूछा जाय तो परीक्षा के चार विशिष्ट अंग होते हैं जो इस प्रकार हैं—(1) उपयुक्ता, (2) सत्यता, (3) योग्यायोग्य छाँटने की क्षमता तथा (4) व्यावहारिक सुविधा। जहाँ तक उपयुक्तता का प्रश्न है, परीक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे केवल अभीष्ट वस्तु की ही जाँच हो। न तो परीक्षणीय विषय छूट सकें और न बाह्य विषय बाधा ही पहुँचा सकें। इसके प्रश्न विषय निष्ठ हों जिससे मूल्याङ्कन निष्पक्ष हो और उनके अङ्कन पर परीक्षकों के परिवर्तन का कोई प्रभाव न पड़ सके। यह इस

तरह की हो जो प्रत्येक बार वही परिणाम दे। ठीक तराजू की तरह हर एक बार वही तौल आये चाहे तौलने वाला व्यक्ति विज्ञ हो अथवा अनभिज्ञ। अच्छी परीक्षा वही होगी जिसमें परीक्षक के बदल जाने पर भी प्राप्ताङ्कों में कोई अन्तर न हो, उसकी सत्यता प्रमाणित हो जाय और बार-बार विभिन्न अवसरों, पदों आदि के लिए परीक्षा लेने की आवश्यकता न पड़े। इसके अतिरिक्त परीक्षा में योग्य, अयोग्य, साधारण आदि सभी प्रकार के बालकों को छाँटने की क्षमता भी हो। परीक्षा ऐसी हो जिसमें प्रत्येक प्रश्न का उत्तर निश्चित हो, परीक्षक भाषा, शैली लिखाई आदि से प्रभावित न हो, सम्पूर्ण पाठ्य-क्रम पर उचित अनुपात से प्रश्न हो तथा जाँच करने की क्रिया सरल हो। यह विषयनिष्ठ भी हो।

पाश्चात्त्य शिक्षाविदों ने वर्तमान दूषित परीक्षा प्रणाली से घबरा कर नवीन परीक्षा-प्रणाली का आविष्कार किया है। उन्होंने बालकों की रुचि, व्यक्तित्व, सहनशक्ति, क्रियाशक्ति, वृत्ति, मेधा आदि की जाँच के लिए क्रिया-परीक्षा, बुद्धि परीक्षा-ज्ञान, परीक्षा, स्मृति-परीक्षा आदि अनेक प्रणालियाँ निकाली हैं। इनमें निम्न प्रकार के प्रश्नों का समावेश है—

(1) प्रश्नोत्तर (अविकल्प तथा सविकल्प)।
(2) रिक्त स्थानों की पूर्ति।
(3) सत्यासत्य निर्देश।
(4) उचित क्रम में रखना।
(5) समरूपता।

प्रश्नों के स्वरूप

हम अध्यापकों को इनका उपयोग सावधानी से करना चाहिए। विभिन्न भाषावयवों की परीक्षा के लिए तथा थोड़े समय में अधिक से अधिक बातों की जाँच के लिए इस प्रणाली के उपयोगी तत्त्वों को ग्रहण कर लेना चाहिए। उपर्युक्त प्रश्नों के स्थान पर कभी-कभी 'अर्थ लिखो', विलोम बताओ, पर्याय लिखो, शीर्षक दो, विशेषण बनाओ आदि सीधे-सादे प्रश्न अधिक लाभप्रद सिद्ध होंगे। मुख्य बात तो परीक्षणीय वस्तु है, प्रश्नों का प्रकार नहीं। अतः हमें इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि किस प्रकार के प्रश्न किस स्तर के लिए, किस बात के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे, यथा छोटी कक्षाओं के लिए सन्दर्भ सहित संस्कृत में व्याख्या करने से सम्बद्ध प्रश्न कठिन होंगे। अतः बोध परीक्षा के

लिए यहाँ पर अन्य प्रकार के प्रश्नों का प्रयोग किया जाय। कुछ प्रश्नों के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

(क) वर्तनी सम्बन्धी प्रश्न

1. निम्नलिखित शब्दों को कोष्ठ में दिये हुए अक्षरों की सहायता से पूरा करो—

   (क) कनिष, ज्येष, इष, मुट्ी (ट या ठ)

   (ख) विभी···ण, तिर····कार, भा···कर, पो···क, अधिकां···, (श, ष या स)

2. निम्नलिखित शब्दों की अशुद्ध वर्तनी को शुद्ध करो—

   इक्षा, कृषी, वादाविवाद, दृष्य, चिन्ह, ब्रम्हा।

(ख) शब्द-भाण्डार-वृद्धि सम्बन्धी प्रश्न

(1) निम्नलिखित शब्दों के विलोम शब्द लिखो—

प्रत्यक्षम्, जयः, पण्डितः, सुरः, अजरः, प्रकाशः।

(2) निम्नलिखित शब्दों के दो-दो पर्यायवाची शब्द लिखो—

पण्डितः, प्रकाशः, हरिः, द्विजः, नीलकण्ठः, सुधाशुः, कमलम्।

(3) 'इक' प्रत्यय का प्रयोग कर निम्नलिखित शब्दों का विशेषण रूप लिखो—

नीति, भूगोल, शरीर, देह, धर्म।

(4) नीचे 'क' स्तम्भ में संज्ञा शब्द तथा 'ख' स्तम्भ में विशेषण शब्द दिये हुए हैं। प्रत्येक संज्ञा शब्द के लिए उपयुक्त विशेषण छाँट कर दोनों को 'ग' स्तम्भ में लिखो, यथा, सुन्दरी नारी।

क	ख	ग
नारी	सुन्दराणि	
कमलम्	एका	
पुष्पाणी	नीलम्	

(5) निम्नलिखित प्रत्येक शब्द की विशेषता बताने वाले कुछ वाक्य लिखे हुए हैं। ऐसे वाक्यों के सम्मुख उस शब्द को लिखो।

मिलम्, दार, अक्षत, लाज, देवता, आत्मा, दम्पती, द्वयम्, अप्सरस् ।

(1) संस्कृत में यह नपुंसक लिंग है किन्तु हिन्दी में पुलिङ्ग है (.....)

(2) संस्कृत में इनके रूप पुल्लिङ्ग और वहुवचन में चलता है (.....)

(3) संस्कृत में स्त्रीलिङ्ग किन्तु हिन्दी में पुल्लिङ्ग है (.....)

(4) इसका रूप द्विवचन में ही चलता है (.....)

(5) संस्कृत में यह नपुंसक लिङ्ग एक वचन में होता है, किन्तु हिन्दी में यह द्विवचन का द्योतक है (.....)

(6) इसका रूप स्त्रीलिङ्ग वहुवचन में चलता है (.....)

(6) निम्नलिखित शब्दों में से 'क' में उल्लिखित शब्दों के लिए प्रयुक्त दो पर्यायवाची शब्दों को छाँटकर स्तम्भ 'ख' और 'ग' में लिखो—
दन्तः, सिंहः, विष्णुः, पक्षीविशेषः, विप्रः, शिवः ।

क	ख	ग
हरिः		
द्विजः		
नीलकण्ठः		

(ग) शब्द रूप सम्बन्धी प्रश्न

1—निम्नलिखित शब्द रूपों में से शुद्ध रूपों के ऊपर (✓) का चिह्न लगाओ ।

सख्या, सखिना । भूपत्या, भूपतिना । नदीः, श्रीः ।

2—नीचे लिखे हुए शब्दों में से किन्हीं दो के चतुर्थी विभक्ति के रूप लिखो ।

लता, सर्व, दधि, पति ।

(घ) धातु रूप सम्बन्धी प्रश्न

1—निम्नलिखित धातुओं के लृट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन का रूप लिखो—

पा, स्था, दृश्, नी ।

2—निम्नलिखित धातुओं से प्रेरणार्थक क्रिया बनाकर उनका लट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन (परस्मैपद) में रूप लिखो।
गम्, दा, ब्रू, स्था।

(च) रिक्त स्थान पूर्त्ति सम्बन्धी प्रश्न

1—निम्नलिखित कोष्ठ-बद्ध शब्दों का प्रयोग कर अधोलिखित वाक्यों की पूर्ति करो—
—चरतः (धेनु)। —क्रीडतः (बालक)। —दहति (अग्नि)
—हरन्ति (चोर)। —पठन्ति (कवि)। —तिष्ठतः (नृप)
—निन्दन्ति (दुर्जन)। —प्रवहन्ति (नदी)। —हसतः (बालिका)

2—कोष्ठ बद्ध शब्दों का तृतीया विभक्ति में प्रयोग कर निम्नलिखित रिक्त स्थानों की पूर्ति करो—
वयं — क्रीडामः (कन्दुक)। यमुना ··· सह मिलति (गङ्गा)।
वयं — पश्यामः (नेत्र)। सः नरः — काणः (नेत्र)। —पुत्रः रक्षितः (पितृ)। अनुचराः·····आदिष्टाः (राजन्)। वक्ता—भूषितः (माला)।

(छ) विवेचनात्मक प्रश्न

निम्नलिखित श्लोकांशों की पूर्ति कर उनमें व्यक्त भावों की यथार्थता का विवेचन कीजिए।

1. तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते।
2. क्रिया ही वस्तूपहिता प्रसीदति।
3. यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधमः।

(ज) कहानी सम्बन्धी प्रश्न

"लम्बकूर्चः मूर्खः भवतिः"—इस कहानी को निम्नलिखित शब्दों के आधार पर लिखो—

लम्बकूर्चः, पुस्तकें, अपश्यत्, मुखरोमाणि, ह्रस्वानि, दीपशलाकया, अदहत्, वह्निः, मुष्ठिदेशम्, प्रसर्पति, करग्रहम्, अत्यजत्, दाढ़िकाबाला, भस्मीभूता, श्मश्रुः, विनष्टम्, आभणकस्य।

(झ) 'हाँ' अथवा 'नहीं' का प्रयोग कर अधोलिखित में 'सत्यासत्य' निर्देश कीजिए—यथा 'नीलकण्ठ' शब्द शंकर का पर्यायवाची है (हाँ)

1. 'हरिः' शब्द वानर का भी द्योतक है (·····)
2. 'द्विज' पक्षी को भी कहते हैं (·····)
3. 'कमलम्' तृतीया विभक्ति के एकवचन का रूप है (·····)
4. 'भूपति' का तृतीया के एकवचन में 'भूपत्या' रूप होगा (·····)

(ट) बहुविकल्पपदी प्रश्न

1. निम्नलिखित तथ्यों के संबन्ध में दिये गये तर्कों में जो सबसे उचित तर्क हो उसके सम्मुख (√) का चिह्न बना दो।

(क) भगवान् शङ्कर को नीलकण्ठ कहते हैं क्योंकि,

1. उन्हें आशुतोष कहा जाता है।
2. वे कैलाश पर रहते हैं।
3. उनके गले में साँप लिपटा रहता है।
4. उन्होंने अपने कण्ठ में विष को धारण किया है :
5. वे त्रिशूलधारी हैं।

(ख) पक्षी को द्विज कहते हैं क्योंकि,

1. वे आकाश में उड़ते हैं।
2. वे अण्डज हैं।
3. उन्हें खग कहते हैं।

(ग) श्रीकृष्ण को घनश्याम कहते हैं क्योंकि,

1. उन्होंने गिरि को उठाया था।
2. वे नन्द के पुत्र थे।
3. वे बादल के सदृश श्याम हैं।
4. वे राधावल्लभ हैं।

(घ) समुद्र को रत्नाकर कहते हैं क्योंकि,

1. उसका पानी खारा होता है।

2. उस पर रामचन्द्र जी ने पुल बाँधा था।

3. देवताओं ने उसका मन्थन किया था।

4. उससे चौदह रत्न निकले थे।

उपरिलिखित उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि नवीन वस्तुनिष्ठ प्रश्नों का प्रयोग संस्कृत की परीक्षाओं में भी किया जा सकता है। इससे अङ्कन सरल और निष्पक्ष हो जाता है। समय की भी बचत हो जाती है। इनमें प्रत्येक प्रश्न का उत्तर निश्चित होता है। परीक्षक को एतदर्थ इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता है। ये परीक्षण वैध और विश्वसनीय होते हैं। इनके उत्तरों में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं होती है। इनसे सम्पूर्ण पाठ्य-क्रम की परीक्षा थोड़े ही समय में ली जा सकती है। जो छात्र पहले थोड़े से ही प्रश्नों को रटकर परीक्षा उत्तीर्ण करना चाहते थे, उन्हें इन नये प्रश्नों का उत्तर देने के लिए वर्ष भर गहन अध्ययन करना पड़ेगा और इस प्रकार उन्हें सम्पूर्ण विषय का ज्ञान हो जायगा। किन्तु इन गुणों के होते हुए भी ये प्रश्न सर्वथा दोष रहित नहीं हैं। इन परीक्षणों में प्रश्न-पत्र आवश्यकता से अधिक लम्बे हो जाते हैं। इनकी रचना करने में परीक्षक को कठिन श्रम करना पड़ता है। इतना करने पर भी छात्र कभी-कभी इनका उत्तर अनुमान के ही आधार पर देते हैं। इनसे भाषा के सभी अंगों की परीक्षा नहीं हो पाती है।

नवीन परीक्षा-प्रणाली के गुण-दोष

ऐसी परिस्थिति में भाषा के प्रमुख अंगों अर्थात् मौखिक आत्म-प्रकाशन, पठन, लेखन आदि तथा संस्कृत भाषा की विशेषताओं को ध्यान में रखकर इसकी मूल्याङ्कन पद्धति का निर्धारण करना चाहिए। पिछले अध्यायों में इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि संस्कृत भाषा में शुद्धोच्चारण तथा पठन का क्या महत्त्व है? अतः इसका मूल्याङ्कन वस्तुतः दो प्रकार से किया जाना चाहिए—(1) मौखिक आत्म-प्रकाशन की परीक्षा, (2) लिखित परीक्षा। नवीन मूल्याङ्कन पद्धति में भी प्रथम परीक्षा की उपेक्षा की गयी है जो संस्कृत भाषा के लिए हितकर नहीं है। पहली तरह की परीक्षा द्वारा ही शुद्धोच्चारण, मौखिक आत्माभिव्यक्ति, तथा दूसरों के भावों को सुनकर उसे समझने की क्षमता का परीक्षण सम्भव हो सकता है।

संस्कृत की वास्तविक मूल्याङ्कन पद्धति

अतः इन बातों के परीक्षण हेतु हमें निम्नलिखित पद्धतियों का अनुसरण करना चाहिए—

(1) छात्रों से किसी गद्यांश अथवा पद्यांश का सस्वर पठन तथा उनके भावों को लिखित रूप में व्यक्त करने के लिए कहा जाय। इसके लिए अन्त्याक्षरी प्रतियोगिता, सस्वर पठन प्रतियोगिता आदि का आयोजन किया जाय। उनसे किसी विषय पर अपने भावों को सर्वप्रथम मौखिक रूप से तदन्तर लिखित रूप से व्यक्त करने के लिए कहा जाय। इस प्रकार उनकी मौखिक एवं लिखित दोनों प्रकार की परीक्षा हो जायगी।

(2) छात्रों को अध्यापक द्वारा बोले गये अंश का सारांश लिखने को दिया जाय। इससे उनकी संस्कृत समझने की योग्यता की जाँच हो जायगी।

(3) छात्रों से श्रुतलेख लिखवाया जाय और उन्हें उसका सारांश भी लिखने का आदेश दिया जाय।

(4) किसी कहानी को संस्कृत में सुनाने का आदेश दिया जाय और उसे पुनः दिये हुए संकेतों के आधार पर लिखने को कहा जाय। चित्रों के आधार पर भी कहानी कहलायी जाय।

(5) पाठ्य-पुस्तक के चुने हुए गद्य-खण्ड अथवा श्लोक का सारांश अपनी मातृभाषा में लिखने के लिए कहा जाय। इसके पाठों के आधार पर छोटे-छोटे प्रश्न पूछे जायँ जिनका छात्रों से संस्कृत में ही उत्तर लिखने के लिए कहा जाय।

(6) छात्रों से किसी विषय पर भाषण देने की आज्ञा दी जाय। इन उपायों के अतिरिक्त मौखिक आत्म-प्रकाशन वाले पाठ में उल्लिखित अभ्यासों द्वारा भी इसका परीक्षण किया जाय।

जहाँ तक लिखित परीक्षा की बात है, आधुनिक मूल्याङ्कन में इसी का बोल-बाला है। इनमें नवीन परीक्षा-पद्धति का प्रयोग किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त निबन्धात्मक परीक्षण का भी अनुसरण किया जाना चाहिए। इससे छात्र की शैली एवं लेखन शक्ति की परीक्षा हो जाती है। वस्तुतः लिखित परीक्षण में दोनों पद्धतियों अर्थात् वस्तुनिष्ठ एवं निबन्धात्मक पद्धतियों का समन्वय आवश्यक है। दोनों ही एक दूसरे की पूरक हैं।

सारांश

संस्कृत के मूल्याङ्कन पर भी ध्यान देना आवश्यक है। इसका मूल्याङ्कन करते समय आधुनिक दोषपूर्ण मूल्याङ्कन पद्धति का अनुसरण नहीं करना चाहिए। इस पद्धति के दोषों को दूर करने के लिए नवीन मूल्याङ्कन प्रणाली को अपनाना चाहिए। इसके अन्तर्गत रिक्त स्थान पूर्ति सम्बन्धी प्रश्न, बहु विकल्पपदी प्रश्न, समानता निर्देशक प्रश्न आदि का समावेश किया जाना चाहिए। इससे अंकन सरल और निष्पक्ष हो जाता है। फलतः परीक्षण वैध और विश्वसनीय होते हैं।

शुद्धोच्चारण, मौखिक आत्माभिव्यक्ति आदि के परीक्षण के लिए हमें किसी गद्यांश अथवा पद्यांश का सस्वर पठन, श्रुतलेख, लेखक, कहानी कथन आदि को भी परीक्षा लेनी चाहिए।

प्रश्न

1. मूल्याङ्कन की आधुनिक पद्धति का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. नवीन मूल्याङ्कन पद्धति के स्वरूप, गुण-दोष आदि का विशद विवेचन कीजिए।

परिशिष्ट

From

The Director of Education
Uttar Pradesh, Allahabad.

To

1. The Deputy Directors of Education, U. P.
2. The Inspector of Sanskrit Pathshalas, U. P. Banaras.
3. The Principal, Government Sanskrit College, Banaras.

No. G. II/70/XV-11/46 Dated September 27, 1951

Sir,

I have the honour to say that Sri Vijai Narain Choubey, Sanskrit Teacher, Husainabad, Government Higher secondary school, Lucknow is makaing a special study of the present statues of Sanskrit Education in India with special reference to mehrod of tcaching. He saw the Hon'ble minister of Education in this connection and H. M. E. deures that persons concerned maey be requested to give him the information vide questionnaire annexed herewith H. M. E. also feels that if this teacher is left to himself he will have no response. I would therefore ask that the required information may kindly be supplied direct to the teacher under intimation to this office.

Yours Faithfully

For Director of Eductation, U. P.

No. G.II/ /XV-11/48, Dated september 1951

Copy forwarded together with a copy of questionnaire for information to :—

1. Sri B. S. Singh, officer on special duty (Education) Uttar Pradesh, civil Secretariat, Lucknow with reference to his Memo no. OSD/LXXXIIX dated August 8, 1951.

Sri Vijai Narain Choubey, Sanskrit Teacher Husainabad, Government Higher Secondary school, Lucknow.

Sd : Illegible
For Director of Education
Uttar Pradesh.

•

QUESTIONNAIRE

Section A.

1. Number of Students studying Sanskrit in various classes of the schools.
2. Qualifications of Sanskrit teachers at different stages viz, at Primary stage, Junior and Higher Secondary Stage.
3. Methrod of Teaching sanskrit in schools.
   (a) Look and say method.
   (b) Direct Method.
   (c) Translation Method.
   (d) Phonetic Method.

(e) Any other Method.

4. Details of Sanskrit Primers and Readers as shown below :—

(i) Name of Author.

(ii) Title of book.

(iii) Publisher.

(iv) Year of Publication.

●

PATHSHALAS

Section B

1. Number of Students studynig sanskrit in various stages of Pathashalas.
2. Qualifications of Sanskrit Teachers of different stages. The number of trained and untrained teachers may be shown separately.
3. Method of Teaching Sanskrit at this stage.
4. Details of Sanskrit Primers and Readers as shown below :—

(i) Name of Author.

(ii) Title of book.

(iii) Publisher.

(iv) Year of Publication.

SECTION C

1. Are you satisfied with the present status of sanskrit Education yes or no. In case no, then for which of the following reasons.

(i) Type of Sanskrit Teacher.

(ii) Nature of Materials needed in teaching, (Primers and Readers).

(iii) Method of Teaching.

(iv) Stage at which sanskrit should be interoduced.

(v) Number of pupils.

2. Have you any suggestion to make in regard to the improvement of sanskrit education, specially with regard to its method of teaching.

●